रेडियो संग्रह

अंक १ त्रैमासिक वर्ष १

जुलाई सितम्बर, १९५३ आठ आने

परिचय

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—संस्कृत, हिन्दी और ज्योतिष के आचार्य, अध्यक्ष, हिन्दी विभा[illegible] काशी विश्वविद्यालय।

चिंतामणि बालकृष्ण राव, आई सी एस—हिन्दी के सुकवि, भारत सरकार के सूचना एवं [illegible] मन्त्रालय के उप-सचिव।

पं० सुन्दरलाल—प्रसिद्ध गांधीवादी, "भारत में अंग्रेजी राज्य" के लेखक, सम्पादक "नया हिन्द"।

आचार्य क्षितिमोहन सेन—सन्त साहित्य मर्मज्ञ, प्रिंसिपल, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन—सुयोग्य लेखक, कवि और पत्रकार।

डा० ए एस अल्तेकर—अध्यक्ष, प्राच्य भारतीय इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय।

सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी—नागपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष।

पं० भगवद्दत्त, बी ए—उच्च कोटि के वैदिक रिसर्च स्कालर।

स्वामी कृष्णानन्द सोख्ता—हिन्दी सेवी, मिली जुली संस्कृति के समर्थक।

जोश मलीहाबादी—नामवरी उर्दू कवि और विचारक, सम्पादक आजकल (उर्दू), दिल्ली।

रामचन्द्र वर्मा—मायाराष्ट्री हिन्दी कोष विज्ञान के विशेषज्ञ।

केदारनाथ सिंह—उदीयमान कवि, छात्र, काशी विश्वविद्यालय।

इन्दिरा गांधी—प्रधान मन्त्री नेहरू की सुपुत्री।

आचार्य काका कालेलकर—बहुभाषाविद्, गांधी दर्शन के व्याख्याता, पिछड़े-वर्ग कमीशन के अध्यक्ष।

मिर्ज़ा महमूद बेग—शिक्षा शास्त्री, प्रिंसिपल दिल्ली कालेज, हास्य वार्ताओं के लिये प्रसिद्ध।

सुमित्रानन्दन पन्त—हिन्दी के यशस्वी कवि।

हरिवंशराय 'बच्चन'—लोकप्रिय कवि।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—हिन्दी के राष्ट्रवादी एवं दार्शनिक कवि, संसद सदस्य।

मनोहरदास चतुर्वेदी—प्रसिद्ध शिकारी, इन्सपेक्टर जनरल ऑफ फॉरेस्ट्स, भारत सरकार।

डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय।

मैथिली शरण गुप्त—राष्ट्रकवि, राज्य परिषद् के सदस्य।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन—सुप्रसिद्ध बौद्ध हिन्दी सेवी।

बालकृष्ण—भारत सरकार के विधि मन्त्रालय में ऑफिसर ऑन स्पेशल ड्यूटी।

बनारसी दास चतुर्वेदी—हिन्दी के सुपरिचित लेखक और पत्रकार, राज्य परिषद् के सदस्य।

रामनरेश त्रिपाठी—हिन्दी के वयोवृद्ध कवि, लेखक और लोक गीत-मर्मज्ञ।

रामधारी सिंह 'दिनकर'—प्रमुख राष्ट्रीय कवि, राज्य परिषद् के सदस्य।

डा० श्रीकृष्ण सक्सेना—दर्शन शास्त्री, पब्लिकेशन्स डिवीजन के डिप्टी डाइरेक्टर।

डा० विश्वनाथ एस नरवने—लखनऊ यूनिवर्सिटी में राजनीति के प्रोफेसर।

प्रभाकर माचवे—मराठी भाषी हिन्दी साहित्यिक।

आर एल शर्मा—संस्कृत प्रोफेसर, दोआबा कालेज, जालन्धर।

रज़िया सज्जाद ज़हीर—लखनऊ के एक प्रसिद्ध राष्ट्रवादी परिवार की सिद्धहस्त उर्दू कहानी लेखिका।

धमलाल सिंह—बिहार के कृषि विशेषज्ञ।

डा भीखनलाल आत्रेय—काशी विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र विभाग के अध्यक्ष।

चारु देव शास्त्री—संस्कृत प्रोफेसर, डी ए वी कालेज, जालन्धर।

हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय—स्व० सरोजिनी नायडू के भ्रातदर्शी भाई, मनीषी साहित्यिक, संसद सदस्य।

विश्वम्भर नाथ पांडे—प्रयाग के कांग्रेसी नेता, कवि और लेखक।

डा० रामकुमार वर्मा—सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि और नाट्यकार।

महादेवी वर्मा—उत्कृष्ट छायावादी कवयित्री।

प्रो० लालजीराम शुक्ल—मनोविज्ञान सम्बन्धी प्रसिद्ध हिन्दी लेखक।

रेडियो संग्रह

जुलाई—सितम्बर, १९५३

विषय-सूची

रेडियो संग्रह का उद्देश्य विशेष महत्व की उन उपादेय, शिक्षाप्रद, मनोरंजक एवं ज्ञानवर्धक वार्ता, कविता आदि का संकलन करना है, जो भारतीय आकाशवाणी द्वारा प्रसारित की जाती हैं। इस संग्रह में वार्ता आदि पूरी तरह उसी रूप में नहीं दी गई जिस रूप में कि वे प्रसारित हुई हैं, क्योंकि भाषण और लेखन शैली में भिन्नता तथा सीमित स्थान होने के कारण उन में थोड़ा बहुत संशोधन एवं परिवर्तन आवश्यकीय है।

इस संग्रह में व्यक्त किये गये विचारों की जिम्मेदारी प्रकाशकों पर नहीं है।

रेडियो संग्रह के वार्षिक चन्दा, और विज्ञापन की दर के विषय में निम्न-लिखित पते पर पत्र-व्यवहार करें —

डिस्ट्रिब्यूशन आफिसर, पब्लिकेशन्स डिवीजन, मिनिस्ट्री ऑफ इन्फर्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली—८

सम्पादक—शंकर गौर

मंत्रों की मधुमती भूमिका : सविता

हजारीप्रसाद द्विवेदी

वेद हमारी सभ्यता के मूल उत्स है, हमारी समृद्ध ज्ञान परम्परा के आदि उद्गम है और हमारे प्रत्येक उत्थान के सनातन प्रेरक है। न जाने कब से इस देश मे समस्त ज्ञान विज्ञान का मूल उद्गम स्रोत वेदों को ही माना जाता रहा है। आज भी इस नाम का प्रभाव ज्यों का त्यों है। दुर्भाग्यवश इस प्रेरणा और स्फूर्ति के आश्रय का अध्ययन अध्यापन इस समय कम हो गया है। आज विवाह और श्राद्ध आदि के अवसर पर ही कुछ वैदिक मत्रों को जैसे-तैसे पढ देने की व्यवस्था बच रही है। साधारण हिन्दू वेद के विषय में बहुत कम जानता है। यह तो कहना ही बेकार है कि ज्ञानहीन श्रद्धा बहुत अच्छे रास्ते नही ले जाती। वही श्रद्धा वस्तुत कल्याण-कारिणी होती है जिसके आगे आगे ज्ञान का आलोक हो। शुद्ध और पवित्र बुद्धि द्वारा चालित श्रद्धा ही मनुष्य को कल्याण के मार्ग की ओर ले जाती है।

हमारे पूर्वजो ने इस तत्व को समझा था। सारे वैदिक साहित्य मे से चुनकर उन्होने एक मत्र ऐसा निकाल लिया था जिसे वे वेदो का सार समझते थे। सब कुछ भूल जाने पर भी आस्तिक हिन्दू उस मत्र को नही भूल सका है। यह मत्र साधारणत 'गायत्री मत्र' के नाम से प्रचलित है। इस की महिमा बताने के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस गायत्री को परवर्ती हिन्दू शास्त्र 'वेदमाता' कहकर स्मरण करते है। आज भी आस्तिक हिन्दू वेद के बारे में और कुछ जाने या न जाने, गायत्री मत्र सीख लेने के लिए अवश्य व्याकुल रहता है। लेकिन गायत्री तो एक छद का नाम है। इस छद मे वेद के अनेक मत्र लिखे गए हैं। प्रसिद्ध गायत्री मत्र वस्तुत 'सविता' देवता की स्तुति है। इन्हीं सविता देवता के बारे में आज हम अपने विचार आपकी सेवा मे निवेदन करने जा रहे है। इनकी महिमा का अन्दाजा तो आप इतने से ही लगा

सकते हैं कि समूचे वैदिक साहित्य का सार तत्त्व मानी जाने वाली 'वेदमाता' गायत्री इन्हीं की स्तुति है। सविता देवता वेद के प्रधान देवता है। इनकी स्तुति के लिये लिखे हुए पवित्र मंत्र का जप नित्य ही आस्तिक हिन्दू किया करता है। परन्तु इस मंत्र का अर्थ क्या है? मंत्र का सीधी भाषा में यह अर्थ है कि मैं सविता देवता के उस श्रेष्ठ तेज का ध्यान करता हूँ जो हमारी बुद्धि को नित्य प्रेरणा देता रहता है। जो बात यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है वह यह है कि 'वेदमाता' हमें नित्य ही सविता देवता के उसी तेज का ध्यान करने को कहती है जो हमारी बुद्धि को प्रेरणा देना है, जो हमारी श्रद्धा के आगे ज्ञान का आलोक रता रहता है। इस सविता देवता की चर्चा वैदिक साहित्य में जहाँ-कहीं आती है वहीं वह बुद्धि और मन के प्रेरक बताये गये हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के प्रथम मंत्र में ऋषि ने प्रार्थना की है कि सविता देवता मन और बुद्धि को युक्त करते हुए अग्नि से तेज संग्रह करके हमें इस योग्य बनावें कि जगत का वास्तविक रहस्य समझने के लिये हम स्थूल पृथ्वी से ऊपर उठें

युञ्जान प्रथम मनस्तत्वाय सविता धिय।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत॥

जब तक मनुष्य स्थूल जडपदार्थ के आकर्षण में फँसा हुआ है तब तक वह मानव जीवन के वास्तविक रहस्य को नहीं समझ सकता। सविता देवता मनुष्य को उसी रहस्य की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा देते हैं। आप के मन में निश्चय ही यह जिज्ञासा उठ रही होगी कि यह सविता देवता कौन हैं जिनका श्रेष्ठ तेज हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे रहा है। उपनिषद् ने कहा है कि जब न दिन था न रात थी, न सत् था न असत् था • केवल शिव ही शिव केवल मंगलमय कल्याणमय महा देवता ही विद्यमान थे, उसी समय से सविता देवता का वह श्रेष्ठ तेज है, वह अक्षर है, अविनाशी है। सविता देवता के उसी वरणीय तेज से पुरानी से पुरानी ज्ञानधारा का आविर्भाव हुआ है •

यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रि•••
न सन्न चासच्छिव एव केवल।
तदक्षर तत्सवितुर्वरेण्य
प्रज्ञा च तस्मात प्रसृता पुराणी।

ऊपर-ऊपर से देखने वाले को यह मन्त्र पहेली जैसा सुनाई देगा। परन्तु थोड़ा ध्यान से देखा जाये तो इसका रहस्य समझ में आ जायेगा। 'सविता' शब्द का अर्थ है उत्पन्न करने वाला या प्रेरणा देने वाला। इस शब्द का विशुद्ध आधिभौतिक अर्थ सूर्य है। सूर्य अर्थात् ग्रहमंडली के केन्द्र में रहकर समूचे सौरजगत को जड आकर्षण की अङ्गुलि पर नचाने वाला तेज पुञ्ज विराट् नक्षत्र विशेष। इस सूर्यमंडल के चारों ओर ग्रहमंडली उसी प्रकार घूम रही है जिस प्रकार सर्कस के निपुण खिलाडी के इशारे पर घोडे चक्कर लगाया करते हैं। हमारी पृथ्वी भी इस घूमने वाली मंडली की एक सदस्या है। न जाने कब यह पृथ्वी सूर्यमंडल से टूट कर उसके चारों ओर चक्कर लगाने लगी थी। वैज्ञानिकों ने बताया है कि यह पृथ्वी सूर्य का एक खण्ड है। पृथ्वी ही क्यों, सभी ग्रह सूर्य की देह के ही टुकडे हैं। लाखों वर्ष तक इस पृथ्वी का ऊपरी खण्ड ठंडा होता रहा है, ठंडा होने की अवस्था में भी लाखों वर्ष तक इसके ऊपरी परत पर तप्त धातुओं के तरलीभूत रूप की लहरादेह वर्षा चलती रही और अन्त में पृथ्वी जीव के वास योग्य हुई है। कोई नहीं जानता कि कब इस पृथ्वी पर जीवकण ने अपने आप को प्रकट किया। विशुद्ध आधिभौतिक व्याख्या है कि जीव कण कहीं बाहर से नहीं आया। पृथ्वी में जो कुछ है उसी में कुछ खास तत्त्वों के खास ढंग से मिल जाने पर यह परम रहस्यमय जीवतत्त्व उत्पन्न हुआ है। इसी ने क्रमश विकसित होते हुए मन और बुद्धि को विकसित किया है। इस प्रकार विशुद्ध आधिभौतिक दृष्टि से विचार करें तो मनुष्य की बुद्धि मूल रूप से सूर्य का ही क्रम विकास है। उसी से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। पृथ्वी से जीव उत्पन्न हुआ है। प्राण से मन मन से बुद्धि • यही

क्रम है। इस प्रकार यदि विशुद्ध आधिभौतिक दृष्टि से भी देखें तो जब गायत्री मंत्र सविता देवता का ध्यान हमारी बुद्धि के प्रेरक के रूप में करने को कहता है तो वह वस्तुतः समूची सृष्टि परम्परा के ध्यान करने का रास्ता दिखाता है। इस ध्यान से हम सहज ही समझ सकते हैं कि इस ब्रह्मांड के प्रत्येक कण से हमारा योग है, हम अलग नहीं हैं, हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व ही साबित करता है कि हम भूमा के अंग हैं। सविता देवता का यह ध्यान कैसी अद्भुत महिमा से मंडित है! परन्तु उपनिषद् के ऋषि हमें आधिभौतिक अर्थ की ओर ले जाकर ही छोड़ नहीं देते। यह ठीक है कि यदि विशुद्ध आधिभौतिक दृष्टि से भी देखा जाये तो भी, जब दिन-रात नहीं थे तब भी सविता का वरेण्य तेज वर्तमान था क्योंकि दिन रात तो तब होने लगे जब पृथ्वी सूर्यमंडल से टूट कर चक्कर लगाने लगी। सविता देवता, अर्थात् सूर्य तो तब भी थे और उनका श्रेष्ठ तेज भी जहाँ का तहाँ था और प्रज्ञा विकास भी उसी से हुआ। लेकिन ऋषि का तात्पर्य इतने से ही नहीं है। यह जो विराट् तेज पुंज सूर्य है वह अपने आप में सत्य नहीं है। यह किसी और के तेज से तेजस्वी है, किसी और के बल से बलवान है। यह जो तेज का प्रचंड मंडल है उसके भीतर वह परम पुरुष है जो सबको शक्ति देता है। सूर्य उसी के बल से सूर्य है, अग्नि उसी के बल से अग्नि है, वायु उसी के बल से वायु है।

ऋषि ने इसी प्रेरणादायक परमपिता को सम्बोधन करके कहा है हमारे पिता, हमारे समस्त दुरित को, समस्त कलुष को दूर करो और हमें उसी दिशा की ओर ले चलो जो कल्याणकर है। तुम समस्त मंगलों के जनक हो, आकर हो, उद्भव हो, तुम कल्याणरूप हो। हमारी प्रणति स्वीकार करो। विश्वानि देव सवितर् दुरितानि परासुव।

—लखनऊ से प्रसारित

कल के गीत न गाओ आज

बालकृष्ण राव

कल के गीत न गाओ आज!
कल के सूख सुमनों से मत
फिर जयमाल बनाओ आज!
गत रजनी के स्वप्नों की निधि
जीवित क्यों न रहे बन कर सुधि?
जग की भावशून्य जागृति में—
उसे न यों बिखराओ आज!
पल पल पर पग धर बढ़ बढ़ कर
खड़ा हुआ जग के ल शिखर पर,
इस क्षण को क्षणभंगुरता का
उसे न ध्यान दिलाओ आज!
कल की करुणा छिपी शान्ति में
खोया है उल्लास भ्रान्ति में
नव अश्रु से, नव हास से
जग का जी बहलाओ आज!

—दिल्ली से प्रसारित

गांधीजी की देन

सुन्दर लाल

अंग्रेजी राज में भारत को आज़ाद कराने की कोशिशों का सूत्रपात हमें १८ वीं सदी के आख़िर में सबसे पहले हदर और टीपू की कोशिशों में मिलता है। वे कोशिशें नाकाम हुईं। उसके बाद सन् १८५७ की आज़ादी की मशहूर लड़ाई आती है। यह भी असफल रही। १९वीं सदी के आख़िर में सरहद पर मुसलमान जानिसारों की तहरीक और पंजाब में कूकों की बगावत का ज़िक्र मिलता है। वे भी कोई ख़ास नतीजा पैदा न कर सकीं। १९वीं सदी के आख़ीर में शायद कोई भी छोटा या बड़ा हिन्दुस्तानी यह सपना देखने का साहस न कर सकता था कि यह मुल्क कभी भी अंग्रेजों के पंजे से आज़ाद हो सकेगा। २०वीं सदी के शुरू में बंगाल के दो टुकड़े हुए जिससे भारत की सोई हुई आत्मा को एक गहरी ठेस लगी। आज़ादी के कुछ नये मतवाले इधर-उधर दिखाई देने लगे। रूस-जापान युद्ध के नतीजे से उनकी हिम्मत और भी बढ़ी। पर उस समय के देश-भक्तों के सामने मिसालें थीं इटली, आयरलैंड और रूस के आज़ादी के संग्रामों की। बम, रिवाल्वर, गुप्त हत्याओं और राजकाजी डाकों के सिवा उन्हें कोई और उपाय न सूझता था। हाँ, उनके साथ अंग्रेजी माल के बाईकाट की थोड़ी बहुत कोशिश भी थी। लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय और अरविन्द बाबू उस आन्दोलन के ख़ास नेता थे। इन तरीक़ों से देश में कुछ बेदारी पैदा हुई, अंग्रेज़ हाकिमों की अकड़ को भी कुछ धक्का लगा, पर चार-पांच वर्षों के अन्दर ही साफ़ दिखाई दे गया कि इन तरीक़ों से देश को आज़ाद करा सकना बिल्कुल नामुमकिन था। १९१५ के आसपास का समय, यानी महात्मा गांधी के दक्खिन अफ्रीका से भारत आने का समय, आज़ादी की कोशिशें करने वालों के लिये गहरी निराशा का ज़माना था। जेल से लौटने के बाद लोकमान्य तिलक को कोई आगे की राह न सूझती थी। लाजपतराय का दिल टूट चुका था। अरविन्द राजकाज से अलग होकर योग में अपना दिल लगा चुके थे।

महात्मा गांधी ने कुछ दिनों देश की हालत देखने और समझने के बाद अहिंसात्मक असहयोग और सत्याग्रह के नये तरीके और लड़ाई के नये ढंग देश के सामने रखे। खेड़ा और चम्पारन में दो छोटे, लेकिन नये ढंग के तजुर्बे हुए। आज़ादी के मतवालों का ध्यान उस तरफ़ खिंचा। पहले महायुद्ध ने लोगों के अन्दर आज़ादी की प्यास को और ज़्यादा भड़काया। अंग्रेज़ हाकिमों ने रौलट ऐक्ट जैसे अन्यायी कानूनों के जरिये नई उमंगों को कुचल डालना चाहा। महात्मा गांधी ने अपने सत्याग्रह यानी सिविल नाफ़रमानी के हथियार को और ज़्यादा तेज़ किया। सन् १९१९ में, बावजूद पंजाब के अत्याचारों और भयंकर दमन के, जाग्रति की वह ज़बरदस्त लहर सारे देश में दौड़ गई जिसे देखकर अंग्रेज़ हाकिम

एक बार घबरा गये। शायद इङ्गलैंड मन् १९१९ जैसी जबरदस्त हड़ताल.....जिसमें समझा जाता है कि दूर से दूर के किसी गाँव में भी कोई हल नहीं चलाया गया इस देश में उससे पहले या उसके बाद कभी नहीं हुई। पहली बार भारतवासियों को यह सूझा कि अगर वे केवल पक्का इरादा कर लें, अंग्रेज़ी कानूनों को मानने से इन्कार कर दें और अपनी बात निबाहने के लिये मिटने को तैयार हो जायें, तो दुनिया का कोई ताक़त उन्हें दबा नहीं सकती और बिना हथियार उठाये वे देश को विदेशी राज से आज़ाद कर सकते हैं। महात्मा गाँधी की इस देश को और सारी राजकाजी दुनिया को यह पहली बड़ी देन थी।

दुनिया की कोई भी पार्टी इस बात से इंकार नहीं कर सकती कि इंसानी समाज का आख़िरी ध्येय प्रेम, शान्ति और अहिंसा है, नफ़रत, लड़ाई, झगड़े और एक दूसरे की हिंसा नहीं। इसके बाद यह सवाल आता है कि अगर कहीं अन्याय या ज़ुल्म दिखाई दे तो हमें क्या करना चाहिये। गाँधी जी का यहाँ साफ़ कहना था कि किसी भी अन्याय या ज़ुल्म के सामने सर झुका देना या उसे चुपचाप सह लेना पाप और गलत है। फिर सवाल होता है कि उस अन्याय या ज़ुल्म का मुक़ाबला कैसे किया जाय? दुनिया के सामने, अभी तक आमतौर पर इसका एक ही तरीका रहा है, और वह हिंसा का तरीका है। गाँधी जी ने इसका मुक़ाबला करने का एक नया तरीका, यानी अहिंसा का तरीका सुझाया। वह इस तरीके को हिंसा के तरीके से ज्यादा अच्छा बताते थे। उनका यह भी कहना था कि इस रास्ते पर चलकर इंसानी समाज अपने आख़िरी ध्येय तक ज्यादा जल्दी और ज्यादा आसानी से पहुंच सकता है। इस देश की आज़ादी की लड़ाई में उन्होंने इसके कुछ नमूने भी दुनिया के सामने पेश कर दिये। गाँधी जी की यह साफ़ राय थी कि अन्याय का बिना मुक़ाबला किये उसे चुपचाप सह लेने की निस्बत उसका हिंसा से मुक़ाबला करना ज्यादा अच्छा है। कायरता को वह हिंसा से ज़्यादा बुरा मानते थे। उनकी अहिंसा में हिंसा के मुक़ाबले ज्यादा बहादुरी और ज्यादा कुरबानी की ज़रूरत पड़ती थी।

हमारे देश में गाँधी जी के राजकाजी लड़ाई के इन नये तरीकों ने थोड़े दिनों के अन्दर ही यह गहरा असर पैदा किया कि अंग्रेज़ी वायसराय लार्ड रीडिंग को कलकत्ते के अन्दर खुले जलसे में यह इक़बाल करना पड़ा —

"His programme came within an inch of success. I stood puzzled and perplexed."

यानी महात्मा गाँधी के प्रोग्राम की कामयाबी में केवल एक इंच भर की कसर रह गयी थी। मैं हैरान था और घबरा गया था।

अंग्रेज़ सरकार के तरकस में अब एक ही आख़िरी तीर बाकी रह गया था। वह था हिन्दू और मुसलमानों में फ़िरकापरस्ती की आग को भड़काना। सन् १९२३ में गाँधी जी के जेल में रहते जगह जगह साम्प्रदायिक दंगे हुए। शुद्धि और संगठन, तबलीग और तंज़ीम का बाज़ार, दोनों तरफ़ से गरम हुआ। एक बार गाँधी जी का और देश का सब किया-कराया ख़ाक में मिलता हुआ दिखाई देने लगा। जेल से लौटते ही उन्होंने देशवासियों को बताया कि देश की और इंसानी समाज की स्वस्थता के लिये इस तरह की साम्प्रदायिकता सबसे ख़तरनाक ज़हर है। इस ज़हर को देश के जिस्म से निकालने के लिये उन्होंने उसी समय से अनथक कोशिश की और आख़िर में इसी कोशिश में अपने प्राण दिये।

उन्होंने देश को और दुनिया को बताया कि नफ़रत धर्म नहीं है। धर्म प्रेम है और प्रेम ही ईश्वर है। दुनिया के सब अवतार पैगम्बर और तीर्थंकर और सब धर्म-पुस्तकें आदर की

हक़दार हैं। ऊपर के रीति रिवाजों की निस्बत हमे दिल की सफ़ाई, सचाई और किसी को पीड़ा न पहुँचाने के असूलों पर अधिक ध्यान देना चाहिये और सबके साथ प्रेम से मिलकर रहना चाहिये। गांधी जी के इन असूलों को 'सर्व धर्म समभाव' का नाम दिया जाता है। अपनी प्रार्थना के अन्दर उनका गीता, पुराण इन्जील, ज़िंद अवस्था सबको जगह देना और ईश्वर और अल्ला दोनो को उसका नाम मानना इसी 'सर्व धर्म समभाव' के असली रूप है। भारत को और इन्सानी समाज को गाँधीजी की यह दूसरी बडी देन थी।

गाँधी जी का यह 'सर्व धर्म समभाव' कोई नई चीज नहीं है। दुनिया के सब धर्म आचार्य और दुनिया की सब धर्म पुस्तकें यही उपदेश देती रही है। गलत और संकीर्ण ढंग की धार्मिक तालीम ने और अँग्रेजों की लिखी हुई इतिहास की दूसरी पुस्तकों ने मिलकर हमारे अन्दर अंधविश्वासों, आपसी नफ़रतों और ज़हरीले साम्प्रदायिक भावों को जन्म दिया और उभारा। मुल्क को इससे काफी नुकसान पहुँचा। यह ज़हर अभी तक देश के जिस्म से निकला नहीं है और जिस दिन भी हमारा राष्ट्रीय शरीर इस जहर से बिल्कुल पाक होगा, उस दिन इसका सबसे बड़ा श्रेय महात्मा गाधी की जिन्दगी और उनकी कुरबानी को ही मिलेगा।

महात्मा गाधी जनता के आदमी थे। वह सारी दुनिया की जनता को, सारे इन्सानी समाज को एक मानते थे। दुनिया की इस करोड़ों बल्कि अरबो जनता को ही वह "दरिद्रनारायण" कहकर अपना उपास्य देव मानते थे। आम जनता यानी सबके भले को ही वह सर्वोदय का नाम देते थे। उनका ख्याल था कि सच्चा अहिंसात्मक इन्सानी समाज गाँव के आज़ाद धधों को नष्ट करके बडी बडी मिलों के सहारे कायम नहीं हो सकता। गाधीजी सब मशीनो या मिलों के खिलाफ नहीं थे। साइन्स की अधिक से अधिक तरक्की के वह पूरी तरह तरफ़दार थे। लेकिन उनका यह भी कहना था कि जब तक हमारे गाँव आजाद और स्वावलम्बी न होंगे तब तक कौमो कौमो के बीच की लागडाट, लूट-खसोट और सल्तनत की प्यास मिट नहीं सकती और न जगों की सम्भावना दूर हो सकती है। इसीलिये बडी बडी मशीनो और झोपडो के उद्योग धन्धो दोनो मे एक मेल और बैठ बिठाव चाहते थे। उनका कहना था कि हमारी जिन्दगी की आये दिन की ज़रूरत की चीज़ें, ख़ासकर हमारा खाना और कपड़ा घरेलू धधों से ही तैयार होना चाहिये। बाकी बहुत सी चीजो के वह मशीनो से बनने के हक़ मे थे। मिसाल के लिये, कागज का बनाया जाना वह मशीनो से ही ठीक मानते थे। गाँधी-वाद या गाँधी जी के विचारो का यही ख़ास आर्थिक यानी माली पहलू है। दुनिया को महात्मा गाँधी की यह तीसरी बडी देन है।

इस देश मे भी अभी हमारे रानकाजी नेता गाधी जी के आर्थिक विचारो को ठीक-ठीक कद्र नहीं कर पा रहे है, लेकिन इस बात के लक्षण काफी मौजूद है कि इस तरह भी दुनिया के विचारवान् अर्थशास्त्रियों का ध्यान धीरे धीरे मुड़ता जा रहा है।

महात्मा गाँधी अपने ज़माने के इन्सानी एकता और शांति के सबसे बडे पुजारी थे। युद्ध को वह दुनिया से हमेशा के लिये मिटा देना चाहते थे। दुनिया की उस समय की मुसीबतों के उनके बताये हुए हल कोई अनोखे हल नहीं हैं, फिर भी वह हमें अभी बहुत आगे ज़माने की सूचना दे रहे है। दुनिया इस बात को समझेगी कि महात्मा गाँधी कोई कोरे आदर्शवादी या रजअत पसन्द प्रतिक्रियावादी या रिफ़ारमरी इन्सान नहीं थे, बल्कि अच्छे से अच्छे मानो मे इस ज़माने के एक ऊँचे दर्जे के विचारक, दुनिया के सच्चे हितचिन्तक, अमली सुधारक और एक बहुत बडे क्रान्तिकारी थे।

—इलाहाबाद से प्रसारित

गोपाल भांड

क्षितिमोहन सेन

हमारे देश में चार मसखरे काफी प्रसिद्ध हैं। बीरबल, मुल्ला दो पियाजा, गोपाल भांड और तेनाली रमण। मसखरी एक उच्च स्तर की कला है, उसे हीन दृष्टि से देखना उचित नहीं। साधारणतया भोजन में षट्रस की चर्चा की जाती है, किन्तु साहित्य में मन और बुद्धि के भोजन में आठ अथवा नौ रसों का उल्लेख मिलता है। साहित्य शास्त्र में हास्य रस का स्थान कम सम्मान के योग्य नहीं।

पुस्तकों की दुनियाँ में पुस्तकी पण्डित तो बहुत मिल सकते हैं, परन्तु सहज हास्य की सृष्टि कर सकने वाले व्यक्ति इतनी सरलता से नहीं मिलते। जहाँ पण्डित हार जाते हैं, वहाँ हास्य-रसिक हमें सहज ही रास्ता दिखा देते हैं।

इसी प्रसंग में हमें उन अपढ निरक्षर सन्त कवियों की याद आती है जिन्होंने ग्रन्थ-मत पाडित्य के भारयुक्त मानव को सहज पथ दिखाया। जिन सत्यों को संस्कृत जैसी महिमा-शालिनी भाषा में भी व्यक्त करना कठिन था, उन्हें इन सन्त कवियों ने सहज भाषा में जनता के जीवन तक पहुँचा दिया। कबीर ने इसीलिए कहा था—

"संसकिरत कूपजल कबीरा
भाषा बहता नीर ॥
जब चाहो तब ही बूडा
शान्त होय शरीर।

कहते हैं कि गोपाल भाँड बंगाल के अन्तर्गत नदिया (शांतिपुर) के रहने वाले थे। वे महाराज कृष्णचन्द्र के आश्रय में थे। अतएव गोपाल भांड अठारहवीं शताब्दी के व्यक्ति थे। उनका जन्म बडे गरीब परिवार में हुआ था। दरिद्रता के कारण वे शिक्षा नहीं पा सके, किन्तु उनकी सहज बुद्धि बडी तीव्र और प्रखर थी। इसी से जहाँ पण्डित हाथ टेक देते थे, वहाँ गोपाल भाँड आसानी से निर्णय कर दिया करते थे।

एक बार कृष्णचन्द्र की सभा में बाहर के एक पण्डित अन्य प्रान्त से पधारे। वे भारतवर्ष की अधिकांश प्रचलित भाषाएँ, यहाँ तक कि संस्कृत, फारसी, अरबी आदि प्राचीन भाषाएँ धारा प्रवाह बोल सकते थे। पण्डित जन यह स्थिर न कर सके कि मूलत उनकी मातृ भाषा क्या है? पण्डितों ने गोपाल भाँड की ओर ताका। गोपाल बोला—मैं तो भाषाओं का जानकार नहीं, किन्तु यदि मेरी प्रणाली के सम्बन्ध में मुझे आज़ादी दी जाय तो मैं पता लगा सकता हूँ कि उक्त पण्डित की मातृभाषा क्या है? निदान गोपाल को ही यह काम सौंपा गया। सब लोग सीढ़ी से उतर रहे थे। गोपाल ने पण्डित को एक ऐसा धक्का दिया कि वे बेचारे हठात् अपनी मातृभाषा में गाली देते हुए नीचे आ गिरे। पण्डितों ने चकित होकर पूछा, "इस व्यवहार का अर्थ?" गोपाल ने कहा—देखिए, तोते को आप राम राम और राधेश्याम सिखाया करते

है, वह भी सदा राम नाम सुनाया करता है। किन्तु जब बिल्ली आकर उसे दबोचना चाहती है, तो मुख से टें-टें के सिवाय और कुछ नहीं निकलता। आराम के समय अन्य सब भाषाएँ चल जाती हैं, किन्तु मुसीबत में मातृभाषा ही काम देती है।

गोपाल भाँड बड़ी उदार प्रकृति के व्यक्ति थे साम्प्रदायिकता से मुक्त। उनके तीन मित्र थे, एक शाक्त, गायक रामप्रसाद, दूसरे आशु गोसाईं नामक वैष्णव और तीसरे एक मौलवी। चारों मिलकर प्रायः ही मौज किया करते थे। किसी ने एक दिन गोपाल से पूछा—तुम चारों में मित्रता कैसे है? चारों के मुख तो चार भिन्न दिशाओं की ओर हैं। गोपाल बोले। यह हमारे गुरू की शिक्षा है। पूछा गया 'तुम्हारे गुरू कौन हैं?" गोपाल ने कहा—घर आना, दर्शन करा दूंगा। घर आने पर गोपाल ने अपनी चार गायें दिखाईं, जो चारों ओर से एक ही नाँद से भुआन खा रही थीं। गोपाल बोले ये रहे मेरे 'गोरू'। बँगला में "गोरू" गाय के अर्थ में व्यवहार होता है। इसी श्लेष के आधार पर गोपाल ने बता दिया कि ये चारों मित्र अलग अलग देवता के उपासक होकर भी वस्तुतः एक ही आनन्द के स्रोत से अपनी प्यास मिटाया करते हैं।

गोपाल भाँड धार्मिक बाह्याचार के समर्थक न होकर धर्म के मर्म को ही महत्त्व दिया करते थे। वे मानव धर्म को सर्वोपरि मानते थे। एक बार आसपास के अनेक हिन्दू और मुसलमान तीर्थयात्रा के लिए निकले। अधिकांश तीर्थयात्री सफलतापूर्वक यात्रा सम्पन्न करके लौटे और उनका काफी स्वागत किया गया। किन्तु एक मुसाफिर मक्का शरीफ जाते हुए आधे रास्ते से लौट आया और दूसरा हरद्वार जाते हुए आधे रास्ते से। गोपाल को जब इन दोनों के वापिस आने का वृत्तान्त मालूम हुआ तो उन्होंने उनकी अच्छी अभ्यर्थना की। लोगों ने आश्चर्य से पूछा कि यह क्यों? तो गोपाल ने कहा आप लोगों को मालूम नहीं कि इन यात्रियों को बिना तीर्थ तक पहुँचे ही परिपूर्ण पुण्य मिल गया है। मक्का शरीफ का मुसाफिर अपनी सारी पूँजी ख़र्च करके अपने बीमार सहयात्री की सेवा करता रहा। आने जाने के लिए उसके पास कुछ भी नहीं बचा। उसका हज्ज वहीं क़बूल हो गया। दूसरे यात्री ने हरद्वार पहुंचने से पहले ही किसी गाँव में पानी का कष्ट देख कर अपना सारा धन लगा कर जलाशय खुदवा दिया, और खाली हाथ घर लौट आया। इन दोनों तीर्थयात्रियों की यात्रा भगवान के दरबार में सार्थक मानी गई है। इसी लिए मैंने इन के स्वागत का आयोजन किया है।

नदिया शान्तिपुर में पण्डितों के दो दल थे, जिनमें हमेशा तर्क चला करता था, किन्तु कोई निष्पत्ति न हो पाती थी। पूछने पर गोपाल ने कहा कि मैं जानता हूँ निष्पत्ति क्यों नहीं हो पाती। लोगों ने पूछा—कैसे? गोपाल बोले – मैं प्रत्यक्ष दिखा दूंगा।

दिवाली की रात आई। गाँव में दो रामलाली ज़मींदार थे, जिन में काफी स्पर्द्धा थी। रात को काली पूजा के पश्चात जब एक पहर रात्रि शेष रह जाती थी, तब दोनों ओर के लोग पूजा का तिलक लगा कर दो नावों में कूद पड़ते थे और प्राणपण से नाव खेते थे। प्रातःकाल जब शंख बजता, तब जो नाव आगे होती, उसे प्रतिमा का स्वर्ण मुकुट प्राप्त होता। इस बार भी होड़ लगी थी। अमावस का गहरा अन्धकार। गोपाल ने माझियों को शराब पिला कर नशे में चूर कर रखा था। यथासमय डाँड चलनी शुरू हो गई और माझियों ने एड़ी चोटी का पसीना एक कर दिया। जब शंख बजा तो लोगों को चेतना हुई, किन्तु देखा गया कि नावें जहाँ की तहाँ बंधी हुई हैं, इतने परिश्रम के बावजूद भी घाट से आगे नहीं बढ़ीं। असल में गोपाल ने नावों की रस्सियाँ खोली ही न थीं। तर्क करने वाले दोनों सम्प्रदाय के लोग भी वहाँ उपस्थित थे, और सब हँस कर लोट पोट हो रहे थे। गोपाल ने गम्भीर हो कर कहा—हसने को

बात नहीं। आप लोगों की भी यही अवस्था है। शास्त्र के नशे में आप दोनों दल चूर हैं। तर्क के दाँव पेंच और शास्त्रार्थ की डौंड चलाई तो खूब हो रही है, किन्तु साम्प्रदायिकता के खूँटे से आप दोनों ही बँधे हैं, मुक्त कोई भी नहीं। यही कारण है कि तर्क में उलझे हुए हैं, किन्तु प्रगति नहीं हो पाती। जब तक आप संकीर्ण विचारों के बन्धन न तोड़ें, मीमांसा कैसे हो सकती है ?"

पास के किसी जमींदार ने गोपाल को एक बार अपने यहाँ भगवान् की झाँकी देखने के लिए बुलाया। गोपाल ने जाकर देखा कि पूजालय में पूजा का आयोजन है, किन्तु बाहर प्रजा पर अत्याचार हो रहा है। इस दृश्य को देखकर गोपाल को इतनी पीड़ा हुई कि वे पूजाघर में नहीं गए। पूछने पर गोपाल ने कहा, "यह पूजाघर नहीं, भगवान् का बन्दीगृह है। यहाँ थोड़ी सी जगह में भगवान क़ैद हैं, बाहर सर्वत्र शैतान की लीला चल रही है। तुम्हारे देवता जिन्हें तुमने घर में प्रतिष्ठित किया है, प्रेम के देवता नहीं। मैं तो मूर्ख आदमी हूँ—इतना ही समझता हूँ।"

एक बार किसी पण्डित ने गोपाल से पूछा, "अच्छा यह तो बताइए कि ब्रह्मा की पूजा का प्रचलन क्यों नहीं है, जब कि विष्णु और शिव की पूजा होती है ?" गोपाल ने कहा—"तुम्हारी भक्ति ही ऐसी है। विष्णु पालन करते हैं, इसलिए तुम उनकी उपासना करते हो। शिव संहार करते हैं, इसलिए डर के मारे उन्हें प्रसन्न रखते हो। ब्रह्मा ने जन्म दे दिया, फिर उनसे क्या गरज ? जब बच्चा हो गया, तो सूतिका को कौन पूछता है ? जब प्रेमिका मिल गई, तो दूतिका की क्या पूछ ? जब पार उतर गए, तो नाव से क्या प्रयोजन ? मतलब पर ही तो तुम्हारी भक्ति आश्रित है।"

कबीर के समान गोपाल ने देवता को मन्दिर मस्जिद में उपलब्ध नहीं किया था, मनुष्य के अन्तर में ही उन्हें पाया था। कबीर की वाणी "मोको कहाँ ढूंढता बन्दे ..." इत्यादि का सत्य गोपाल के जीवन में प्रत्यक्ष देखने को मिलता है। साधारणतया हमारा धर्म हमारे लोभ और भय को व्यक्त करता है—स्वर्ग का लोभ या नरक का भय। गोपाल की उपलब्धि इस आधार पर नहीं खड़ी थी। यहाँ फिर कबीर की वाणी याद आती है।

"अनजाने को स्वर्ग नरक है,
हरि जाने को नाहिं "

—दिल्ली से प्रसारित

मौत और मैं

मौत से मुझे नफ़रत है और मौत को भी यह बात मालूम है कि मुझे उससे नफ़रत है। यही वजह है कि वह मेरे पास आने में देर कर रही है। अभी वह बहुत देर तक मेरे पास नहीं आयेगी, क्योंकि मुझे उम्मीद है कि मैं बहुत बड़ी उम्र तक जिन्दा रहूंगा। कोई वजह नहीं कि मैं बहुत बड़ी उम्र तक जिन्दा न रहूं। मैं हँसता हूँ, काम करता हूं, गाता हूं, सपने देखता हूं। आकाश को देख कर खुश होता हूं। मजलूम तबक़े की उदास आँखों में आँखें डाल कर देखता हूं, और उनके लिये पूरे शद्दो मद से लड़ाई करता हूँ। जब जनता मुझसे मुतालबा करता है, मैं मैदान में कूद पड़ता हूं। मौत इन तमाम बातों से डरती है और इसलिये मेरे समीप आने से खौफ़ खाती है। मौत मेरी जिन्दगी के दरवाजे के बाहर इन्तजार करेगी, क्योंकि मैं मर नहीं सकता। मैं उस वक़्त तक नहीं मरूँगा जब तक कमिसनाना को लहलहाते हुए बागों की सूरत में न देख लूँ और लोगों की जिन्दगियों पर जो भारी साये पड़े हुए हैं, उन्हें खत्म होता न देख लूँ। बहर तौर, एक शायर और एक सिपाही की हैसियत से मैं हमेशा जिन्दा रहूंगा।

(हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय—दिल्ली)

कामाख्या की छाया में

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन

मेरी असम की डायरी मे कामाख्या की छाया कितनी कम है, इस पर कभी कभी मुझे स्वय आश्चर्य होता है। पर इसका कारण यह नहीं है कि मैं आसाम से देशाटन करना चाहने वाले विदेशी यात्रियों की भाति ऊपर ही ऊपर से दो चार उल्लेख्य स्थलो को छू कर उडनछू हो गया। इसका कारण इससे ठीक उलटा है। पिछली शतियो में कामाख्या का और उस तीर्थ, उस मन्दिर, उस देवी से सम्बद्ध विश्वासो का चाहे कितना महत्त्व रहा हो, इधर वह नगण्य है, क्योंकि असमिया लोग वैष्णव हैं, वह भी निराकारोपासक उनके धार्मिक जीवन का केन्द्र प्रत्येक गाँव का अपना अपना 'नामघर' होता है, और इनसे बाहर उनकी श्रद्धा का केन्द्र है तो माजुली द्वीप में विभिन्न वैष्णव गोस्वामियों का सत्र, जो वैष्णव सन्त शकर देव और उनके शिष्य माधव देव की परम्परा के रक्षक और व्याख्याता होते चले आये है। जो देश तान्त्रिक अभिचारो का अभेद्य दुर्ग था, जिसकी कीर्ति लोक गाथाओं तक मे फैली हुई थी, जहाँ की जादूगरनियाँ आदमियों को भेड बना कर रखा करती थीं, वहाँ इतना भारी परिवर्तन ले आने वाले शकर देव के सम्मुख श्रद्धा से झुक जाना स्वाभाविक ही है, इसलिए और भी स्वाभाविक कि शकर के ही समकालीन दूसरे महान् वैष्णव सन्त अपने अपने प्रदेश मे गहरा प्रभाव डालकर भी वहाँ की परम्पराओं को इतने आमूल रूप मे बदल नहीं सके।

लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि इस परिवर्तन का श्रेय बहुत कुछ असमिया चरित्र की विशेषता को भी है। यों तो असमिया का अर्थ अगर असम प्रान्त का रहने वाला मात्र न लेकर असमिया भाषा भाषी या असमिया जाति का भी लें तो भी उसके अन्तर्गत अनेक जातियों-वर्गों के लोग आ जाते हैं। नृ-तत्त्व शास्त्रियों की इस क्रीडा भूमि मे अगर अनेक जातियाँ निकट सम्पर्क में रहती पायी जाती हैं तो उनका काफी सम्मिश्रण भी पाया ही जाता है। फिर भी, अपनी यात्राओं के अनुभवो से मेरी यह धारणा निरन्तर पुष्ट होती गयी कि असमिया चरित्र एक विशिष्ट चरित्र है, और उसके मुख्य सूत्र सहज ही निरूपित किये जा सकते हैं।

असमिया सकोची किन्तु स्वाभिमानी, अजनबी से खिंचने वाले, पर परिचय हो जाने पर बड़े मिलनसार होते हैं। जीवन से उन्हें गहरा प्रेम है, पर महत्त्वाकाक्षा उनमें लगभग नहीं होती। जीवन के आस्वादो से विरत वे कदापि नहीं है, लेकिन उसके लिए किसी चीज पर लोभ वे नहीं करते। सक्षेप मे उनका जीवन दर्शन है 'मेरे पास धान के लिए अपना खेत है, मछली के लिए अपना पोखरा है, लौकी-कुम्हडे के लिए अपनी बेल, बाया बनाने के लिए अपना बाँसों का झुरमुट, म किसी की चीज़ पर मोह क्यों करूँ ?'' हम आप जीवन दर्शन क रूप में इसे स्वीकार करें या न करें, यह तो मानना होगा कि सुखी जीवन का यह अच्छा नुसखा है—

सुखी व्यक्तिजीवन का ही नहीं, एक सुखी समाज का भी। बहुत से लोग इस पर हँसते हैं और व्यंग्य करते हैं, क्योंकि असमिया किसी की चीज का लोभ न करने का अर्थ यह भी लगाते हैं कि मैं मेहनत क्यों करूँ ? असम के अनेकों चाय बगानों में लाखों मजदूर काम करते हैं, उनमें दर्जनों प्रदेशों और जातियों के लोग मिल जायेंगे, लेकिन असमिया लगभग नहीं मिलेंगे। कहा जा सकता है कि वहाँ मजदूरी की दर बहुत कम है, लेकिन युद्धकाल में जब और कोई व्यवसाय ही नहीं था, और बगानों में मजदूरी अधिक न होने पर भी सुविधाएं अनेक थीं जो अन्यत्र अच्छी नौकरी वालों को भी न मिलतीं, तब भी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। और उन्हीं दिनों सड़कें बनाने के जो महत् आयोजन किये गये थे, उनमें भी बगाल बिहार उड़ीसा की तो बात ही क्या, दक्षिण के मलाबारी और पश्चिमोत्तर के पठान तक आये, मगर असमिया नहीं । किसी ने मुझे कहा था, यहाँ घरेलू नौकर हैं नेपाली या बगाली, मज़दूर बिहारी या मद्रासी, छोटे काम करने वाले पजाबी या फिर गिरिजन गारो, निकिर, मीरी, इत्यादि। सच्चा असमिया तो बस पान खाता है, हँसता है, नामघर में कीर्तन करता है, अयन सक्रान्ति पर ढोल के ताल पर नाचता है और मिष्टान खाता है । मैं कभी कभी सोचा करता कि इनके यहाँ ढोड यानी पोस्तियों की जो कहानियां प्रचलित हैं वे यों ही नहीं, सचमुच ये बड़े आलसी होते होंगे, और इनके पुराने देवालयों और एतिहासिक राज प्रासादों के अन्दर गायें पगुराती और गोबर करती देख कर मैंने एक व्यंग्यात्मक कहानी भी लिख डाली थी "जब शेख चिल्ली आसाम गये"—पर वास्तव में उन्हें आलसी न कह कर आनन्दी ही कहना उचित है। हमारे साहित्य-कारों में अनेक जैसे अपने कमरों को मकड़ी के जाले और कचरे से भरा, किताबों को धूल से पटा और बिछावन को तेल से चीकट रख कर अपने आलस्य को फक्कड़पन का लुभावना नाम देते हैं, असमियों में आप वैसा नहीं पायेंगे। उनके नामघरों के भीतर ही नहीं, बाहर भी आप कहीं एक तिनका भी स्थान से च्युत न पायेंगे, उनके घर अत्यन्त साफ सुथरे और व्यवस्थित, आगन लिपे पुते या हरियाले, कपड़े सूती हों तो उजले और रेशमी हों तो साफ-सुथरे और तरतीब से पहने हुए । उनके जलाशय निरे जोहड़ या पोखर नहीं होते, बाकायदा चौरस किये हुए और बाँस के बाड़े से घिरे हुए ताल होते हैं, बड़े ताल चारों ओर बन्ध से घिरे होते हैं और सागर कहलाते हैं। कितने ही गवई गाव में चले जाइये, पीने के पानी के ताल पर आपको कपड़े धुलते या बर्तन मजते नहीं मिलेंगे, न धुलाई का पानी कभी ताल की ओर बहता हुआ मिलेगा, ताल की मछलियाँ उसे स्वच्छ रख रही होंगी, यों आप नल का या फिल्टर का या उबला हुआ पानी पीने के आदी हों वह दूसरी बात है।

मैंने अभी अभी सूती और रेशमी कपड़े की बात कही। असम में कपास लगभग नहीं होता, गारो पर्वतमाला में कुछ होता है पर घटिया किस्म का और छोटे तार का, फिर भी बुनाई वहाँ घर घर में होती है और कोई भी असमिया स्त्री ऐसी नहीं होती जो बुनना न जानती हो। असमियों में मैत्री या सौहार्द होने पर अँगोछा भेंट करने की प्रथा है। मेरे पास इनका अच्छा खासा सग्रह है और ये निरपवाद रूप से घर ही के बुने हुए होते हैं। बुनना न जाने, इससे बढ़ कर स्त्री के फूहड़पन का लक्षण नहीं हो सकता । असमिया लोग रग

स० ही० वात्स्यायन

बहुत कम पहनते हैं, रेशम के सहज सुनहले रंग के अलावा हल्का गुलाबी और हल्का आसमानी, ये दो रंग ही चलते हैं, और इस मामले में निकटवर्ती बंगाल से उनका वैभिन्य आश्चर्य-जनक है।

और रेशम-असम का विशिष्ट रेशम तो मुगा है, जिसका नैसर्गिक सुनहला रंग और टिकाऊ पन दोनों ही उल्लेख्य हैं, लेकिन इसके अलावा और भी अनेक प्रकार का रेशम वहाँ होता है। अब उसका निर्यात बहुत बढ़ गया है और इस लिए दाम भी काफी बढ़ गये हैं, लेकिन अब भी वहाँ काफी संख्या में ऐसे लोग हैं साधारण वित्त के भूमिदार जो अधिकतर रेशम ही पहनते हैं। एक समय था जब असम का मुख्य आयात नमक था और मुख्य निर्यात रेशम, दस हाथ की रेशमी साड़ी तब दस आने में मिलती थी।

लेकिन असमिया के आनन्दी स्वभाव की बात कह कर छोड़ देना अन्याय होगा। उससे भी बड़ा गुण है उसका धीरज, निरा भाग्यवाद नहीं जो पौर्वात्य स्वभाव का गुण माना जाता है, बल्कि एक अस्खलित आत्मविश्वासयुक्त सहिष्णुता, प्रकृति के योगायोग सुख-दुःख के आवर्तन के साथ वह एकात्मता, जिसे समदृष्टि कहा जा सकता है। मुझे याद है, बाढ़ के ज़माने में शिवसागर में एक नदी का बांध टूट जाने पर जो गाँव जलमग्न हो गये थे, वहां के तत्कालीन अधिकारी के साथ मैंने उनका दौरा किया, कहीं भी उद्विग्नता या रोना चिल्लाना नहीं था, एक जगह नीची सड़क पर पानी भर आया था, वहाँ मैं तो अपने जूते उतार कर पतलून की टाँगें चढ़ा कर पार हो गया पर हाकिम को वैसा करते सकोच हुआ तो एक तगड़े किसान ने हँस कर उन्हें कन्धे पर उठा कर वह जगह पार कर ली। हम लोग तो घूमघाम कर क्षति का अनुमान करते रहे और सोचते रहे कि सहायता के क्या क्या उपाय करने होंगे, पर स्थानीय लोग अपने अपने कामों में ऐसे रत थे मानों यह सकट भी उनके जाने पहचाने दैनन्दिन जीवन की एक घटना हो। बादल आये हैं तो बारिश होगी, बारिश होगी तो नदी चढ़ेगी, तो बाँध टूटेगा, तो घर डूबेंगे, फसलें सड़ेंगी, तो नया परिश्रम करना होगा और बाँस काट छील कर नये बासे बनाने होंगे-इस में थकान तो बहुत होगी पर तब तक आश्विन आ जायगा, फिर अयनोत्सव और विष्णु-वोत्सव होगा—असमिया 'बिहु' जब ढोल बजेंगे और नृत्य होगा, तो जीवन का कीच में फसा हुआ रथ फिर मुक्त होकर आगे चल पड़ेगा।

यही बात और भी स्पष्ट मैंने माजुली में देखी। लेकिन पहले यह बता दूं कि माजुली है क्या। यह ब्रह्मपुत्र के मझधार में एक बड़ा द्वीप है, मध्य स्थिति के कारण ही इसका नाम माजुली है। नदी का द्वीप क्या होगा भला, आप सोचेंगे, लेकिन इसकी लम्बाई जाड़ों में सत्तर और वर्षा में बाईस मील है, और चौड़ाई जाड़ों में लगभग ग्यारह और वर्षा में लगभग सात मील। यों वर्षा में बचे खुचे क्षेत्र के भी अधिकाश में पानी भरा हो वह दूसरी बात है। द्वीप की आबादी बाईस हज़ार के लगभग है। ससार में अपने ढंग का यह एक ही द्वीप है, नहीं तो नदी का ऐसा द्वीप किसने सुना है? यहां वैष्णवों के कई सत्र हैं शकरदेव तो गृहस्थ सत थे, और शिष्य माधवदेव को भी उन्होंने यही उपदेश दिया था किन्तु माधवदेव ने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था और उनके बाद से गोस्वामियों की परम्परा में भक्तगण ब्रह्मचारी होते हैं। आउ-नियाटी, दखिनपाट और गड़ामूर के सत्र प्रसिद्ध हैं। सत्रों और उनसे सम्बद्ध ज़मींदारियों के अलावा माजुली में मीरी जाति के कुछ गाँव हैं। माजुली का मध्य जोरहाट के सामने पड़ता है, वहीं से कोकिलामुख घाट और वहां से माजुली के मुख्य घाट कमला बाड़ी जाते हैं। नाव में लगभग चार घण्टे में पार हुये थे। माजुली मैं तीन बार गया, एक यात्रा जाड़ों में हुई, दूसरी वर्षा में, तीसरी बसन्त में, और तीनों के अनुभव बिल्कुल अलग अलग थे। समय इतना नहीं कि सब आपको बता सकूं पर बाढ़ में जब गया तब की छवि मन पर बड़ी गहरी है। जाड़ों में बड़ा आतिथ्य हुआ था, सत्राधिकारों का आतिथ्य

प्रसिद्ध है—पर बरसात में द्वीप नाम को ही था, कमलाबाड़ी के मेखलात् दूसरे सिरे तक बनी हुई ऊँची पटरी की सड़क ही 'भूमि' नाम के लायक थी, और सारे द्वीप के ढोर डाँगर इसी पर जमा थे। ढोर डाँगर ही नहीं, द्वीप के जगली प्रदेश के वन्य पशु भी लोमड़ी और सयार, बन्दर और बाघ, और हाँ जगली चूहे और साँप भी–मानो पचतन्त्र का युग आ गया हो–मानो पगुराती हुई कोई भैंस अभी भारी स्वर में 'भो ब्राह्मण' कह कर सम्बोधन कर उठेगी। और मानव ? मैंने देखा कि गाँवों ने अपने अपने मचान बना रखे हैं, जहाँ लोगों को रक्षा के लिये पहुँचाया जाता है–सहकारिता के इस आयोजन मे सब पहले से निश्चित है कि कौन क्या करेगा, कहाँ टिकेगा और मानो यह भी निश्चित सा है कि बाघ कितने ढोर उठा ले जायेंगे, या किसानो को घायल करेंगे, या साँप कितनों को डसेंगे। अनिश्चय थोड़ा सा है तो इस बारे मे कि उन कितनों में अमुक होगा या अमुक। घर घर मे मलेरिया था, और क्योंकि गाँवों में राजनैतिक जागृति थी इसलिये राशन मे तेल और नमक बन्द कर दिया गया था, मैं जहाँ जाता लोग पुआल की मशाल जला कर रोगी को दिखा देते और फिर अन्धकार हो जाता जिसमें मैं मानो उनके धीरज की साँसे सुनता रहता। द्वीप मे कुल एक सरकारी डिस्पेंसरी थी जिसे वार्षिक दो सौ रुपया मिलता था। बाईस हजार की आबादी पर पड़ता फैलाकर देखिये, हर साल हर व्यक्ति को एक अधेले की दवा मिल सकती थी—समझ लीजिये कि साल में *एक बार आधी गोली कुनेन। लेकिन मैंने कहीं* रोना झींकना या कोसना नहीं देखा, देखा तो एक शान्त भव्य अभिमान जो मानो कहता हो प्रकृति दयालु नहीं है, लेकिन *हमारी परिचित* है, जिस तरह पड़ोसी एक दूसरे का अत्याचार सह लेते हैं वैसे ही हम भी हैं, जिस तरह पड़ोसियों मे आपस मे मान होता है वैसा ही हम में भी, झुकने मे या शिकायत करने मे हमारी प्रतिष्ठा घटती है

और इसके बाद वसन्त में जब गया था, तब नाव पर से ही दूर से ढोल का द्रुत स्वर सुन सका था—जान गया था कि जीवन भले ही प्रकृति की देन हो, वह सदैव प्रकृति पर विजयी है

समय होता, तो मैं असमिया धैर्य की एक ऐतिहासिक प्रतिमा रानी जयमती की गाथा सुना कर समाप्त करता, लेकिन अभी उनका स्मरण ही कर सकता हूँ। इस स्वाभिमानिनी रानी की वीरता असमिया लोकमानस मे बहुत गहरे पैठी है, और जयसागर नामक ताल के तट पर उस का मन्दिर जयदोल, एक तीर्थस्थल है—भले ही वहाँ भी गायें पगुराती हो—पर अभी सम-कालीन चरित्र चित्र से ही सन्तोष करें।

—दिल्ली से प्रसारित

आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठ
समुद्रमाप प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामाय प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न काम कामी ॥ गीता ॥

सब ओर से परिपूर्ण जलनिधि में सलिल जैसे सदा आकर समाता किन्तु अविकल सिन्धु रहता सर्वदा। इस भाँति ही जिसमें विषय जाकर समा जाते सभी, वह शान्ति पाता है, न पाता है कामी जन कभी। (दीनानाथ 'दिनेश'—दिल्ली)
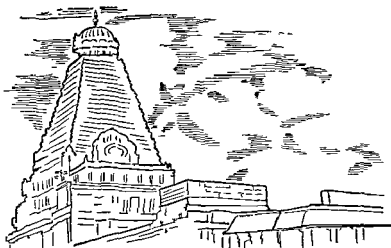
हमारी संस्कृति में जातियों का योग : द्रविड़

अनन्त सदाशिव अलतेकर

अनेक जातियों की संस्कृति के समन्वय, मेल जोल या योग से भारतीय संस्कृति बनी है। भारत ही शायद ऐसा एकमात्र देश है जहाँ हिन्दू, जैन, बौद्ध, खिस्ती, यहूदी, ईरानी और मुस्लिम संस्कृति के लोग मिलजुल कर और प्रेम से रहते हैं। भारतीय संस्कृति एक सुंदर गलीचे के सदृश है, जिसके विभिन्न रंग आर्य, द्राविड, मंगोल, मुंड, कोलारियन, ग्रीक, शक, पार्थियन, कुशाण, हूण इत्यादि वंशों की संस्कृतियों से आकर्षक और मनोरम बन सके हैं। आज हम द्राविड संस्कृति से भारतीय संस्कृति किस प्रकार सुसमृद्ध हुई है इस सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे। किन्तु यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है। द्राविड संस्कृति का आर्यों के आगमन से पूर्व क्या स्वरूप था, इसके बारे में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। न हमें उस प्रागैतिहासिक काल के कुछ शिलालेख मिले हैं, न ग्रंथ, जिनके सहारे हम द्राविड संस्कृति का रूप निर्धारण कर सकें। वैदिक वाङमय में अनार्यों का वर्णन आता है, किन्तु वह अत्यन्त संक्षिप्त और छिटपुट रूप में है। हिन्दुस्तान में खश, कोलारियन, गोंड, मुंड, द्राविड, इत्यादि अनेक अनार्य लोग थे। उनमें से किनके बारे में वेदों ने अनास, मृध्रवाच इत्यादि लिखा है, यह कहना भी कठिन है। द्राविड लोग कौन थे, उनकी संस्कृति कहाँ तक फैली थी, इसके बारे में भी अत्यन्त मनोरंजक और आश्चर्य जनक मतवैचित्र्य हैं। जस्टिस पार्जिटर महोदय ने अनेक वर्षों तक पुराणों का अध्ययन किया। उसके फलस्वरूप वह इस नतीजे पर पहुँचे कि भगवान् रामचन्द्र द्राविड वंश के थे और अन्य ब्राह्मण जाति भी उसी वंश की थी। दूसरों का कहना यह है कि द्राविड लोग न केवल दक्षिण देश में थे वरन् उन्होंने बिलोचिस्तान, ईरान, मेसोपोटेमिया तक भी अपने उपनिवेश कायम किये थे। बिलोचिस्तान के ब्रहुई लोग, ईरान के लूरी और मेसोपोटेमिया के सुमेरियान, ये सब द्राविडवंशी थे। सिंधु घाटी की संस्कृति भी द्राविड थी, ऐसा अनेक विद्वान् मानते हैं। द्राविड

वाङ्मय से द्राविड़ संस्कृति का स्वरूप निश्चित करना आसान नहीं है, क्योंकि सबसे प्राचीन द्राविड़ी वाङमय केवल २००० साल का पुराना है और उस समय आर्य और द्राविड़ संस्कृतियो का समन्वय पूर्णतया हो चुका था। द्राविड लोग अपने व्याकरण का भी जनक च आर्य ऋषि अगस्त्य को देते हैं। उनकी समान स्थिति भी यदि हम कुछ जातियो मे दिखाई देने वाली मातृसात्तक कुटुम्ब पद्धति को छोड दें तो बिल्कुल आर्यों की तरह की है। सब सुसस्कृत द्राविड़ लोग आर्य देवताओ का ही पूजा करते ह वेद, वेदाँत, पुराण, स्मृति आदि को ही धर्म के आधार-भूत ग्रथ मानते हैं। इसलिये द्राविड धर्म का या संस्कृति का मूल स्वरूप निधारित करना और उनसे भारतीय सस्कृति को कौन सी देन मिली है, यह निश्चित रूप से कहना आसान नहीं है।

पर कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्य ह जिनसे कुछ निर्णयो पर हम पहुच सकते हैं। जिनकी पूजा के विना हम कोई भी सस्कार या धार्मिक कार्य अब भी नही शुरू करते, वह गणेश जी द्राविड देव हैं, वैसे ही उनक पिता शिवजी का पुराणो में अनेक कथाए मिलती हैं जिनसे यह मालूम होता है कि शिवजी को वैदिक यज्ञो मे अनेक दशको तक प्रवेश नहीं मिला था। उनके अनुयायियों ने दक्ष यज्ञ का विनाश भी किया था। शिव और विष्णु क झगडे का वर्णन अनेक स्थल पर पुराणो मे आया है। किन्तु आखिर मे शिवजी और विष्णु जी एक दूसरे के प्रशसक बन गये। इतना ही नहीं, हरि और हर को एक देवता मे मिलाकर एक नये हरिहर दवता का निर्माण हुआ। जो दव शिवजी और गणेश जी की तरह उच्च देवताओ मे प्रवेश न कर सके, वे म्हसोबा, विरोबा इत्यादि क रूप मे ग्राम दवता बनाये गये। उनकी पूजा आज भी दक्षिण मे सब लोग करते है। वैदिक सूत्रों मे पुनर्जन्म के सिद्धात का उल्लेख भी नही है। एक हजार साल के पश्चात् उपनिषत्काल मे वह दृष्टिगत होने लगता है। कुछ विद्वानो का मत है कि यह सिद्धाँत हमने द्राविड लोगो से लिया है। सगोत्र विवाह निषेध कल्पना भी द्राविड संस्कृति से ही शायद लाई गयी है। वैदिक काल मे तो इसका अस्तित्व भी नहीं था। भक्ति-मार्ग का उदय निसशय आर्यों मे हुआ था, किन्तु उसे जनता मे सर्वत्र फैलाने का श्रेय हमे द्राविड लोगो को देना पडेगा। वैसे तो पुराण भगवद्-गीता इत्यादि ग्रथो ने भक्तिमार्ग को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया था। किन्तु द्राविड देश क आलवार साधुओ ने लोकभाषा याने, तमिल मे भक्तिरस क स्तोत्र बनाकर सर्वसामान्य जनता मे उसका प्रचार किया। द्राविड देश से रामानद जी काशी में आये और वहा उन्होंने हिन्दी मे भक्ति स्तोत्रो की रचना शुरू की। उनके शिष्य प्रशिष्य कबीर इत्यादि ने भक्ति सम्प्रदाय को उत्तर प्रदेश मे और सूरदास, नन्ददास इत्यादि ने मथुरा वृन्दावन में लोकप्रिय बनाया।

जब ज्ञानमार्ग या वैराग्यमार्ग से मोक्षसाधना करना लोगो को कठिन मालूम पडने लगा, जब मध्ययुग में विधर्मियो के आघात से हिंदूधर्म पर अनेक सकट आ पड़े, तब उसमें नव जीवन और चैतन्य डालने का श्रेय भक्तिमार्ग को और उस के नवप्रचारक द्राविड़ लोगों को दना पडगा। आर्यों ने उपनिषदादि ग्रथों मे तत्त्वज्ञान के अनेक सिद्धान्तो की चर्चा की है, किन्तु वह सुसम्बद्ध और तर्काधिष्ठित नहीं है। शास्त्रीय दृष्टि से भाष्य लिखकर सर्व सिद्धान्तो को यथा साँग प्रस्थापित करने की प्रथा द्राविड देशीय शकराचार्य जी ने शुरू की और पीछे उसी देश क रामानुजाचार्य जी ने उसका अनुकरण किया।

शंकराचार्य

यह एक मार्के की बात है कि करीब करीब सब विद्वान् आचार्य, जैसे शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, सब द्राविड देश के ही थे। हिन्दू तत्वज्ञान के द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत इत्यादि अनेक सम्प्रदायों की स्थापना करने का श्रेय हमें द्राविडों को ही देना पड़ेगा। आर्यों के वैदिक मन्त्रों का सगोपन द्राविडों ने ही सबसे अच्छा किया है। आर्यों के वैदिक मन्त्रों का स्पष्ट और दोषरहित पाठ यदि आप सुनना चाहें तो द्राविड ब्राह्मणों के मुख से निकलने वाले वेद मन्त्रों को ही आपको सुनना पड़ेगा। उत्तर हिन्दुस्तान के आर्य ब्राह्मण जब वेद मन्त्र पाठ करते हैं तब वे व, ब, श, ष स इत्यादि वर्णों का स्पष्ट उच्चारण नहीं कर सकते हैं, पुरुष को पुरख वेद को बेद, सप्त को शप्त कहते हैं। हम लोग एका के 'ए' को और एकान्त के 'ए' को एक ही तरह से हिन्दी में लिखते हैं यद्यपि एक ह्रस्व ए है और दूसरा दीर्घ। द्राविड लिपियों अधिक शास्त्रीय हैं, उनमें ह्रस्व और दीर्घ 'ए' और ह्रस्व 'ओ' और दीर्घ 'ओ' अलग चिह्नों से दिखाये गये हैं।

यदि सिन्धु घाटी की संस्कृति द्राविडी हो, जैसा कि मालूम पड़ता है, तो यह मानना पड़ेगा कि द्राविड लोग नगर निर्माण शास्त्र में अत्यन्त प्रवीण थे। नगर में चौड़े रास्ते, ठीक तरह की नालियाँ और सार्वजनिक स्नानगृह बनाने का महत्व वे जान चुके थे। वास्तुविद्या में भी वे अत्यन्त प्रवीण थे। आगे चलकर ऐतिहासिक काल में भी उन्होंने दक्षिण हिन्दुस्तान में तंजोर, ... रामेश्वर इत्यादि तीर्थों में जो प्रचंड गोपुर के सहस्र स्तंभी देवालयों का निर्माण किया है, उससे उनकी वास्तुविद्या का प्रेम और प्रभुत्व विदित होता है। एलोरा में द्राविडों ने पत्थर की अखंड चट्टान में खुदाई करके जिन सुन्दर कैलाश मन्दिरों का निर्माण किया है वह एक विश्वविस्मयकारी कृति है। इन सब मंदिरों में अत्यन्त उच्च कोटि की पच्चीकारी का काम दिखाई देता है।

व्यापार और नौका-निर्माण में द्राविड लोग अग्रसर थे। आर्यों ने इन क्षेत्रों में द्राविडों से ही सबक सीखे हैं। वैदिक आर्य तो व्यापार और व्यापारियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। समुद्र से विशेष सम्पर्क न होने के कारण नौकानयन में उनकी विशेष प्रगति नहीं हुई थी। किन्तु कोंकण, मलबार, कोरोमान्डल इत्यादि समुद्रतट पर रहने वाले द्राविड लोग समुद्र में अति प्राचीन काल से नौकानयन करते थे। पता चला है कि ईसा पूर्व ३००० के समय भी उनका बेबिलोनिया से व्यापार चलता था जिसके फलस्वरूप अनेक द्राविडी शब्द पश्चिमी भाषाओं में प्रचलित हुए हैं। हिब्रू भाषा में मोर के लिये तुक्कि, इरानी में तवस् और ग्रीक में तोफास शब्द है, वे सब तमिल मलयालम के तकई शब्द से सम्बद्ध हैं। चावल के लिये ग्रीक भाषा में Aruzu, लैटिन में Aryza ये जो शब्द हैं उनकी तामिल आरसि से उत्पत्ति हुई है। अंग्रेजी का Rice शब्द भी उससे ही उत्क्रान्त हुआ है। दक्षिण पूर्व एशिया से भी द्राविडों का व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध था। वहाँ हिन्दू या बौद्ध संस्कृति का फैलाव करने का श्रेय द्राविड़ों को पर्याप्त मात्रा में देना पड़ेगा। जावा द्वीप समूह को चीनी लोग क्लिंग याने कलिंग कहते थे, इसका कारण यह था कि वहाँ आने वाले भारतीय कलिंग देश से प्राय आते थे। कलिंग देश से २०,००० कुटुम्ब आकर जावा में कैसे बस गये इसके बारे में एक जनश्रुति जावा में अब भी प्रचलित है। बर्मा, मलाया, द्वीप कल्प, चम्पा, बोर्नियो इत्यादि देशों में जो प्राचीन लेख मिलते हैं उनकी लेखन शैली द्राविडी है। उससे भी यह सिद्ध होता है कि दक्षिण पूर्व एशिया में आर्य संस्कृति को फैलाने का श्रेय द्राविड लोगों को पर्याप्त अंश में देना उचित है।

द्राविडों के सहयोग से भारतीय संस्कृति को बहुत लाभ हुआ है। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, इत्यादि जो तत्वज्ञान पद्धतियाँ आर्य संस्कृति में विकसित हुई हैं, वे द्राविडों के सहयोग की ही परिणाम हैं—भारतीय वास्तुशास्त्र भी अत्यन्त साधारण होता, यदि द्राविडों की सहायता हमें नहीं मिलती। आजकल सुदूरपूर्व एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया से जो हम

सांस्कृतिक सम्बन्ध अनुभूत करते हैं, उसका भी श्रेय जितना आर्यों को है उतना ही द्राविड़ों को भी।

अनेक संस्कृतियों के मधुर समन्वय से हमारे पूर्वजों ने भारतीय संस्कृति को स्वरूप दिया है। आधुनिक भारत को एक कदम आगे बढ़ा कर आधुनिक इस्लामी, ईसाई इत्यादि संस्कृतियों का भारतीय संस्कृति से समन्वय करके एक विश्वव्यापी या मानवी संस्कृति का निर्माण करने का काम हमें करना है, जिससे विश्व में विद्वेष की भावना नष्ट हो कर शान्ति और विश्वबन्धुत्व की भावना सर्वत्र प्रचलित हो।

—पटना से प्रसारित

योग्य माता-पिता

हमारे सामाजिक तरीके कुदरत के आधार पर नहीं हैं। योग्यता पैसे से मापी जाती है। धनी का बेटा मूर्ख हो, कुष्ठी हो, छोटी आयु का हो, सुन्दर कन्या के लिये योग्य वर समझा जाता है। परन्तु देखिये, कुदरत ऐसे जोड़ों को कैसे विफल बनाती है। यह बात रोज देखने में आती है कि धनी लोग औलाद के दुख से बिलबिलाते ही रहते हैं, क्योंकि होती ही नहीं और जब होती है तो निकम्मी। दूसरी ओर निर्धनों के बच्चे बहुत होते हैं। परन्तु हमें कभी खयाल नहीं आता कि अयोग्य जोड़ों के फलस्वरूप हमारी नस्ल कमजोर होती जा रही है। शरीर बलहीन हैं, बीमारियों का मुकाबला नहीं कर सकते। मन उत्साहरहित होते जा रहे हैं इस बात को अनुभव तो जरूर करते हैं कि दुर्बलता हर पीढ़ी में बढ़ती जा रही है परन्तु उपाय को प्रयोग में लाने का हीया नहीं पड़ता। जब तक लड़का अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो जाता, उसे शादी नहीं करनी चाहिये। लड़कियों के लिये शिशु पालन और दम्पत्ति सम्बन्ध की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिये। जनसंख्या को काबू में रखने के लिये ३० वर्ष से कम आयु वाले को पिता बनने का अधिकार न दिया जाये। ऐसी कई और बातें सोची जा सकती हैं। परन्तु पहले तो हमारा निश्चय दृढ़ होना चाहिये कि सन्तानोत्पत्ति का अधिकार सिर्फ योग्य माता पिता को ही दिया जाये।

(शमशेर बी० सिंह—जालन्धर)

वेद :

इतिहास या साहित्य?

सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी

भाषाशास्त्रियों का यह सर्वमान्य मत है कि विश्व मे आज जितना भी लिखित साहित्य हमे मिलता है, उसमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। प्राचीनता विषय व्यापकता और काव्य सौन्दर्य सभी दृष्टियों से समस्त सभ्य साहित्य में ऋग्वेद अग्रगण्य है।

ऋग्वेद किसी एक काल विशेष, स्थान विशेष व्यक्ति विशेष, कुल विशेष की रचना नहीं है। बल्कि सकलन समय के पूर्व क अति विस्तृत कालखण्ड में, विभिन्न स्थानो मे, विभिन्न कुलो मे, भिन्न भिन्न व्यक्तियो के द्वारा, समय समय पर स्वय स्फूर्ति से नानाविध विषयो पर जो रचनाएँ की गईं थीं, उनमें से कुछ का—ध्यान रहे कुछ ही का—जो सकलनकर्ता की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय और अविस्मरणीय थे सकलन आज के ऋग्वेद मे पाया जाता है।

यह सर्वमान्य सिद्धात है कि प्रत्येक ग्रन्थ अपने युग का प्रतिबिम्ब होता है। ऋग्वेद इस नियम का अपवाद नहीं है। इसकी ऋचाओ मे भी तत्कालीन समाज और उसके इतिहास की विश्वसनीय सामग्री निहित है। उसके आधार पर ऋग्वेदकालीन समाज और इतिहास का चित्र खींचा जा सकता है। ऋग्वेद मे हम आर्यों को दस्यु, दास, असुर आदि अनार्य जातियो के विजेता के रूप में देखते ह। वे अभी तक समस्त भारत मे नही फैल पाये थे। उनके सप्तसिंधु प्रदेश मे गगा नदी पूर्वी छोर पर थी। वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि कुलगुरुओ की अध्यक्षता में आर्यों के अनेक वश इस प्रदेश मे प्रतिष्ठापित हो चुके थे। यह सब कार्य बिना युद्ध या रक्तपात के हुआ हो, यह बात नहीं। इसके लिये दीर्घ-कालीन सघर्ष हुए थे। दिवोदास के पुत्र सुदास के दाशराज युद्ध' का हृदयग्राही वर्णन ऋग्वेद मे आया है। पाच आर्यवशी और पाँच अनार्य वशी राजाओ के एक सम्मिलित सघ ने सुदास पर आक्रमण किया था किन्तु वशिष्ठ के प्रभाव से सुदास विजयी हुआ। साठ हजार द्रुह्यु और ६ सौ अनु इस युद्ध मे खेत रहे। इसी प्रकार वेदो की सहायता से सामाजिक स्थिति का भी चित्रण किया जा सकता है। आर्य लोग रथों पर चढ़ते थे। गोपालन और कृषि उनके मुख्य व्यवसाय थे। सोम और सुरा का पान, एक धार्मिक विधि के रूप मे अनुमत था। पश्चिमीय देशो से समुद्र द्वारा उनका व्यापारिक सम्बन्ध था। ऋग्वेद मे समुद्र शब्द अनेक बार आया है। आर्यों का सप्तसिंधु प्रदेश एक उपजाऊ भूमि

में था। इसी से लोग सुखी और समृद्ध थे। सत्य और व्यवस्था का आदर किया जाता था। व्यभिचार, चोरी और डाका, बुरे व्यसन माने जाते थे। ऋग्वेद काल में स्त्रियाँ उत्तर काल की अपेक्षा, अधिक आदरपात्र और स्वतंत्र मानी जाती थीं। वे न केवल यज्ञ कर्म में भाग लेती थीं, बल्कि वैदिक मंत्रों की रचना भी करती थीं। मंत्रपाठ या अग्नि में आहुति के द्वारा देवताओं की आराधना की जाती थी। आर्य लोग वेदों से वीर पुत्र, पशु और सुवर्ण का आशीर्वाद चाहते थे। जीवन में आनन्द का अनुभव और रुचि होने के कारण वे पलायनवाद या वैराग्य मार्ग को नहीं मानते थे। उनके मनोरञ्जनों में रथ दौड़ाना, द्यूत, नृत्य, संगीत आदि को प्रमुख स्थान था।

अब वेदों के साहित्यिक पक्ष को देखना चाहिए। सृष्टि के आदिम युग के समान, ऋग्वेद की काव्यकला सीधी सादी और अकृत्रिम है। उसमें शब्दों की बनावट नहीं। अर्थ का छल नहीं। ऋग्वेद का कवि सीधे सादे शब्दों में अपने हृदय को सामने रखता है। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में कवि अग्निदेव से प्रार्थना करता है।

स न पितेव सूनवे ऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा न स्वस्तये ॥ १-१-९

यदिन्द्राऽहं यथा त्वमीशीय वस्व एकइत्।
स्तोता मे गोषखा स्यात्। ८-१४-१

यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्य। सहसः सूनवाहुत ॥८-१९-२५

न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पापत्वाय सन्त्य। न मे स्तोतामतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया ॥८-१९-२६

'हे अग्नि, तुम मेरे पिता के समान हो, इसलिए मैं जब चाहूं तुम्हारे पास एक पुत्र की तरह सीधे आ सकूं, ऐसी कृपा करो। मेरे कल्याण के लिए तुम सदैव तैयार रहो।" ऋग्वेद का कवि देवता को अपने निकट की वस्तु समझता है, ऊँच नीच या सेव्य-सेवक का भाव नहीं मानता। तभी तो वह कहता है—'हे इन्द्र, यदि मैं तुम्हारे समान धनी होता, तो अपने भक्तों को पशुओं की कमी न होने देता।" (ऋ ८ १४ १) "यदि मैं अमर होता और तुम मर्त्य होते, तो हे अग्निदेव, तुम देखते कि तुम और अन्य भक्तगण शाप, गरीबी, अभाव, बीमारी के कष्ट को कभी न झेलने पाते।" (८ १९ २५) उषाकाल के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन कितना सजीव और कवित्वमय है, देखिए—

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात् ॥ ५-८०-५
एषा प्रतीची दुहिता दिवो नॄन्योषेव भद्रानि रिणीते अप्सः।
व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः ॥ ५-८०-६

"स्वर्ग की कन्या, उषा रात्रि के अंधकार को दूर करती हुई हमारे सामने आ खड़ी है। सद्यस्नाता वधू के समान अपने अंग प्रत्यंगों के सौंदर्य को वह समझती है। इसी से तो वह सीधे तनकर खड़ी है, ताकि हम उसका पूर्ण दर्शन कर सकें।" दूसरी ऋचा में कवि कहता है— "शुभ्रशीला वधू के समान, स्वर्गकन्या उषा, लोगों के सामने सर झुकाये अपना सौंदर्य दिखा रही है। अपने भक्तों को वरदान देती हुई, उषा आज भी हमेशा की तरह प्रकाश लेकर आई है।" वास्तव में उषा के वर्णन में काव्यरूप का मनोरम चित्रण मिलता है। ओजस्वी तथा ज़ोरदार वर्णन के लिए इन्द्र अपूर्व है। सोमपायी, वज्रबाहु और वज्रधारी इन्द्र को कौन नहीं जानता? वरुण देव के सूक्तों में एक दूसरा ही वातावरण है। यहाँ नैतिक आधार के प्रति निष्ठा है। ऋत और सत्य के प्रतिष्ठापक वरुण देव के सम्मुख कवि का हृदय भयभीत

और पश्चात्तापपूर्ण है। मानवसुलभ कमज़ोरियों का हृदयग्राही वर्णन है। कवि कहता है—

अर्यम्य वरुण मित्र्यं वा सखाय वा सदमिद्भ्रातरं वा।
वेश वा नित्य वरुणारण वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत् ॥ ५-८५-७
न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ॥ ७-८६-६

"हे वरुण। यदि अपने किसी भाई, मित्र, साथी, पड़ोसी या परदेशी के प्रति हमने पाप कार्य किया हो तो हे वरुण देव! क्षमा कीजिये तथा अपने दण्ड से बचाइये। मैं अपने मन ही मन विचारता हूँ कि देव वरुण, कब मुझे अपने हृदय में स्थान देंगे? वह दिन कब आयेगा जब मैं वरुण देव की क्षमा प्राप्त कर अपने को प्रसन्न मन पाऊँगा। हे देव! यह अपराध मैंने जानबूझ कर नहीं किया है। इसके पीछे धोखे बाजी, मदिरा-प्रभाव, क्रोध, जुआ खेलने की लत या असावधानी भी हो सकती है। शायद बड़ों के प्रभाव में पड़ कर मैंने यह दुष्कृत्य किया है। यह भी हो सकता है कि इसकी प्रेरणा मुझे स्वप्नावस्था में मिली हो।"

यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि मैं देवतास्तुति के अतिरिक्त अन्य उनके [illegible] विषयों पर भी सूक्त मिलते हैं। इनमें यम-यमी-संवाद और उर्वशी-पुरूरवस संवाद विशेष रूप से आकर्षक हैं। भाव सौंदर्य के साथ साथ कल्पना माधुर्य भी इनमें दृष्टिगोचर होता है। यम के तिरस्कार से निराश होकर यमी कहती है :—

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयंचाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्त परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥ १०-१०-१३

"यम तुम दुर्बल हृदय हो, तुममें सहृदयता और दाक्षिण्य का पूर्ण अभाव है। तुम सदा ऐसे ही न रहोगे। कभी न कभी तो कोई दूसरी आकर लता के समान तुम्हें अपने बाहुपाश में बाँधेगी।" अब पुरूरवस को समझाती हुई उर्वशी के सान्त्वनापूर्ण शब्द सुनिये :—

पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ॥ १०-९५-१५

"हे पुरूरवस! दुखी न हो तथा आत्मघात की न सोचो। क्या तुम यह नहीं जानते कि स्त्रियों से मैत्री स्थायी नहीं हो सकती? स्त्रियों का हृदय भेड़िये के हृदय के समान कठोर और निर्दय होता है।" एक सूक्त में एक जुआरी कहता है—

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् १०-३४-३

"जुआरी का जीवन सचमुच दुःखी जीवन है। उसकी सास उससे घिनाती है। पत्नी दूर भगाती है। कोई भी उसे आश्रय देने को तैयार नहीं होता। जैसे बूढ़े घोड़े को कोई नहीं पूछता, उसी प्रकार जुआरी का जीवन भी दूभर हो जाता है।" आध्यात्मिक दर्शन की दृष्टि से नारदीय सूक्त का महत्व आज भी महत्वपूर्ण है। सृष्टि के आरम्भ के विषय में जिज्ञासा करता हुआ कवि कहता है—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥ १०-१२९-७

"यह सृष्टि कहाँ से आई? जिससे यह उत्पन्न हुई, क्या उसने जान बूझ कर सृष्टि बनाई थी? सर्वोच्च आकाश में जो इसका सदैव निरीक्षण किया करता है, वह भी इस प्रश्न का उत्तर

जानता है या नहीं—इसमें सन्देह है।" दार्शनिक क्षेत्र में स्वतन्त्र विचारप्रगल्भता और विशुद्ध तर्कानुराग का ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं मिले।

हम ऊपर वेदों के आध्यात्मिक पक्ष का निर्देश कर चुके हैं। क्षण भर के लिये रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक पक्ष को छोड भी दिया जाय तो भी यह कहना कठिन है कि वेद साहित्य की वस्तु हैं या इतिहास की। भारतीय वाङ्मय परंपरा में इतिहास का अर्थ केवल राजनीतिक घटनाओं का निर्देश नहीं है। इतिहास जीवन के सभी अंगों को छूता है। वेदों में जीवन के विविध अनुभवों और रूपों का निर्देश है, और इस अर्थ में वेद इतिहास ग्रन्थ है। साथ ही कविता कला के अनुपम उदाहरणों से वेदों का साहित्य पक्ष भी सर्वथा पुष्ट है। अतः यदि यह प्रश्न पूछा जाय कि "वेद साहित्य है या इतिहास ?" तो इस प्रश्न का समुचित उत्तर होगा कि वेद, साहित्य और इतिहास, दोनों हैं, एवं साथ ही कुछ और भी।

—नागपुर से प्रसारित

धर्म क्या है ?

मनु के अनुसार धर्म का अर्थ वे नियम हैं जिन पर चलने से सभी प्राणी सुखपूर्वक रह सकते हैं 'धारणाद् धर्म इत्याहु धर्मो धारयते प्रजा' कणाद ऋषि के अनुसार धर्म वे नियम हैं जिनके अनुसार चलने से उन्नति और निःश्रेयस की प्राप्ति होती हो। यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्म' अर्थात् जिससे उन्नति और सर्वश्रेष्ठ पद की प्राप्ति होती हो वह धर्म है। वे नियम कौन से हैं ? मनु महाराज ने ऐसे दस साधारण नियम बनाये हैं जिनके ऊपर चलने से मानवमात्र का कल्याण और सब प्राणियों की रक्षा हो सकती है। वे ये हैं धैर्य, क्षमा मन को वश में रखना चोरी न करना, स्वच्छता, इन्द्रिय दमन, बुद्धि से काम लेना विद्या प्राप्त करना सत्य बोलना और क्रोध न करना। व्यास जी ने महाभारत में धर्म का सार यह बतलाया है कि "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'

यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्।।

अर्थात् जो व्यवहार अपने प्रतिकूल मालूम पड़े वह व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करना चाहिये और जो बातें दूसरे से हम अपने प्रति चाहते हैं वे बातें हमको दूसरों के प्रति करनी चाहियें।

मानव सभ्यता कभी और कहीं **मोक्ष प्रधान**, कभी और कहीं **धर्म प्रधान**, कभी और कहीं **काम प्रधान** और कभी और कहीं **अर्थ प्रधान** रहा है।

भारतीय सभ्यता के प्रमुख नेता राजर्षि मनु ने इन चारों पुरुषार्थों का पारस्परिक तारतम्य और स्वतन्त्र मूल्य निर्धारित करते समय धर्म को ही जीवन में सर्वोच्च स्थान दिया है। उन्होंने कहा है धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः' अर्थात् धर्म के नियमों के पालन करने से मानव की सब प्रकार से रक्षा होती है। और उनका उल्लंघन तथा उनकी अवहेलना करने से मानव का सर्वनाश होता है। यह बात व्यक्ति और समाज दोनों पर ही लागू होती है। इसलिये मनु ने अपने समाज को ही नहीं, बल्कि मनुष्य मात्र को यह शिक्षा दी है कि धर्म की अवहेलना कभी नहीं करनी चाहिये तस्माद् धर्मो न हन्तव्य'। हमारे प्राचीन ऋषि लोग इस निर्णय पर पहुंचे थे कि धर्म के नियमों पर चलने से ही स्थायी सम्पत्ति और जीवन में सच्चे सुख और मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। (बी० एल० आत्रेय—इलाहाबाद)

भगवद्दत्त

महाभारत अनुशासन पर्व में भूमिदान प्रशंसा का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है। उसमें युधिष्ठिर भीष्म से कहते हैं—

इद देय मिद देय इतीय इति चोदनात।
बहु देयाश्च राजान किंस्विद्धेयम अनुत्तमम् ॥

यह दान दो, यह दान दो, वेद में दान की बड़ी महिमा गाई है, राजा अथवा धनी लोग बहुत दान देते हैं परन्तु हे भीष्म, यह बतायें कि दानों में कौन सा दान सबसे उत्तम है।

इस प्रश्न के उत्तर में सम्पूर्ण धर्मशास्त्रों के जानने वाले श्री भीष्म पितामह कहते हैं—

अति दानानि सर्वाणि पृथ्वीदानमुच्यते।
अचला ह्यक्षया भूमिर्दोग्ध्री कामानिहोत्तमान् ॥

ससार में वस्त्रदान, भोजनदान, जलदान, घासदान, धनदान आरोग्यदान, आदि बहुत प्रसिद्ध हैं पृथ्वीदान इन सब में से बड़ा है। कारण यह है कि वस्त्रों या कुछ काल के पश्चात् नाश हो जाता है, पृथ्वी अचला है, और इधर-उधर नष्ट नहीं होती, पृथ्वी अक्षया है, इसका क्षय नहीं होता, इनसे बढ़ कर भूमि दोग्ध्री है, इसको दोहने से सारी कामनाएं प्राप्त होती है, भोजन औषध, फल फूल, वस्त्र, रत्न, सब पृथ्वी से प्राप्त होते हैं, पृथ्वी का दान देना इन सबका दान है। इसीलिये भूमिदान को इन सब दानों से बढ़कर माना है। पृथ्वी से ही पशु पलते हैं, इसलिये भूमिदान में पशुदान का महत्व भी गिना गया है।

विद्वान् को, जो लालची नहीं, जो नौकरी नहीं करता, जो सदा विद्या के पढ़ने पढ़ाने में लगा रहता है, जो धोखा देकर, झूठ बोल कर लोगों को लूटता नहीं, ऐसे धर्मात्मा को भूमि देनी चाहिये। जब राष्ट्र ऐसे निर्लोभी विद्वान् को भूमिदान करता है तो राष्ट्र की अति वृद्धि होती है।

आगे कहा है, भूमि साधु पुरुष को, भले को नेक को देनी चाहिये। जो पुरुष भूमि प्राप्त करके उससे पैदा होने वाले धन को शरार में, इन्द्रियों की वासनाओं को पूरा करने में, दुखियों को दबाने में व्यय करता है, उसके पास भूमि कदापि नहीं रहनी चाहिये।

हमारे शास्त्रों के अनुसार भूमि राजा अथवा राष्ट्र की है, व्यक्ति का इस पर अधिकार नहीं है, इसलिये भीष्म कहते हैं—

नाभूमिपतिना भूमिरधिष्ठेया कथचन।

भूमिपति अथवा भूपति राजा है, दूसरे अर्थों में कह सकते हैं कि भूमि राष्ट्र की है, दूसरे किसी का इस पर अधिकार नहीं, वह राष्ट्र भूमि नष्ट कर बैठता है जो धर्म नियम पर नहीं चलता, जो साधु मार्ग से परे चला जाता है। न्याय पथ पर चलने वाला राष्ट्र दुष्ट लोगों से भूमि छीन कर भले पुरुषों को, आर्य पुरुषों को भूमि देता है। इसीलिये वेद में कहा है—

भूमिं ददामि आर्याय।

भूमि आर्य के, श्रेष्ठ पुरुष के पास रहनी चाहिये। इसलिये राष्ट्र को उन पुरुषों में भूमि

बाँटनी चाहिये जो श्रेष्ठ अथवा भले पुरुष हैं। मुकद्दमा करने वाले के पास अथवा जो श्रेष्ठ पुरुष को मुकद्दमे की ओर घसीटता है, भूमि कदापि नहीं रहनी चाहिये।

जो भूखा है, जिसको बाल-बच्चे पालने हैं, और जो एक श्रेष्ठ मार्ग का परित्याग नहीं करता, उसे भूमि मिलनी चाहिये। अत भीष्म कहते हैं—

कृशाय म्रियमाणाय वृत्तिग्लानाय सीदते,
भूमि वृत्तिकरीं दत्वा सत्री भवति मानव

जो भूख के कारण निर्बल हो गया है, जो शरीर यात्रा मे असमर्थ है, जो मौत के समीप जा रहा है, जो ढूँढने पर भी गुजारा नहीं ढूंढ सकता, जिसकी वृत्ति के मार्ग बन्द हो गये हैं, जो दिन दिन दुःख मे गिर रहा है ऐसे पुरुष को भूमि देकर जिसके द्वारा उसका गुजारा हो जाये, उसके प्राण बच जायें, उसके बच्चे बिलखें नहीं, वह मनुष्य एक महान् यज्ञ करता है। जो फल बडे बडे यज्ञो के करने से होते हैं वे सब फल गुजारे के निमित्त भूमि देने वाले को मिलते हैं।

भूमिदान के विषय में एक पुरानी गाथा चली आ रही है। जब जमदग्नि के पुत्र श्री परशुराम इक्कीस बार क्षत्रियो को पराजित कर चुके तो भारत का बहुत भूभाग उनके अधिकार मे चला गया। उस समय उन्होने एक यज्ञ रचा। उस यज्ञ मे पुरोहित महर्षि कश्यप थे। यज्ञ की समाप्ति पर दक्षिणा का समय आया। उस समय परशुराम ने सारी भूमि कश्यप को दे दी, और यज्ञ के पश्चात् आप हिमालय पर चले गये। गाथा मे अलकार रूप से पृथ्वी कहती है—

मामेवादत्त मां दत्त दत्वा माम वाप्स्यथ।
अस्मिल्लोके परे चैव तदद्त्त जायते पुन ॥

मुझे लो, अर्थात् राष्ट्र से खरीदो और लेकर अर्थी के लिये मुझे दे दो, इस प्रकार मुझे देकर तुम अधिक भूमि प्राप्त करोगे, इस लोक मे और परलोक मे तुम्हे भूमि पुन प्राप्त होगी।

भूमिदान के साथ यह ध्यान रखना चाहिये कि उपजाऊ अच्छी भूमि दान की जाय।

हल कृष्टा मही दत्वा सबीजा सफलामपि।
सोदक वापि शरण तथा भवति कामद ॥

जिस भूमि पर हल चलाया जा सके तथा ऐसी भूमि जिसमे हल चलाने के पश्चात् बीज बोया जा चुका है, और जिस भूमि पर फल लगे हैं, और जिस भूमि मे पानी का प्रबंध है, ऐसी भूमि दान करके मनुष्य की कामनाओ की पूर्ति आसानी से होती है।

पुराने काल मे जब इन्द्र सौ यज्ञ कर चुका, जिस कारण वह शतक्रतु कहलाया, तो उसने देव गुरु बृहस्पति से पूछा कि महान् सुख मे रहने वाले हम लोग किस प्रकार अधिक तथा अक्षय सुख को प्राप्त कर सकते हैं। तब महान् तेजवाले श्री बृहस्पति जी ने भी अक्षय सुख के साधन भूमिदान की प्रशसा की।

बृहस्पति ने कहा, भूमिदान से अधिक कोई दान नहीं है। जब शूर लोग युद्ध मे मृत्यु प्राप्त करके स्वर्ग लोक को जीतते हैं तो उनको जो सुख मिलता है, भूमिदाता को उससे अधिक सुख मिलता है। जो भूदान करता है, उसे दूध और शहद की नदियाँ मिलती हैं, वह सदा तृप्त रहता है। भूमिदान से राजा अनेक पापो से मुक्त हो जाता है, बडे बडे तालाब लगाने का जो फल है, कुयें और प्याऊ लगवाने से जो फल होता है, बाग लगवाने से जो फल मिलता है, और अग्नि-होम आदि यज्ञों का जो फल होता है विधिवत् भूदान से वैसा ही फल मिलता है। राजा भूदान से सारे कर्मों से मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार पानी के ऊपर गिर कर तेल की बूँद फैलती है उसी प्रकार भूदाता की कीर्ति बढ़ती है, भूदान की यह प्रशसा सुन कर इन्द्र ने भूदान किये। आज भी सैकड़ो गुणयुक्त लोग दुःख मे हैं, भूदान से उनका कल्याण करने से देश सुखी होगा।

—दिल्ली से प्रसारित

हिन्दी - उर्दू काव्य की समानताएं

स्वामी कृष्णानन्द सोख्ता

हिन्दी और उर्दू का रिश्ता दो बहनों का सा है, जो अलग अलग घर ब्याही गई हैं। चूंकि ये बहिनें हैं, इसलिये उनके रूप गुण समान हैं, सिवाय इसके कि जिस घर वे ब्याही गई हैं, उसका प्रभाव उन पर पड़ा है। हमने सजा सवार कर भाषा को हिन्दी बनाया, दूसरों ने बाहर से लाई हुई आरायश की चीजों से आरास्ता करके उसी जबान को उर्दू लक्ब दे दिया। नामों के इस भेद के बावजूद साचे-ढांचे के खालिस स्वदेशीपन को जक न पहुंचे, इस एहतियात को मद्देनज़र रखते हुए उर्दू के मशहूर शायर उस्ताद दाग ने ज़बान की व्याख्या करते हुए ग़ज़ल कही है—

अब दिल है मुकाम बेकसी का।
यो घर न तबाह हो किसी का।।
इतनी ही तो बस कसर है तुम म।
कहना नही मानते किसी का।।
कहते है उसे जबाने उर्दू।
जिसमे न हो रग फारसी का।

इस बरायनाम भेद के होते हुए भी बनावट, अदायगी और ज़ोर के लिहाज से उर्दू हिन्दी की न मिटने वाली मुशाहबत, समानता ज़्यादा तफ्सील की मोहताज नही।

दृष्टि की व्यापकता (नजर की वसअत) शायर के मिज़ाज का एक वरफ यानी गुण है। एक ज़बान के शायर ने दूसरी ज़बान के शायर की खूबियों की भूम-झूम कर दाद दी है, जिस बोली से उसे वास्ता पड़ा उसके लफ्जो की माहियत (शब्दो की आत्मा) को जानकर उन लफ्जो के इस्तैमाल से उसने अपनी तसनीफो (कृतियो) को रचा। हिन्दुस्तान के सांस्कृतिक इतिहास मे इस जहनियत का ऐलान सबसे पहले मलिक मोहम्मद जायसी ने किया था—

तुर्की अर्वी हिन्दवी,
भाषा जेती आहि।
जामें मारग प्रेम का,
सबै सराहहिं ताहि।।

कबीर

उर्दू भाषा और साहित्य के विकास का इतिहास लिखनेवाले विद्वान्—अमीर ख़ुसरो, कबीर, रहीम खानखाना, तुलसीदास, बिहारी आदि सबकी गिनती उर्दू की भावी रूपरेखा की नींव रखने वालो मे करते है, और यह स्वाभाविक भी है। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में हिन्दुओं और मुसलमानो का जो सम्मेलन हुआ उसके फलस्वरूप हमारे यहाँ सूफीमत, योग, भक्ति आदि धार्मिक विचार-धाराएँ भी आपस मे मिलीं-जुलीं और एकाकार हो गईं। कबीर की यह उक्ति कौन नहीं जानता—

हमन है इश्क मस्ताना,
हमन को होशियारी क्या
रहे आज़ाद या जग में,
हमन दुनिया से यारी क्या।।
कबीरा इश्क का माता,
दुई को दूर कर दिल से
जो चलना राह नाजुक है
हमन सिर बोझ भारी क्या।।

कबीर की इस उक्ति से यह बात भी साबित हो जाती है कि खड़ी बोली की एक शैली उर्दू का निकास आगे चलकर इसी टर्रे पर होने वाला था।

हिन्दी में प्रेम-गाथाएं प्रसिद्ध ही हैं। मलिक मोहम्मद जायसी की पद्मावत इसमें सर्वश्रेष्ठ है। इस शैली की प्रेम कहानियाँ मुसलमानों द्वारा ही लिखी गई हैं। इन भावुक और उदार मुसलमानों ने हिन्दुओं के जीवन के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की और फारसी की मसनवी शैली को भारतीय दृष्टि से परिष्कृत करके जनता की जबान से प्रेम की पीर का वर्णन किया। मजेदार बात यह है कि इन गाथाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ मुसलमानों के ही घर में पाई जाती हैं। बात यह है कि मध्यकाल में सूफीमत, भक्ति समुदाय, योग और तान्त्रिक-मत सिद्धान्त एक दूसरे में घुलमिल गये थे। गिरधर का उपासिका मीरा इश्क का प्याला पीती थी और हाल आते आते बेसुध होकर नाच उठती थी, तो उधर जायसी प्रेम की पीर के साथ ही, योगियों के अनुसार सिर पर करवत लेने की बात भी करते थे। फलत मिली जुली विचार-धारा, भावधारा और काव्य उपादान का विस्तार और प्रसार होता था। यही वह भूमि है जिसके सबब पुराने ज़माने से हिन्दी के भाव विचार और उर्दू में हिन्दी के भाव विचार और शैलियाँ प्रकट होती रहीं। जैसे—

> उठ मेरे काली कमली वाले।
> रात चली है जोगिन बनकर,
> ओस से अपना मुंह को धोकर,
> लट छिटकाए बाल सँभाले। उठ मेरे काली—
> रोके हमारा नाम जो लेगा,
> नालय दिन से काम जो लेगा
> टूट पड़ेगा आग से तार। उठ मेरे—

उर्दू की यह एक मशहूर कविता है जिसका अभिप्राय यह है कि रात का पिछला पहर है और उस वक्त ईश्वर इस्लाम के पैगम्बर हजरत मुहम्मद को जगा रहा है कि उठो नमाज़ का वक्त आ गया। ध्यान रहे कि कुरान शरीफ में मुहम्मद साहब को एक जगह काली कमली वाले कहा है। स्पष्ट है कि उपर्युक्त उर्दू कविता में हिन्दी की भाव शैली तो है ही, हिन्दी के उपादान भी हैं। इस सिलसिले में 'जागिये गोपाल लाल' वाला पद एकदम याद आ जाता है। हिन्दी के लोक गीतों में काली कमली का जिक्र आता है। भगवान् कृष्ण को भी काली कमरिया वाले कहा गया है।

जिस प्रकार उर्दू में हिन्दी-उपादान, प्रतीक और भाव शैली प्रकट हुई है ठीक उसी तरह हिन्दी में उर्दू का सूफियाना रंग भी निखरा है। यह रंग खास उर्दू रंग है। मलूकदासजी कहते हैं—

> दर्द दिवाने बावरे अलमस्त फकीरा।
> एक अकीदा लै रहे ऐसे मन धीरा॥
> प्रेम प्याला पीवते बिसरे सब साथी।
> आठ पहर यूं झूमते ज्यों माता हाथी॥

एक उदाहरण और लीजिये—

> इश्क चमन महबूब का जहाँ न जावे कोय।
> जावै सो जीवे नहीं जिय सो बौरा होय॥
> ए तबीब उठ जाय घर अबस छुयगा हाथ।
> चढ़ी इश्क की कैफ यह उतरै सिर के साथ॥

इसी प्रकार उर्दू वालों ने भी हिन्दी के प्राचीन भावों को बहुत भावुकतापूर्वक अपनाया है। इसके लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त है। गोस्वामी तुलसीदास की एक उक्ति है—

> कबहुँक अम्ब अवसर पाय।
> मेरियौ सुधि द्याइबी कछु करुण कथा सुनाय॥

इसी भाव को उर्दू-शायर उस्ताद जौक़ ने यों बयान किया है—

> वो कत्र सुनत उस कासिद मगर हाँ यूँ सुना देना
> मिलाकर दूसरों की दास्ताँ में दास्ताँ मेरी॥

चूँकि तुलसीदास राम से आत्मनिवेदन करना चाहते हैं, इसलिये उनका तर्ज़ेबयान दूसरा ही है। लेकिन भाव, जज्बा एक ही है और उस जज्बे के इजहार के लिये दूसरों को दरमान के इस्तेमाल की तरकीब भी बिलकुल एक है। मतलब यह है कि एक चीज़ है जिसे हम भाव-परंपरा कह सकते हैं इसी भाव-परम्परा के

साथ कथन-शैली भी जुडी हुई है। हिन्दी-उर्दू की अभ्यन्तर समानता का मूलाधार निश्चय ही यह सर्वसामान्य भाव-परम्परा है जो मध्य-युगीन हिन्दी-उर्दू की मूलाधार है।

गालिब

सिंधु में बिंदु के समा जाने, जीव के परमात्म तत्व में लीन हो जाने वाली भाव परम्परा से जो परिचित है, उनके लिये यह काव्य उक्ति नई नहीं है—

इस ते कतरा है दरिया म फना हो जाना

गालिब ने इसी भाव को थोडा घुमाव देकर एक जीवन-व्याख्या कर दी है।

इशरते कतरा है दरिया म फना हो जाना।
दर्द का हद से गजरना है दवा हो जाना॥

इस जीवन व्याख्या के कारण ही गालिब का यह शेर बहुत श्रेष्ठकोटि का है।

गोस्वामी तुलसीदास की एक उक्ति है—

जित देखूं तित तोय।
कंकर पत्थर ठीकरी, भई आरसी मोय॥

अर्थात् परब्रह्म की व्यक्त सत्ता में उसकी अव्यक्त सत्ता का सौन्दर्य प्रकट हो रहा है। इसी बात को एक उर्दू कवि इस प्रकार कहता है—

"निगह मेरी हकीकत आशना मालूम होती है।
जिस शै पे पडती है खुदा मालूम होती है।

हिन्दी के पुराने प्रतीक आधुनिक उर्दू-शायरों ने, और आधुनिक हिन्दी कवियों ने उर्दू की कहन को बेरोकटोक अपना लिया है

यह तो केवल भाव परम्परा की बात हुई। मध्यकालीन हिन्दी काव्य में चन्दबरदायी से लेकर आगे तक फारसी अरबी शब्द आये है। किन्हीं मे कम, तो किसी मे ज़्यादा। जहाँ काव्य अधिक शुद्ध धार्मिक धरातल पर रहा फारसी अरबी के शब्दों का प्रयोग कम हुआ, जहा यह धार्मिक धरातल पार्श्वभूमि मे चला गया फारसी-अरबी का बेखटके प्रयोग होने लगा। गोस्वामी तुलसीदास ने स्वय अपनी कवितावली के सुन्दरकांड में फारसी शब्दों का बखूबी इस्तेमाल किया है। यह इस बात का सूचक है कि आम बोलचाल की भाषा मे उन दिनों फारसी-अरबी शब्दों का बहुतायत से उपयोग होता था। मुसलमान राजत्वकाल मे ऐसा होना स्वाभाविक भी है। कबीर से लगाकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक ऐसे अनेक पद्य गिनाये जा सकते है जिनमे हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों ने उर्दू-शब्दों को बहुत नफासत और सलीके के साथ इस्तेमाल किया है।

आधुनिक कविता के क्षेत्र में हम पर उर्दू का ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा है। छायावाद-पूर्वकाल में अयोध्यासिंह उपाध्याय के चोखे चौपदे इस बात का स्पष्ट उदाहरण है। हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थियों को यह मालूम है कि 'प्रसाद' जी का छायावादी काव्य 'आँसू' अनेक स्थलों पर उर्दू के प्रतीकों और भावों को लेकर चला है—

मादकता से आये तुम
संज्ञा से चले गये थे
हम व्याकुल पडे बिलखते थे
उतरे हुए नशे से।

इस पद्य को पढकर उतरे हुए नशे के मुहावरे का इस्तेमाल जफर की उस मशहूर गज़ल की याद दिलाता हैं—

"न किसी की चश्म का नूर हूँ, न किसी के दिल का करार हूँ।

जिसका एक मिसरा है—

'जो बिगड गया वो नसीब हूँ, जो उतर गया वो खुमार हूँ।"

छायावाद के बाद हिन्दी मे जो अन्य धाराएं चलीं, जैसे माखनलाल चतुर्वेदी, भगवती चरण वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, नवीन की कविताएं,

उनमें उर्दू की विशेषता लिये भावों की प्रचुरता दृष्टिगोचर होगी। साक़ी, प्याला, शमाँ, पतंग आदि प्रतीक तो अब तक चले आ रहे हैं। 'बच्चन' की 'मधुशाला' तो प्रसिद्ध ही है। उमर ख़ैयाम के प्रभाव से हिन्दी में न मालूम कितने ही उर्दू, फारसी के रोमान्टिक भावों को प्रश्रय मिला है। इस प्रकार हिन्दी-उर्दू के भावसाम्य के अगणित उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। महादेवी वर्मा की यह उक्ति लीजिये–

एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ।

और इसकी तुलना कीजिये–

आग थे इब्तदाय इश्क में हम।
अब जो है ख़ाक इन्तहा यह है॥

अथवा दिनकर की यह उक्ति लीजिये–

जब गीतकार मर गया चाँद रोने आया।
चाँदनी मचलने लगी कफ़न बन जाने को।

चाँदनी के कफ़न बन जाने की बात ठीक उर्दू में भी इसी तरह कही गई है। सुनिये उस्ताद ज़ौक़ का एक शेर है—

अफ़सुरदा दिल के वास्ते क्या चाँदनी का लुत्फ़।
लिपटा पड़ा है जिस तरह मुर्दा कफ़न के साथ॥

और बच्चन ने तो अपनी प्रेरणा उर्दू के मयख़ाने से ही ग्रहण की है। उनका एक वाक्य लीजिये–

बजी नफीरी और नमाज़ी भूल गया अल्ला ताला

और उसकी तुलना कीजिये इस शेर से और दखिये कौन सा ज्यादा बुलन्द है—

नमाज कैसी कहाँ का रोजा,
अभी तो शगले शराब में हूँ।
खुदा की याद आय किस तरह से
बुतो के बहरे हवाब में हूँ।

या यह लीजिये बच्चन की एक कविता–

'नीड़ का निर्माण फिर फिर

अपना घोंसला बनाने नीड़ का निर्माण करने की बात मुख्यत उर्दू से ही आई है। चमन, आशियाँ, आशियाँ पर बिजली गिरना आदि प्रतीक ठीक उर्दू के हैं। फिर से सुनिये–

'नीड़ का निर्माण फिर फिर।

अर्थात् एक नीड़ नष्ट हो जाने पर दूसरा नीड़ फिर से बनाया जा सकता है। एक अज्ञात उर्दू कवि की यह उक्ति देखिये–

चार तिनके आशियाँ के जल गये तो जल गये।
फिर भी हो सकती है शाख़ गुलपे तामीरें बहुत॥

कितना अधिक भाव-साम्य है। इस भाव साम्य को निश्चय ही आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। हमारे प्रगतिशील कवि शिवमंगलसिंह 'सुमन' की एक उक्ति बहुत प्रसिद्ध है–

मैं नहीं आया तुम्हारे द्वार, पथ ही मुड़ गया था।

प्रेमी प्रेमिका के घर जान बूझ कर नहीं गया, वरन् जिस रास्ते पर चल रहा था वह खुद ही उधर मुड़ गया। अब उर्दू का एक शेर ग़ौर फरमाइये—

मुश्किलों से लाये थे समझा-बुझा के दिलको हम।
दिल हमें समझा-बुझा कर कूये जाना ले चला॥

कविता की गहराई तक पहुँचिये, कानों में यह पंक्ति गूँजती है–

दिल हमें समझा-बुझा कर कूये जाना ले चला।

हिन्दी में नरेन्द्र शर्मा की एक पंक्ति पर विचार कीजिये—

फिर एक बार साकार बनो मेरे
युग युग के आकर्षण।

इसके मुकाबले में डा० इकबाल की बहुत मशहूर गजल है, उसका एक शेर मुलाहिज़ा हो—

कभी ए हक़ीक़ते मुन्तज़िर,
नज़र आ लिबासे मजाज़ में।
कि हज़ारों सिजदे तड़प रहे हैं
तेरी जबीने नियाज़ में॥

इक़बाल

हिन्दी के किन किन नामी कवियों ने उर्दू के, और उर्दू के किन किन शायरों ने हिन्दी के कौन-कौन-से भाव निःसंकोच अपना

लिये हैं, अगर इसकी खोज की जावे तो उसका पूरा गोशवारा तैयार करना पड़ेगा। हिन्दी में उर्दू के भावों से या उर्दू में हिन्दी के भावों से प्रेरणा लेना गुनाह नहीं, किन्तु उस पर 'मौलिकता का दावा नहीं करना चाहिये।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि मध्यकाल में हिन्दी और उर्दू की पृष्ठभूमि में दो बातें समान थीं (१) एक राज दरबार तथा (२) सूफियाना भक्तिप्रधान सांस्कृतिक भावधारा। ठीक उसी तरह आधुनिक काल के प्रारम्भ में राष्ट्रीय भाव दोनों भाषाओं में समान रूप से पाये जाते हैं। हाली का मुसद्दस और मैथिलीशरण की भारत-भारती एक ही राष्ट्रीय सामाजिक आदर्श से अनुप्राणित है। साहित्य का जागरूक विद्यार्थी यह निश्चयपूर्वक कह सकता है कि भारत-भारती मुसद्दस से प्रभावित हुई है। डा० इक़बाल, चकबस्त आदि उर्दू के राष्ट्रीय कवि हिन्दी में बहुत लोकप्रिय हुए हैं। 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला', महादेवी वर्मा जैसे पक्के छायावादी कवियों को एक ओर रख—माखनलाल चतुर्वेदी से लेकर 'बच्चन', 'अंचल' तक के काव्यों में हमें उर्दू शैली और भाव यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। उर्दू की नई रोमानी कविता ने निस्सन्देह हिन्दी-कवियों की कहन पर प्रभाव डाला है।

—नागपुर से प्रसारित

मैं नीर भरी दुख की बदली !

महादेवी वर्मा

मैं नीर भरी दुख की बदली !
स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा
क्रन्दन में आहत विश्व हंसा
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली !!

पथ को न मलिन करता आना,
पद चिन्ह न दे जाता जाना,
सुधि मेरे आगम की जग में
सुख की सिहरन हो अन्त खली !!!

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली
मैं नीर भरी दुख की बदली !!!!

—इलाहाबाद से प्रसारित

जीने का सलीक़ा

एक तबका है फल्सफियों और साइंस दानों का – यह तबका हर शै को फल्सफे और साइंस की ऐनक से देखता है और अपना जिन्दगी बसर करने का रास्ता साफ करता है।

इस तबक के नज़दीक ख़ुदा एक फर्जी चीज है। इख़लाक सिर्फ एक इजाज़ी और अहद बद लता हुई सोसाइटी के साथ बदलता और बेकीमत क जदीद तसव्वुरात (आधुनिक मान्यताएं) पेश करता है। इस तबक की इन्तेहाई कोशिश यह है कि इंसान एक मुकम्मल अक्ली जिन्दगी बसर करके एक ऐसी दिमागी कैफियत पैदा कर ले जो जिस्मानी सेहत, रूही राहत और ज़हनी आसूदगी (आराम) के साजो सामान पैदा कर दे।

मुख़्तसर यह कि इल्ले ज़िन्दगी, (जिन्दगी का लक्ष्य) मकसदे ज़िन्दगी और सलीक़ये ज़िन्दगी का मसला इस कदर हैरतनाक तौर पर पेचीदा और इस क़दर बेअत फैलाव रखता है कि इंसान, जो अभी तक तिफ्ले मक्तब से ज़्यादा हैसियत हासिल नहीं कर सकता है, सरे दस्त ज़िन्दगी की कोई मुकम्मल शरीयत पेश करने से क़तई माज़ूर व क़ासिर (असमर्थ) है।

लेकिन यह भी कोई आकिलाना बात न होगी कि अपनी इस मजबूरी के सामने हम हाथ-ढीले कर दें और ख़ामोश होकर बैठ जायें। बहरहाल मुनासिब यह मालूम होता है कि तो बढ़ई के रंदे की तरह काम करें जो सब कुछ दूसरी ही तरफ फेंकता रहता है, और न बसूले ही की मानिन्द अमल करें जो सब कुछ अपनी ही तरफ खींचता रहता है बल्कि हमें चाहिये कि हम आरी की सूरत से काम करें जो दूसरी तरफ भी कुछ फेंकती है और अपनी तरफ़ भी।

हर नारमल आदमी का यह फ़र्ज़ है कि वह जिस्मानी और ज़ेहनी तौर पर तन्दुरस्त और क़वी (पुष्ट) रहे। जिस्मानी सेहत को बरक़रार बनाने के जो उसूल हैं उनसे हर पढ़ा लिखा आदमी वाक़िफ़ है, लेकिन ज़ेहनी तन्दुरस्ती के उसूल अच्छे अच्छे तालीमयाफ़्ता लोगों को भी मालूम नहीं।

फासिद ख़यालात, नस्ली, मज़हबी और कौमी तास्सुबात और इसके साथ ही ख़ौफ़, गुस्सा, गम और नफरत इंसान के ज़ेहन को बीमार कर देते हैं। इसलिये हर साहिबे नज़र का फ़र्ज है कि वह ठंडे दिल से अपने बातिन का जायज़ा ले और देखे कि इन अमराज़ में से कोई मर्ज इसके ज़ेहन को दबोचे तो नहीं हुए है।

बीमार जिस्म आसानी से दुरुस्त हो जाता है, लेकिन बीमार ज़ेहन का इलाज मुश्किल है और ज़ेहनी अमराज़ से सिर्फ वही लोग नजात हासिल कर सकते हैं जिन्हें इसमें हिम्मत की दौलत हासिल है। और इसके साथ साथ इन का दिल इस कदर मसर्रतों से भर जाता है कि उसमें गम दाख़िल ही नहीं हो सकता। मिर्ज़ा गालिब ने कहा है —

गम नहीं होता है आज़ादों को बेशअज़ यक नफ़स,
बरक से करते हैं रौशन शमाए मातमखाना हम।

इसलिये मेरे नज़दीक तो जिन्दगी बसर करने का बेहतरीन सलीक़ा सिर्फ़ उसे हासिल है जो इस दुनिया में अक्ली जिन्दगी बसर करता है। जो दूसरों और अपने को नुक़सान या तकलीफ पहुँचाये बगैर इस ज़िन्दगी की तमाम ज़ेहनी व जिस्मानी लज़्ज़तों से इस तरह लुत्फ़ उठाता है जैसे भीगे हुए कपड़े को सख़्ती से निचोड़ दिया जाता है। ऐसा आदमी दूसरों के भी काम आता है और अपने काम भी आता है। दूसरे को भी हत्तलवसा ख़ुश रखता है। सोसाइटी को भी आगे बढ़ाता है और ख़ुद भी आगे बढ़ता है। ख़ुद भी जीता है और दूसरों को भी जीने में सहारा देता है। और इसके साथ-साथ, न ख़ुदा से डरता है और न बन्दे से, बल्कि इस के नज़दीक जो चीज अक्लन दुरुस्त होती है, डंके की चोट उसका ऐलान करता है और पर वाह नहीं करता कि दुनिया इसकी दुश्मन हो जायेगी। बेशक, ऐसा इंसान इस ज़मीन की ऐसी दौलत है कि उसके कदमों की ख़ाक पर आसमान के सितारों को भी निछावर किया जा सकता है, और उसके वजूद के दरवाज़े पर चाँद सूरज रौशनी की भीख मांगने जा सकते हैं।

लगे हाथों कुछ अपने मुताल्लिक़ भी कह दूं। यह सही है कि मैं भटक कर जल्द राहे-रास्त पर आ जाता या जल्द आ जाने की कोशिश जरूर करता हूँ, लेकिन तजुर्बा व अक्ल के बावजूद अब भी बार बार भटक जाता हूँ।

कौन कह सकता है कि उस क़बीले के हक मे जिसका मैं एक फर्द हूँ शायद यह बार बार का भटक जाना ही मुनासिब व मुफीद हो! किसे मालूम कि जब हम भटक जाते हैं। उस वक्त राहे-रास्त पर होते है, या जिस वक्त हम राहे-रास्त पर होते है, उस वक्त भटके हुए होते हैं।

मुख्तसर यह कि हम लोगों पर बडे अफ़सोस या बडी खुशी के साथ यह चस्पाँ किया जा सकता है—

अब नी इक उम्र पै जीन का न अन्दाज आया,
जिन्दगी छोड दे पीछा मेरा, मैं बाज़ आया।

—दिल्ली से प्रसारित

हिन्दी में विभिन्न भाषाओं के अनुवाद

रामचन्द्र वर्मा

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में ईसवी उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशक और बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक तीन दशक 'अनुवाद प्रधान युग' के नाम से अभिहित होगे। इन ५० वर्षों में हिन्दी में अधिकतर अनुवाद ही हुए थे। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। आधुनिक हिन्दी ने अपने बाल्यकाल में अंग्रेज़ी, उर्दू और बंगला का सहारा लिया था। उसके बाद मराठी, गुजराती आदि की बारी आई थी।

हम कह सकते है कि अनुवाद प्राय साहित्य वृक्ष की जड का काम देते है। इसी जड से वह उन्नत मानिक साहित्य बनता है, जो उस वृक्ष के तने और डालियों के रूप में विस्तृत और विशाल होकर लोक को शीतल छाया, शुभ फल और मनोहर सुगन्ध प्रदान करता है। अनुवादों की यह आवश्यकता यहीं समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि बराबर बनी रहती है और उत्तरोत्तर बढती चलती है। अंग्रेज़ी साहित्य का बहुत कुछ प्राधान्य और महत्त्व इसलिये भी है कि उसमें ससार भर की भाषाओं के प्राय सभी प्रकार के उच्चकोटि के ग्रन्थों के अनुवाद भरे पडे हैं। अत हमें अनुवादों को कभी उपेक्ष्य या तुच्छ नहीं समझना चाहिये।

आरम्भिक हिन्दी-साहित्य पर अंग्रेज़ी और बंगला के सिवा इसलिये उर्दू की भी अधिक

छाया पड़ने लगी थी कि उर्दू तात्विक दृष्टि से हिन्दी से कोई भिन्न भाषा नहीं थी। हिन्दी में उर्दू की कृपा से पहले तो 'इन्दर सभा,' 'हातिम ताई' और सहस्र रजनी' सरीखे किस्से और कहानियाँ आई, और तब ऐयारी तथा तिलस्मी उपन्यास। इनके कुछ आगे बढ़ने पर स्व० रामकृष्ण वर्मा ने काजी अजीजउद्दीन अहमद के एक उपन्यास का हिन्दी में संसार दर्पण के नाम से अनुवाद किया। उनके 'अमला वृत्तान्त माला', 'ठग वृत्तान्त माला', 'पुलिस वृत्तान्त माला' आदि ग्रन्थ भी उर्दू से ही लिये गये थे। उन दिनों पारसी नाटकों की धूम थी, और भाषा पूर्णत उर्दू होती थी। साधारण जनता के मनोरंजन के लिए आगा हश्र काश्मीरी के उर्दू नाटकों तथा उन्हीं की तरह के कुछ और नाटककारों के नाटकों के हिन्दी अनुवाद कुछ दिनों तक खूब हुए और चले। इसके बाद कुछ उच्चकोटि के साहित्य की बारी आई। ऐसे साहित्य में मुख्य स्थान स्व० प्रेमचन्द कृत 'आजाद कथा' का है जो उर्दू के सुप्रसिद्ध लेखक रतननाथ सरशार कृत 'फसाने आजाद' का छायानुवाद था। तब से सरशार की ओर भी कई अच्छी रचनाएँ हिन्दी में आ गईं। 'मिर्ज़ा रुसवा','कामिनी', 'पी कहा' आदि। इसी समय के लगभग ख्वाजा हसन निज़ामी तथा मिर्ज़ा अजीमबेग चगताई सरीखे उच्चकोटि के उर्दू लेखकों की कृतियों से भी हिन्दी वालों का परिचय कराया जाने लगा। हसन निजामी की कई कृतियाँ हिन्दी में बहुत चाव से पढ़ी गईं, जिनमें 'गदर के पत्र', 'मुगलों के अन्तिम दिन', बेचारे अंग्रेजों की विपदा' आदि मुख्य है। चगताई साहब हास्य रस के उच्चकोटि के लेखक थे, अत उनके अनेक उपन्यासों तथा कहानी-संग्रहों का हिन्दी में बहुत आदर हुआ। उनके उपन्यासों में 'शरीरी बीवी' और 'फुल बूट' प्रसिद्ध हैं। 'मिर्जा जंगी' उनके प्रहसनों का और 'कोलतार' कहानियों का अच्छा संग्रह है। इनके सिवा कुछ गम्भीर विषयों का भी थोड़ा बहुत साहित्य उर्दू से आया है, जिसमें मौलाना मुहम्मद हुसेन आजाद कृत 'दरबारे अकबरी' का हिन्दी अनुवाद 'अकबरी दरबार' उल्लेखनीय है।

उर्दू-कविताओं की ओर भी हिन्दी वाले बहुत पहले प्रवृत्त हुए थे। इस शती के आरम्भ में 'चमनिस्तान हमेशा बहार' नाम की एक पुस्तक चार भागों में छपी थी, जिसमें उर्दू के प्रसिद्ध शायरों की गजलें देवनागरी लिपि में थीं। बीच में कुछ दिनों यह क्षेत्र बिलकुल सूना रहा। पर अब इस ओर भी हिन्दी वालों का ध्यान जाने लगा है, और गालिब, नजीर, अकबर, बिसमिल सरीखे उच्च-कोटि के उर्दू-कवियों की रचनाएं भी हिन्दी में आने लगी हैं। यह रास्ता 'कविता कौमुदी' के चौथे भाग ने दिखलाया था, जिसमें उर्दू के श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं का संग्रह था। इधर हाल में इस ढंग की दो बहुत ही सुन्दर पुस्तकें निकली हैं जिनके नाम है 'शेरो सखुन' और 'शेरो शायरी'। इनके सम्पादक श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय हैं।

स्वर्गीय प्रेमचन्द ने उर्दू से हिन्दी में आकर बहुत अधिक आदर और यश पाया था। इसके सिवा हिन्दी का प्रचार भी दिन दूना और रात चौगुना हो रहा था। इसलिये हिन्दी ने अनेक उर्दू लेखकों को अपनी ओर खींचा है। ऐसे लेखकों में उपेन्द्रनाथ अश्क, सुदर्शन, फिराक, रहबर आदि मुख्य हैं, जिनके आने से हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि में विशेष सहायता मिली है।

उर्दू के साथ ही फारसी और अरबी भी लगी है इसलिये इनकी भी कुछ चर्चा करना आवश्यक है। यों तो आधुनिक युग से पहले ही 'गुलिस्ता', 'बोस्ता', 'करीमा', 'मामु की मा', 'बहार दानिश' आदि के गद्य और पद्य में कुछ अविकल और कुछ छायारूप में अनुवाद हो चुके थे पर इधर हाल में फारसी से हिन्दी में बहुत ही थोड़ा साहित्य आया है। जोधपुर के स्व० देवीप्रसाद मुंसिफ न इस शती के आरम्भ में फारसी के अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर 'बाबरनामा', 'हुमायूंनामा',

'जहाँगीरनामा' आदि लिखे थे। उनके बाद काशी के ब्रजरत्नदास जी ने गुल बदन बेगम का 'हुमायूं नामा' और मुआसिर-उल्-उमरा का हिन्दी अनुवाद किया। फारसी के सुप्रसिद्ध कवि मौलाना जलालउद्दीन रूमी की मसनवी का भी हिन्दी गद्य में सारांश मिलता है।

मूल अरबी से अभी तक कदाचित् एक ही पुस्तक हिन्दी में आई है और वह है स्व० मु० महेशप्रसाद कृत 'सुलेमान सौदागर का यात्रा विवरण'। इसके बहुत पहले कुरान के कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ था। अरबी के सुप्रसिद्ध लेखक खलील जिब्रान की भी कुछ कृतियाँ हिन्दी में आ गई हैं, पर वे अरबी से नहीं बल्कि अँगरेजी से अनूदित हैं। इनमें 'जीवन-सन्देश', 'पगला' और 'बटोही' विशेष महत्त्व के हैं।

उर्दू के बाद हिन्दी के आस-पास की उन्नत भाषाओं में पहले गुजराती आती है। बंगला से हिन्दी का जैसा सामीप्य है बहुत कुछ वैसा ही गुजराती से भी है। इसके सिवा बंगालियों की ही तरह गुजराती भी वैष्णव धर्म की घनी छाया में रहने के कारण अधिक धर्म-निष्ठ, कोमल वृत्तियों वाले और भावुक होते हैं। ऐसे लोगों का दूसरों पर सदा अच्छा प्रभाव पड़ता है। इसीलिये आरम्भ में ही हिन्दी पर गुजराती का भी छाया पड़ने लगी थी। गुजराती से पहले पहल हिन्दी में अनुवाद करने वालों में मुख्य स्थान संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का है, जिन्होंने 'प्रेमकुञ्ज', 'जया जयन्त', 'उषा', 'युग पलटा' 'राष्ट्र का दर्शन' आदि नाटकों का अनुवाद किया था। इसी समय या इसके कुछ ही बाद स्व० अमृतलाल सुन्दर पंड्या की कई नैतिक और धार्मिक पुस्तकों का अनुवाद स्व० महावीर गहमरी ने क्रियों का स्वर्ग 'स्वर्ग की सीढ़ी', 'स्वर्ग के रत्न' 'भाग्य फेरने की कुंजी' आदि नामों से किया था। कमला

शंकर त्रिवेदी कृत 'नीति विवेचन' मनसुख राम त्रिपाठी कृत 'अभ्युदय' और 'स्वावलम्बन' और शिवप्रसाद बलवन्तराम पंडित कृत पुस्तक का अनुवाद 'भारत के स्त्री रत्न' इसी वर्ग में है। श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई कृत 'चन्द्रकान्त' का भी हिन्दी अनुवाद हुआ है जो वेदान्त का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जब सारे देश का ध्यान महात्मा गांधी की ओर खिंचने लगा तो उनकी गुजराती कृतियों के अनुवाद हिन्दी में होने लगे। गुजराती में अच्छे-अच्छे ग्रन्थ निकलने लगे तो काका कालेलकर, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', शंकरदेव विद्यालंकार, वंशीधर विद्यालंकार, नागार्जुन आदि ने अनेक अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद हिन्दी को भेंट किये। स्व० महादेव देसाई की पुस्तकों के अनुवाद हिन्दी में 'एक धर्म युद्ध' और इंग्लैंड में 'महात्मा जी' के नाम से वर्तमान हैं। इनके सिवा 'मशीन और उद्योग' 'इतना तो जानो' 'खादी मीमांसा' 'शिक्षा में नई दृष्टि' 'ग्राम-सेवा के दस कार्यक्रम' आदि पुस्तकें भी विशेष उपादेय हैं।

गुजराती के अनेक अच्छे उपन्यासों के अनुवाद भी हिन्दी में आ गये हैं। इनमें सुप्रसिद्ध साहित्यकार और उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के उपन्यासों का स्थान मुख्य है। इनमें 'पाटन का प्रभुत्व', 'पृथ्वी वल्लभ', 'जयसोमनाथ', 'गुजरात के नाथ', 'प्रतिशोध', परदे की आड़ में', 'राजाधिराज लोमहर्षिणी', 'अतीत के स्वप्न', 'शम्बर कन्या', 'स्वप्नद्रष्टा', 'और सीधी चढ़ान' मुख्य हैं। रमणलाल वसन्तलाल देसाई के उपन्यासों में से 'स्नेह यज्ञ', 'कोकिला' और 'पैसा' भी हिन्दी में आ चुके हैं।

मराठी की ओर हिन्दी वालों का ध्यान अपेक्षाकृत बाद में गया था। आधुनिक साहित्यिक क्षेत्र में स्व० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी से 'प्रणयी माधव' नामक उपन्यास और विष्णु-शास्त्री चिपलूणकर कृत 'निबन्धमालादर्श' तथा 'इतिहास' नामक निबन्ध का हिन्दी अनुवाद किया। इसी समय के लगभग दत्तात्रेय

बलवन्त पारसनीस कृत मराठी ग्रन्थ के आधार पर 'झाँसी की रानी' निकली थी और स्व० नृसिंह चिन्तामणि केलकर कृत ग्रथो के अनुवाद 'सुभाषित और विनोद' तथा 'आयरलैंड का इतिहास' छपे थे। लोकमान्य तिलक के गीता रहस्य का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होने पर अनेक विषयो के मराठी ग्रन्थो के हिन्दी अनुवाद निकलने लगे। 'दासबोध' और 'ज्ञानेश्वरी' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो के तो हिन्दी में दो दो अनुवाद हुए। मराठी के सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखक हरिनारायण आप्टे के अनेक उपन्यासो के भी अनुवाद हुए जिनमे 'अज्ञेय तारा,' 'उषा काल,' 'रागिणी,' 'चाणक्य और चन्द्रगुप्त,' 'रूपनगर की राजकुमारी,' 'वज्राघात,' 'सम्राट् चन्द्रगुप्त' आदि मुख्य है। गजानन त्र्यम्बक के 'उपेक्षिता' और 'कान्ता' नामक उपन्यास भी हिन्दी में आ गये है। बालचन्द नानचन्द शाह का 'छत्रसाल' का अनुवाद भी विशेष लोकप्रिय हुआ है। हास्यरस की अनेक मराठी कहानियों के सग्रह भी हिन्दी मे निकले है, जिनमे 'एप्रिल फूल,' 'त्रिकट प्रश्न' और चेयरमैन का चुनाव' प्रसिद्ध हैं।

गम्भीर विषयो की पुस्तकों मे भी विनायक दामोदर सावरकर कृत 'भारतीय स्वातन्त्र्य समर' और 'काला पानी,' जी० एस० खेर कृत, 'ससार [illegible] और 'हिन्दुस्थान' और रामचन्द्र [illegible] कुलकर्णी के 'स्वप्न विश्राम' के हिन्दी अनुवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इधर काका कालेलकर के 'लोक जीवन साहित्य' 'जिन्दा बनो', 'स्वदेशी धर्म' आदि और आचार्य विनोबा भावे के 'स्वराज्य शास्त्र' और 'खादी और गादी की लडाई' के नाम से जो अनुवाद हुए हैं, वे विशेष महत्त्व के है। इनके अतिरिक्त मराठी से अनुवादित पुस्तको में 'गृह लक्ष्मी,' दम्पत्ति शिक्षक,' 'सन्तति रत्न,' आदि पुस्तकें भी अच्छी हैं।

खेद है कि दक्षिण भारत की कन्नड, तमिल, तेलगू आदि उन्नत भाषाओं के अनुवाद अभी तक हिन्दी मे नहीं आ सके हैं। अभी तक हम दक्षिण भारत के साहित्यों से सम्पर्क स्थापित करने मे असमर्थ रहे है। कारण यही है कि उन साहित्यों की लिपियों का स्वरूप हमारे लिये बहुत कुछ परकीय है। उनकी भाषा हमारे लिये उतनी दुरूह नहीं है जितनी उनकी लिपि। नाम लेने को तमिल के सुप्रसिद्ध कवि तिरुवल्लुवर कृत 'तिरुक्कुरल' ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद 'तमिल वेद' के नाम से है, पर वह अँग्रेज़ी के द्वारा आया है। हाँ, तेलगू नाटककार मुद्दु कृष्ण के दो एकाकी नाटको के हिन्दी मे 'अशोक वन' और 'अनारकली' के नाम से जो अनुवाद हैं वे मूल से हुए हैं। दक्षिण भारत की भाषाओं का साहित्य भडार ऐसे सैकडो ग्रन्थ रत्नो से भरा पडा है जिनका हिन्दी मे उल्था होना बहुत आवश्यक है।

—इलाहाबाद से प्रसारित

गाँव की बिरहन

केदारनाथ सिंह

रात पिया, पिछवारे पहरू ठनका किया।
कँप कँप कर दिया जला
बुझ बुझ कर यह जिया,
मेरा अँग अँग जैसे
पछुवे ने छू दिया,
बड़ी रात गये कहीं पपिहा पिहका किया।
आँखड़िया पगली की
याद हुई चोर की,
आ आ कर बार-बार
बाट रुकी लोर की,
रह-रह कर खिड़की का पल्ला उलका किया।
पथरायें तारों की
ज्योति डगडगा गई,
मन की अनकही सभी
आँखों में छा गई,
सुना क्या न तुमने, यह दिल जो धड़का किया?

—इलाहाबाद से प्रसारित

मेरी माँ

इंदिरा गांधी

मेरी माँ, इस विषय पर लड़की का बोलना कितना कठिन है। मन में हजारों तस्वीरें आती हैं। कोन सी आपके सामने रखूँ, अपने रंज को भूलने के लिये उन सबको बरसों से छुपाने की कोशिश कर रही थी लेकिन आपके लिये उनका पर्दा खोलती हूँ। कुछ खास बात तो बतला नहीं सकती क्योंकि हमारी जिन्दगी जनता के सामने खुली किताब पड़ी है और आप उससे परिचित होंगे।

जो पहली बात मुझे याद है वह उस जमाने की है जब गांधी जी कुछ बरसों से हिन्दुस्तान में आये थे और सत्याग्रह, स्वदेशी और खादी जैसे इन्कलाबी ख्याल पैदा हुए थे। इनका असर मेरे पिता और दादा पर जोरों से पड़ा। दावतें बन्द हुईं। मखमल, [illegible]न इत्यादि उतारे गये और चौराहे पर खूब चमकती रंग बिरंगी गड्डी बना कर धूमधाम से जला दिये गये। खादी पहनना शुरू हुआ और वह कैसा खादी था। खुरदरा टाट जैसा मोटा। माँ का सारा शरीर छिल जाता था। लेकिन इस लिबास में भी उनकी खूबसूरती और नजाकत फूल जैसी खिलती थी।

गहने कपड़े का उनको बिलकुल शौक नहीं था। *अपने बचपन से अपने भाइयों के साथ* खेलती घूमती थीं, क्योंकि उनकी बहन उनसे बहुत छोटी थी। इस बात से उनको एक दफे काफी परेशानी उठानी पड़ी। जब वह नौ या दस साल की थीं तो कुछ समय के लिये *सारा* परिवार जयपुर गया। वहाँ सख्त पर्दा था और कमला जी से कहा गया कि वह केवल डोली में बैठ कर बाहर जा सकेंगी। रोने पीटने से कुछ नहीं बना। लेकिन जिसको अभी तक पूरी आजादी थी वह इस कैद में कैसे रहे। जब देखा कि उनका चेहरा उतरता जा रहा है और दिन पर दिन वजन घट रहा है, तो मेरी नानी घबराईं और एक तरकीब सोची। उस दिन से रोज सुबह वह अपने भाई के कपड़े पहन, बालों को पगड़ी में छिपा कर भाइयों के साथ घूमने जाती थीं। किसी को पता भी नहीं चला। लेकिन उनके सचेतन दिमाग पर इस घटना का भारी असर पड़ा और वह सदा पर्दे के विरुद्ध प्रचार करती रहीं।

एक दफे और भी उन्होंने मर्दों का लिबास पहना, सन् १९३० में जब वह कांग्रेस वालंटियर बनी थीं। मुझे भी बचपन से अक्सर लड़कों के कपड़े पहनाती थीं। इससे जनता को बड़ी हैरानी होती थी। अक्सर मुझ से लोग पूछते थे तुम्हारा भाई कहाँ है। मैं जवाब देती कि मेरा कोई भाई नहीं है, तो कहते वाह हमने अपनी आँख से देखा है। १७ *बरस की उम्र में जब वह अपने माता पिता के* घर को छोड़ कर आनन्द भवन की झलकती दुनिया में आईं तो उनको क्या मालूम था कि किस लम्बे और दुख भरे मार्ग पर चलना होगा।

इस वक्त तो मेरे दादा की वकालत खूब चल रही थी और वह प्रान्त के सबसे बड़े आदमियों में गिने जाते थे। बड़े दिमाग और बड़े दिल के आदमी थे, शौकीन तबियत के। खूब कमाते थे और खूब खरचते थे। हमारा घर हमेशा मेहमानों से भरा रहता — तरह-तरह के लोग, बड़े अफसर, लेखक, कवि, अंग्रेज, हिन्दुस्तानी, आदि। रोज़ दावतें होतीं और दादा जी की खुशी से घर गूँज उठता। घर के दो हिस्से थे। एक तरफ अंग्रेजी तरीके के बैठने और खाने के कमरे और दूसरे तरफ देसी तरीके के। रोज दोनों तरह के खाने बनते। मेरी फूफी की मेट्रन अंग्रेज थी और हमारा मोटर चलाने वाला भी एक मिस्टर डिक्सन था। काश्मीरी घरों में औरतें पर्दा नहीं करतीं और मेरी दादी विलायत घूम आई थीं। तब भी घर की सम्भाल और मेहमानदारी का बोझ अधिकतर माँ पर पड़ा। नये तरीके सीख ही रही थी कि जिन्दगी पलट गई और सारा परिवार बहुत जोरों से कांग्रेस के आन्दोलन में भाग लेने लगा। जेल की यात्राएँ तथा अनेक कठिनाईयाँ शुरू हुईं लेकिन अपने उत्साह और हिम्मत से उन्होंने गांधी जी पर कुछ असर डाला होगा। क्योंकि गांधी जी ने खास तौर पर स्त्रियों को पुकार दी कि वह भी बाहर निकलें और काम का बोझा उठाने में अपने भाइयों की सहायता दें। माँ अपने बचपन का प्रण नहीं भूली थीं। जीवन भर गांधी जी जहां जाते, औरतों को परदे से निकालने का प्रयत्न करते और समझाते कि अपने अधिकारों के लिये वे किस तरह लड़ें। उनके कहने से हजारों औरतें कांग्रेस का काम करने निकलीं। मां को अब बीमारी घेर रही थी, तब भी वह कांग्रेस की वालंटियर बनीं और लोगों में काम करती रहीं। बाद में जब नेता लोग गिरफ्तार होने लगे तो वह और जोरों से काम में पड़ीं और इलाहाबाद शहर तथा जिले का संगठन अपने ऊपर इस बल और दृढ़ता के साथ उठाया कि सब दंग रह गये। चारों ओर से उनकी योग्यता की प्रशंसा हुई। उनके पति जवाहरलाल जी और ससुर मोतीलाल जी तो फूले नहीं समाये। लेकिन सबके मन में चिन्ता भी थी, क्योंकि उनकी सेहत आहिस्ता-आहिस्ता टूट रही थी। मगर वह किसी की भी न सुनतीं। सन् १९३० में आखिर में वह वर्किंग कमेटी की सदस्या बनाई गईं और थोड़े दिन बाद ही गिरफ्तार कर ली गईं। गिरफ्तारी की खबर रात ही को मिल गई थी। उस रात भर हम लोग जगे रहे। ऐसे मौके पर भी उनको दूसरों का ख्याल होता। जो भी काम अधूरे रह गये थे उन्हें पूरा करने की कोशिश की जिससे उनके जाने के बाद किसी को कठिनाई न हो।

कहते हैं कि जब दुख और पीड़ा इंसान पर पड़ती है तब ही उसका असली चेहरा दिखाई देता है। जो कमज़ोर होते हैं उनको दुख तोड़ कर दबा देता है। लेकिन जो बहादुर होते हैं वह उस दुख से सीख कर और बढ़ सकते हैं और उनमें से छिपी हुई ताक़त और स्वाभाविक सौन्दर्य चमक उठता है। कमला जी ऐसी ही थीं।

डाँटती तो वह कभी भी नहीं थीं, न ऊँची आवाज़ से बोलती थीं, लेकिन उनका प्रभाव ऐसा था कि जो कहतीं थीं वही होता था। हमारे यहाँ पंडित मदनमोहन मालवीय के भतीजे संस्कृत पढ़ाने आते थे। वह माँ का बहुत आदर करते और उनसे डरते भी थे। मुझे बड़ा आश्चर्य होता था कि इतनी मधुर, दुबली-पतली औरत से डर कैसा? पंडित जी कहते, 'अरे, तुम्हें नहीं मालूम? यह बड़ी शक्ति की देवी हैं, जो चाहे कर सकती हैं।' इस पर मां हमेशा हँसती थीं। परन्तु कुछ शक्ति उनमें जरूर थी, जो भी उनसे मिलता उस पर गहरा प्रभाव पड़ता। मैं तो मानती हूँ कि मेरे पिता जी पर भी उनके विचारों का गहरा असर पड़ा। अक्सर उनके पास साधू-महात्मा भी आकर बैठते थे।

जैसे पूजा-पाठ आम तौर से होता है उसमें वह बहुत विश्वास नहीं करती थीं। कहती थीं कि जो लोग ऊपर से ईश्वर का नाम लेते हैं लेकिन विचारों की उधेड़-बुन में पड़े रहते हैं, उन्हें

दिखावटी धर्म की ज़रूरत होती है । मन्दिर जाना भी इस वजह से पसन्द नहीं करती थीं। लेकिन माँ की भक्ति बहुत गहरी थी। रोज हम लोगों को गीता तथा रामायण का पाठ करवाती थीं। जैसे उसकी उम्र बढ़ती गई, उनकी यह भक्ति और एक अन्दरूनी शक्ति भी बढ़ती गई। बाद में वह अक्सर नदी के किनारे समाधि में घटों बैठी रहती थीं।

सेवा-भाव तो उनमें था ही। गरीबों की पढ़ाई और बहतरी में खास तौर पर दिलचस्पी लेतीं। जब १९२८ में मेरे दादा ने अपने बड़े घर को कांग्रेस को दान किया और उसका नाम "स्वराज्य भवन" रख दिया, तो मां ने उसके एक हिस्से में अस्पताल खोला।

३६ वर्ष की उम्र में अपने घर और प्यारे देश से हज़ारों मील दूर उनका देहान्त हुआ। आखिर तक वह मुस्कराती रहीं और उल्टे हम लोगों को साहस देती रहीं। उनकी आखिरी इच्छा थी कि उनका अस्पताल बन्द न होने पावे। इस इच्छा को पूरा करने के लिये महात्मा गांधी, पंडित मदनमोहन मालवीय और दूसरे सराहने वालों ने उस स्मारक के नाम से इलाहाबाद में स्त्रियों के लिये अस्पताल खोल दिया। गांधी जी के हाथों उसका उद्घाटन हुआ। सैकड़ों मील से मरीज़ आते हैं। मुझे खुशी है कि जैसी सेवा वे अपने जीवन में करती थीं वैसी ही उनके नाम से अब भी हो रही है।

—दिल्ली से प्रसारित

श्रमदान

श्रमदान की तदबीर से बेहतर देहात की तरक्की के लिये और कोई तदबीर मालूम नहीं होती क्योंकि इतने बड़े काम के लिये बहुत ज्यादा रुपये की जरूरत है। सरकार जो कुछ इस काम पर खर्च कर रही है, वह काबिले तारीफ़ है। मगर सरकार जो करना चाहती है वह इतने बड़े पैमाने पर है कि यह रकम उसके लिहाज से बहुत ही कम है।

यह बात जनता को पूरी तौर से समझ लेनी चाहिये कि कोई भी सरकार देश की दशा सुधार नहीं सकती, जब तक कि लोग अपनी मदद को आप तैयार नहीं हों। हुकूमत तो मौजूदा हालात में इतना कर सकती है कि वह जनता की ऐसी मदद करे कि वह अपनी मदद आप कर सके। मसल मशहूर है कि परमेश्वर उन्हीं की मदद करता है जो अपनी मदद आप करते हैं। जरा सोचिये तो अगर किसी गाँव की जनता ने मिल-जुल कर अपने गाँव में पहुँचने वाले रास्ते को ठीक कर लिया तो वहाँ के लोगों को हर तरह की आसानी होगी। अगर पंचायतघर या गाँव का स्कूल जनता ने बना लिया तो उन्हीं के फ़ायदे की बात है। गाँव में ऐसी जगह हो जायेगी जहां दोस्त और दुश्मन दोनों को एक जगह मिलने का मौका हो जायेगा।

अगर गाँव के लोगों ने तालाब, कुआँ और बाँध बना लिये, तो उन्हीं के लिये सींचने को पानी ज्यादा मिलेगा। इससे उनकी पैदावार ज्यादा होगी और उसके साथ ही साथ उनकी हैसियत बढ़ेगी। इस से साफ़ जाहिर है कि श्रमदान के जरिये जो काम किये जावेंगे वह महज जनता के फायदे के होंगे।

हमारे प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने इस सम्बन्ध में यह कहा है कि अधिकारियों को किसानों के पास जाना चाहिये और उनके मामलात समझने चाहियें। हमें उनके साथ रहना चाहिये और उनकी जबान में उन से बातचीत करनी चाहिये और उनसे कुछ सीखना चाहिये। खेती के कामों में उन्हें हजारों वर्षों का तजर्बा है, और बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनको वे ज्यादा जानते हैं। इन बातों को उनसे पहले सीखें और तब उनको सिखलाने का खयाल करें, वरना उन पर असर कुछ न होगा... ।

(विरानमान सिंह—दिल्ली)

पंच वर्षीय योजना

पिछड़ी जातियों की समस्याएँ

काका कालेलकर

पिछड़े हुए लोगों का सवाल समूची दुनिया को सता रहा है। हमारे देश में प्राचीन काल से पिछड़ी हुई जातियों का प्रश्न है ही। आर्यों ने औरों को अनार्य और दस्यु कहा। आर्यों ने वर्ण व्यवस्था चलाकर शिक्षा में एकांगिता दाखिल की। विरोधियों को दबा कर रखा और ऊँच-नीच के भेद की बुनियाद पर एक संस्कृति कायम की। चार वर्णों की जगह पर अनेकानेक जातियाँ बन गईं और समाज की एकता शिथिल होकर समाज छिन्न भिन्न-सा हो गया। स्त्री जाति का विकास एकांगी होकर रुक गया। क्षत्रियों की बहादुरी असाधारण होते हुए भी देश की रक्षा वे न कर सके। बनियों ने कल्पनातीत धन इकट्ठा किया। लेकिन वे राष्ट्रीय अर्थशास्त्र नहीं रच सके। ब्राह्मणों की विद्या लोकोत्तर होते हुए भी वह सामाजिक अवनति के लक्षण न पहचान सकी, न रोक सकी, और जो लोग राष्ट्र का सामर्थ्य बढ़ा सकते थे, वे हमारी गलत समाज नीति के कारण सामाजिक बोझ बन गये। हिन्दू जाति के सामने सबसे बड़ा सवाल खड़ा हो गया पिछड़ी जातियों का। लेकिन वे उस सवाल को समझ तक न सके।

इसके बाद हमारे देश में बाहर से नये-नये धर्म आये। उन्होंने हमारी पिछड़ी जातियों को कहा कि तुम हमारे दल में आजाओ तभी तुम्हारा उद्धार होगा। कइयों ने अनेकों कारणों से वह सलाह मानली, धर्मान्तर किया, लेकिन उनको कड़ुआ अनुभव हुआ कि धर्मांतर करने पर भी उनका पिछड़ापन तो कायम ही रहा। हमारे यहां सब धर्मों का एक स्थायी सम्मेलन स्थापित हुआ, लेकिन पिछड़ी हुई जातियों का पिछड़ापन दूर न हो सका।

जिन क्षत्रियों ने लड़ाई में हारने के बाद शरण जाने की अपेक्षा जंगलों में जा रहना पसंद किया उनकी भी पिछड़ी जातियाँ बन गईं। वन्य जातियां विराट समाज में घुल-मिल न सकने के कारण पिछड़ गईं। देश के असंख्य कारीगर लोग शिक्षा के अभाव में और धंधे छूट जाने से पिछड़ गये। जिस देश का कारीगर वर्ग पिछड़ जाता है उसके लिये उन्नति के सब रास्ते बन्द हो जाते हैं।

सबसे आश्चर्य और चिन्ता की बात यह है कि भारत के स्वतंत्र होने पर भी और देश में एक भी आदमी पिछड़ा न रहे, ऐसा राष्ट्र का दृढ़ संकल्प होते हुए भी, पिछड़ापन हटाने का रास्ता ठीक दिखाई नहीं दे रहा है। पिछड़े हुए लोगों में से जितने भी हरिजन हैं और गिरिजन हैं और इनके अलावा बाकी के जितने जन हैं उन सबको हम अच्छी तरह से शिक्षा दें, उनको राजनैतिक अधिकार दें, हर तरह का ज़रूरी पक्षपात भी उनकी तरफ बतायें तो भी हम वर्गविहीन और जातिविहीन समाज की स्थापना करने में कठिनाइयाँ पाते हैं। पिछड़ापन दूर करने की कोशिश में ही जातिभेद और ऊंच-नीच का भेद मज़बूत होता है।

जो लोग रूढ़िवादी हैं, व्यक्तिगत या जातिगत स्वार्थ को ही समझ सकते हैं, वे देखते नहीं कि सामाजिक प्रगति का विरोध करके वे अपना ही नुकसान कर रहे हैं। ऊंच-नीच के भेद को दिल से न हटाने के कारण और समाज सुधार का छुपा विरोध कर वे राष्ट्र के और अपने सिर पर बहुत ही बड़ा आर्थिक बोझा उठा रहे हैं। रूढ़ीवादी लोग या तंग दिल से अपनी अपनी जाति का स्वार्थ देखने वाले लोग राष्ट्र की एकता नष्ट करते हैं और स्वयं पिछड़ जाते हैं।

यह सारी राष्ट्रीय कमजोरी अगर सफलता से दूर करनी है तो हमें मनोरचना ही बदलनी चाहिये। सामाजिक आदर्शों में ही क्रान्ति करनी चाहिये। विवाह के बंधन बदलने चाहियें। सब जातियों को सब धर्मों को और सब वर्गों को समानता की नजर से देखना चाहिये।

हिन्दू समाज में अछूत जातियां कौन कौन सी हैं इसकी परिगणना हो चुकी है। इन हरिजनों के लिये विशेष शिक्षा का प्रबन्ध राष्ट्र ने किया है। विराट समाज से अलग रहने वाली वन्य जातियों की परिगणना भी हो चुकी है। इन दोनों की फहरिस्त में जो कुछ भी भूलें रह गई हैं वे सुधार दी जायेंगी।

इसके अलावा जो बाकी की पिछड़ी हुई जातियां हैं — चाहे वे हिन्दू समाज की हों, मुसलमानों की हों या ईसाइयों की हों, इन सबकी परिगणना की जायेगी। उनकी शिक्षा आदि का विशेष प्रबन्ध किया जायेगा। जिन जातियों के प्रति समाज ने बड़ा अन्याय करके उन्हें जरायमपेशा करार दिया था और जो अभी अभी इस अभिशाप से विमोचित हुई हैं, उन सबका विचार करना है। स्वराज का आनन्द और स्वराज का नूर हर एक चेहरे पर प्रकट हो, यह हमारा मकसद है।

भारत के नेताओं ने स्वराज्य पाते ही हिम्मत-पूर्वक एक महान् सार्वभौम और आस्तिक संकल्प किया और इस संकल्प के द्वारा उन्होंने इतनी बड़ी विशाल क्रांति आसानी से कर डाली कि अब छोटी मोटी विस्फोटक क्रांतियां होने की सम्भावना टूट गई। भारत के नेताओं ने एक ऐसा विधान बनाया जिस के द्वारा देश के सब के सब पुख्ता उमर लोगों को वोट का अधिकार मिल गया। मानव जाति की सज्जनता पर इतना विश्वास और किसी भी राष्ट्र ने नहीं किया था। जिन लोगों को हम पिछड़ी हुई जातियाँ

कहते आये हैं और निम्न में उपेक्षित जातियाँ कहता हूँ, उनकी कुल तादाद करीब १५ करोड़ गिनी जाती है। इन लोगों को वोट देने के अधिकार मिल चुके हैं। इन लोगों को स्वराज्य का अर्थ समझाकर इनकी रज़ामन्दी से ही हिन्दुस्तान का राज्य चल सकता है।

जहां लोकतन्त्र के अनुसार राज्य चलता है वहाँ पर वोट देने वाले लोग ही देश के मालिक होते हैं। उनकी अज्ञानता और उनकी तंगदिली देश को नुकसान पहुँचायेगी और स्वराज्य को तोड़ देगी। आत्मरक्षा के लिए भी अब इन सब लोगों को उत्तम शिक्षा देकर स्वराज्य के आदर्श समझाने चाहियें। इनकी कमजोरी देश की कमज़ोरी

होगी। इनका सामर्थ्य देश का सामर्थ्य होगा। यह है पिछड़ी हुई जातियों की समस्या का रहस्य। स्वराज्य का उग्र आन्दोलन चलाते समय महात्मा गांधी ने देश की इस आन्तरिक कमज़ोरी की ओर हमारा ध्यान खींचा। तब से यह सारा सवाल हमारे सामने नया रूप धारण करके खड़ा हुआ है। और यही कारण है कि हमारे राष्ट्र ने अपने विधान में इस सवाल को महत्व का स्थान देकर उसका कायमी हल सुझाया है। हमारी पंचवर्षीय योजना में इस समस्या को योग्य रूप से हल करने की कोशिश की गई है, और यही कारण है कि हमारे राष्ट्र ने पिछड़ी हुई जातियों की समस्या का हल सुझाने के लिये एक खास कमीशन नियुक्त किया है।

अगर हम अपने देश की पिछड़ी हुई जातियों की समस्या का सच्चा और स्थायी हल ढूंढ सकें तो उस अनुभव के जोर पर हम सारी दुनिया की विशाल समस्या को जिसे अन्तर्जातीय सम्बन्ध (Racial relations) कह सकते हैं, हल करने की शक्ति पा सकेंगे।

—दिल्ली से प्रसारित

आदिवासियों के जीवन की झाँकी

आदिवासी बड़े घुमक्कड़ और स्वतन्त्रताप्रिय होते हैं। जंगलों में भ्रमण करना, तीर चलाना, नदी नालों में मछली मारना, नदी किनारे और चट्टानों पर बैठ कर बांसुरी बजाना आदिवासी बहुत पसन्द करते हैं और यही कारण है कि आज के हिन्दुस्तान में गंगा, यमुना और सिंध की तराइयों में ही नहीं, किन्तु ऊंचे ऊँचे पहाड़ों पर, छोटा नागपुर के प्लेटों पर और विशेषकर जंगलों में वास करते हैं।

आदिवासी बहुत सीधे सादे, स्वच्छन्द और बड़े प्रेमी होते हैं। सन्त विनोबा जी भी कहते हैं कि इनकी ज़िन्दगी में प्रेम ही प्रेम है। इन्हें सत्य बोलना प्रिय है।

हाल ही में हमारे प्रधान मंत्री श्री नेहरू मध्यभारत तथा आसाम के आदिवासी क्षेत्रों में दौरा करने गये थे। आदिवासियों की एक सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा कि दूसरी जातियाँ आदिवासियों के रहन सहन के ढंग, उनकी भाषा और उनके रिवाजों को समझने का यत्न करें। वे उनकी इच्छा के विरुद्ध उन पर कोई चीज न लादें और न उनकी किसी संस्था को बदलने का यत्न करें, क्योंकि इससे उनकी भावनाओं को ठेस लगेगी। प्रगति धीरे-धीरे होती है और आदिवासियों की अवस्था भी निरन्तर प्रयत्न से ही सुधरेगी। उनकी स्थिति सुधारने के लिये सरकार दृढ़ है

(हरमन टक्करा—पटना)

मैं उनकी तबीयत से परेशान हूँ

मिर्ज़ा महमूद बेग

यह तो सच है कि मैं उनकी तबियत से परेशान हूँ, मगर आप जो कुछ कहूँगा, वह शिकायत नहीं है, उनकी बुराई नहीं है। वह न कभी बुरी थीं न बुरी हैं न बुरी हो सकती हैं और उनकी शिकायत तोबा तोबा, मेरी यह मजाल कहाँ, बात सिर्फ इतनी है कि बुराई मेरी अपनी ही है, उनमें एक नहीं। बहुत सी खूबियाँ हैं। अगर उनको अपने लायक पति मिलता तो दोनों के नसीब जाग जाते। मगर दुनिया में भला ऐसा कब और कहाँ होता है? शादी के वक्त ख़ानदान, तालीम दौलत, नाक नक्शा, रंग, क़द सब कुछ देख लेते हैं, मगर तबीयत न देखी जाती है, न देखी जा सकती है। इसका हाल तो बरतने से खुलता है, मगर उस वक्त जब कदम लौटाये नहीं जा सकते। क़हरे दरवेश बर जाने दरवेश, सब कुछ अपनी जान पर ही झेलना पड़ता है। सो मैं झेल रहा हूँ।

आप इससे यह अन्दाज़ा न लगा लें कि घर में हमारे हर वक्त रंजिश या क्लेश रहता है। बिल्कुल नहीं। क्योंकि निहायत ख़ामोशी से सब परेशानियाँ मैं खुद उठाता हूँ। उनको न तो परेशान होने देता हूँ, न परेशान देखना चाहता हूँ, और खुद वह इतनी भोली हैं कि मेरी परेशानी उनको मालूम ही नहीं हो सकती। अगर कभी दबे लफ़्ज़ों में मैंने एक आध बात का ज़िक्र भी किया तो कह दिया करती हैं—तो फिर क्या हुआ। और कुछ इस तरह कहती हैं कि मैं इस तरह की परेशानियों को आराम समझने लगता हूँ।

उनकी एक खूबी हो तो ज़िक्र करूँ। सबसे बड़ी खूबी तो यही है कि वह मेरा बहुत ज़्यादा ख़याल रखती हैं। उनको हर वक्त ख़याल रहता है कि मेरी सेहत ख़राब न हो जाये। इसलिये पहनने ओढ़ने, उठने-बैठने, खाने पीने, सबका ध्यान रखती हैं। उनको यह यक़ीन है कि ऊन सर्दी रोकने के लिए काफी नहीं, इसलिये उनको खुश करने के लिये मुझे रुई की सदरी पहननी पड़ती है। चूंकि दोस्तों और दफ़्तर वालों का भी ख़याल है, इसलिये सदरी क़मीज़ के नीचे पहनता हूँ और ऊपर स्वेटर और कोट। इसकी वजह से जिस्म मुख़्तलिफ़ जगह से फूला फूला लगता है। लोग समझते हैं कि या तो मैंने दौलत बहुत जमा करली है या मैं घी दूध बहुत इस्तेमाल करता हूँ। अब मैं उनको क्या बताऊँ कि हक़ीक़त क्या है, अपनी रुई की सदरी तो दिखाने से रहा।

खाने पीने में भी हर बात का ख़याल रखा जाता है। स्कूल में शायद Domestic Science की किताब में कुछ पढ़ा होगा। उसमें विटामिन्ज़ का भी ज़िक्र आया होगा। बस अब हर खाना गोया डाक्टरी नुसख़ा है। मुझे हुक्म है कि दिन में एक सेब खाऊँ और एक टमाटर ज़रूर खाऊँ। चीज़ें दोनों अच्छी हैं। अगर मुझे अपनी मर्ज़ी पर छोड़ दिया जाय तो शायद कभी कभी एक से ज्यादा भी खालूँ। मगर डाक्टरी नुसख़े के तौर पर इन दोनों चीज़ों की शक्ल देखते ही रही सही भूख ख़त्म हो जाती है। खाता हूँ, मगर उगल-उगल कर, और वह सामने बैठी रहती हैं। मैंने कई दफ़ा कहा कि लाओ दफ़्तर ले जाऊँ, वहाँ खा लूंगा। मगर मेरा एतबार कौन करे?

मुझे दूध और अंडे दोनों पसन्द हैं। मगर हुक्म है कि दूध में कच्चे अंडे डालकर

पियो। अंडे को तलने से या उबालने से उसके विटामिन्ज़ ख़त्म हो जाते हैं। और साहब, मैं इस ही तरह पीता हूँ, हाँ नाक बन्द कर लेता हूँ। क्योंकि ज़ायका और महक कुछ काड लिवर आयल की सी हो जाती है।

इसी तरह उठने-बैठने पर पाबन्दियां हैं। इस वक्त उठो, इस वक्त सैर को जाओ, इस वक्त नहाओ, इस वक्त नाश्ता करो, इस वक्त खाना खाओ। खाने के बाद इतनी देर दायें करवट लेटो, इतनी देर बायें करवट और इतनी देर चित्त—और मैं करता हूं, बिल्कुल घड़ी देखकर। मजाल है एक मिनट इधर, एक मिनट उधर हो जाये। क्योंकि अगर कभी मुझे ज़ुकाम हो जाये या मामूली खांसी हो या एक वक्त भूख न लगे तो मेरी बीवी को फौरन याद आ जाता है कि मैंने सुस्ती की वजह से फलां वक्त फलां हिदायत पर अमल नहीं किया था, और चूँकि मैं बहस से बहुत घबराता हूं और जब से बीवी ने मुझ पर ऐतबार करना कम कर दिया, ख़ुद मुझे अपने ऊपर ऐतबार कम है, इसलिये तसलीम कर लेता हूं कि हां साहब, चूक हो गई। अगली दफा अगर भूलें तो बस क्या बताऊँ, घर क्या है, फौजी कैम्प है।

सबसे ज़्यादा ख़याल उनको घर के बजट का है। मेरी आमदनी महदूद, न ऊपर से अल्ला का फज़ल, न बाप दादा का विर्सा, बस जो है तनख्वाह पर ही दारोमदार है। मगर मेरे ख़याल में तनख़्वाह इतनी ज़रूर है कि मामूली एहतियात से महीना बग़ैर कर्ज़ लिये गुज़ारा जा सकता है और शायद दस पांच की बचत भी हो जाये। मगर मेरी बीवी को अपनी दसवीं जमायत के डोमेस्टिक साइंस से जहाँ विटामिन्ज़ याद हैं वहाँ उस का बजट भी याद है, और दूसरे आजकल के अख़बारों से भी उनको deficit और surplus और control सब कुछ मालूम है। इसलिये खाने-पीने, किराया, इन्श्योरेंस से जो कुछ बचता है, उसके चार हिस्से किये जाते हैं। एक हिस्सा बैंक में, दूसरा हिस्सा ज़ेवर के लिये जमा, तीसरा हिस्सा बीवी के कपड़ों के लिये वक्फ़, चौथा हिस्सा मेहमानदारी और नागहानी ज़रूरतों के लिये। आप शायद तक़सीम के असूल से वाक़िफ नहीं। लाइये, मैं बता दूँ जो कुछ बीवी ने बताया है। सुनिये।

बैंक में रुपया जमा करना ज़रूरी है: क़ौमी ख़िदमत के लिहाज से भी, अपनी हैसियत को बढ़ाने के ख़याल से भी और बुढ़ापे के ख़याल से भी। आपने च्यूटियाँ तो देखी होंगी। जमा करती हैं, आराम से रहती हैं। झींगुर और टिड्डे सब लंगोटी में फाग खेलते हैं और जाड़े में मर जाते हैं। मैं च्यूटा और टिड्डे की कहानी महीने में एक दफा ज़रूर सुन लेता हूँ।

ज़ेवर बनाना ज़रूरी है। एक तो रिश्तेदारों में नाक बनी रहती है, दूसरे बैंक वग़ैरा, सुना है, कभी कभी फेल हो जाते हैं। ऐसी हालत में ज़ेवर काम आता है। तीसरे बीवी पहनती हैं तो अच्छी लगती हैं। मगर याद रखिये कि ज़ेवर ख़ालिस सोने का हो। जड़ाऊ न हो, इससे कीमत आधी रह जाती है। यही वजह है कि मेरी बीवी को सिर्फ़ डायमण्ड की चूड़ियाँ, कड़े और बाज़ूबन्द पसन्द हैं।

बीवी के कपड़ों के लिये भी एक रकम अलग कर देनी जरूरी है, क्योंकि आप जानते हैं इसका ताल्लुक भी घर की इज़्ज़त और हैसियत से है। बार-बार ख़रीदने की ज़रूरत इस वास्ते पेश आती है कि नये नये फ़ैशन निकल आते हैं। मेरी बीवी को फैशन पसन्द नहीं है। मगर आप जानिये, ज़माने का साथ देना पड़ता है इसलिये यह ख़र्च भी बिल्कुल मजबूरी का है। रहा मेरे कपड़ों का सवाल, सो इनका ज़िक्र बेकार है। क्योंकि मिल वाले गर्मियों के लिये ख़ाकी ज़ीन और जाड़ों के लिये ख़ाकी गैबरडीन इतनी अच्छी और मज़बूत बनाते हैं कि सालों चलती है। और यह गनीमत है कि मरदाने कपड़ों में फ़ैशन जल्दी-जल्दी नहीं बदलते।

रह गये मेहमानदारी के अख़राजात, सो इनमें भी मेरा हर तरह का ख़याल रखा जाता है। यानी मेरे दोस्तों को कम मौक़ा दिया जाता है कि वह मेरे पास आयें। मेरी बीवी का ख़याल है कि मैं बहुत भोला हूँ, बहुत दोस्तनवाज़ हूँ। दोस्त बहुत होशियार हैं। वह सिर्फ़ खाने पीने और अपना काम निकालने के दोस्त हैं। और ऐसे

दोस्तों से मुझे बचाना उस बीवी का फ़र्ज़ है, जिसने मेरी देखभाल का बीड़ा उठाया है। और इस फ़र्ज़ को मेरी बीवी पूरी तरह से अदा करती हैं। अब ज़्यादा तफ़्सील से तो क्या बताऊँ, घर की बात है। मगर इतना ज़रूर बता देता हूँ कि जो दोस्त एक दफ़ा हमारे यहाँ मेहमान आ जाता है, या मिलने आ जाता है, वह दोबारा फिर नज़र नहीं आता। अक्सर दोस्त मुझसे शिकायत करते हैं, मगर उनको अब मैं कैसे यक़ीन दिलाऊँ कि यह सब कुछ मेरी बीवी की उस दिलचस्पी का नतीजा है जो उन को मुझसे और मेरे आराम और सेहत से है।

इसी दिलचस्पी के एक दो नतीजे और भी हैं। वह भी सुन लीजिये। अव्वल तो यह कि मुझे अपने वक़्त का पूरा पूरा हिसाब देना पड़ता है। मुझे सिर्फ़ दफ़्तर जाने की इजाज़त है, कहीं और जाना हो तो बग़ैर बीवी के नहीं जा सकता। इसलिये मैंने घर में यह बता रखा है कि दफ़्तर में इतना काम है कि शाम को बहुत देर तक बैठना पड़ता है। इससे दो फ़ायदे हैं। एक तो अपने लिये कुछ वक़्त गुज़ारा जाये। दूसरे बीवी पर अपनी मेहनत का रोब पड़ता है।

दूसरा असर इस दिलचस्पी का यह है कि घर में मुलाज़िम हर महीने दो महीने के बाद बदले जाते हैं। वजह ज़ाहिर है कि बीवी जब नौकर को तनख़्वाह देती हैं तो काम भी पूरा लेंगी। आजकल मुलाज़िम जिनको इतवार की पूरी छुट्टी, हफ़्ते की आधी छुट्टी और दिन में सिर्फ़ चार घण्टे काम चाहिये, भला महज़ तनख़्वाह के बदले बराबर काम क्यों करने लगे? यहाँ काम सीख लेते हैं, जब दूसरी जगह मिल जाती है चले जाते हैं। और हमारे यहाँ दूसरा मुलाज़िम आ जाता है। बार-बार मुलाज़िम को सुधारने की बजाय अब मैंने अपने ज़ाती काम ख़ुद करने शुरू कर दिये हैं। मुझे यह फ़ायदा है कि नौकरों को सिधाने और सिखाने से छूटा। बीवी को यह फ़ायदा है कि अब रोज़ की मेहनत से मेरी सेहत ठीक रहती है।

जैसा कि मैंने अर्ज़ किया था, मेरी बीवी में ख़ूबियाँ ही ख़ूबियाँ हैं। उनकी बेग़र्ज़ मुहब्बत, उनकी मेहनत, उनकी किफ़ायतशारी, उनका घरदारी का सलीक़ा और सबसे ज़्यादा उनकी मुझमें दिलचस्पी, ऐसी ख़ूबियाँ नहीं जिनकी शिकायत की जाये। मगर क्या करूँ, मेरी परेशानी में भी शुबह नहीं।

—दिल्ली से प्रसारित

राजदूत कौन हो ?

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ।। (मनु)

जो सर्व शास्त्रों का पूर्ण ज्ञाता हो, सूरत, शक्ल, चेष्टा आदि से दूसरे के हृदय को भाँप ले, शुद्ध हस्त हो, चतुर हो और कुलीन हो। वही दूत होने योग्य है।

(परमेश्वरानन्द—जालंधर)

एवरेस्ट पर विजय

तेनज़िंग नोरके

नेहरू जी ने अपनी "पुत्री के नाम लिखे पत्र" और "विश्व इतिहास की झाँकियाँ" पुस्तकों में बताया है कि प्रकृति की अन्धी शक्तियों के विरुद्ध मानव जाति का संघर्ष ही उसकी सभ्यता के क्रमागत विकास का इतिहास है। मानव जाति के इस विजय अभियान में शेरपा तेनज़िंग नोरके और न्यूज़ीलैंड निवासी एडमंड हिलेरी ने एवरेस्ट विजय करके मनुष्य की अपराजेयता का, शक्ति का, साहस का, दृढ़ता का स्वाभाविक अंग का, और प्रकृति की अन्धी शक्तियों के दर्प को चूर चूर कर डालने वाली क्षमता का अन्यतम प्रमाण और उदाहरण पेश किया है। आज संसार तेनज़िंग को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है, और भारत तथा नेपाल की जनता उनको अपनाकर फूली नहीं समाती। तेनज़िंग इस समय उन्तालीस वर्ष के हैं और बौद्ध हैं। किशोरावस्था से ही इनको पर्वतारोहण का शौक था। इसीलिये वह अपने घर से भाग निकले और सैकड़ों मील दूर दार्जिलिंग में एक पर्वतारोही दल के साथ कुली बन गये। तेनज़िंग की इस स्वाभाविक इच्छा का विकास होता रहा। पर्वतारोही दल के साथ जाना उनका पेशा हो गया। धीरे धीरे यह कार्य उनके जीवन का सबसे महत्वपूर्ण अंग बन गया। अपनी पीठ पर से कुली का बोझ उतार फेंकने के लिये तेनज़िंग को अनेक विरोधों, कठिनाइयों और विपत्तियों का सामना करना पड़ा। और अब ? अब तो तेनज़िंग का माथा एवरेस्ट से भी अधिक ऊँचा उठा हुआ है।

(श्री कृष्णदास—इलाहाबाद)

कवि के प्रति

कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति

सुमित्रानन्दन पन्त

अभिवादन स्वीकार करें कविगुरु जन गण का
विश्रुत जन्म दिवस के सुख स्वर्णिम अवसर पर
श्रद्धा स्मृति से प्रति सरल लोचन बरसाते
स्नेह द्रवित आनन्द अश्रु पावन चरणों पर
मौन स्वप्न पथ से बसते जो चरण हृदय में

युग द्रष्टा बन आये आप यहाँ नव गायक
देश काल का तमस चीर निज सूक्ष्म दृष्टि से
पैठे जन जीवन के निश्चल अन्तस्तल में
धरती के अवसाद भरे जनगण को देने
उद्बोधन का गान, जागरण-मंत्र, मनोबल
मानव की चेतना रश्मि को अतल गुहा से
बाहर ला मन में अभिनव आलोक भर गये
रंग रंग की आभा पंखड़ियों को बिखरा
नव जीवन, सौन्दर्य गये बरसा धरती पर
गीतों से, छंदों से, भावों से, स्वप्नों से . .

एक बार फिर आओ, कवि, इस विधुर देश को
अपनी अमर गिरा से नव आश्वासन देने
आज और भी लोक प्रतीक्षा यहाँ आपकी
वाणी के वर पुत्र, धरा की महा मृत्यु को
अमर स्वरों से जगा, विश्व को दो जीवन-वर
आओ, हे, फिर अपने भारत के मानस से
मध्य युगों का घृणित जाल-जंजाल हटाकर
ज्वलित स्वर्ण दर्पण सी उसकी चेतनता को
लाओ फिर जग के समक्ष, जिसमें नव जीवन
नव मानव-मन का उज्ज्वल मुख प्रतिबिम्बित हो
आज धरा के अन्धकार में उसका जगमग
कांचन दो फिर से उंडेल जीवन प्रभात में .
आओ, हे कवि, आओ, फिर निज अमृत स्पर्श से
आदर्शों की छायाओं को नव जीवन दो।
आओ तुम जीवन वसन्त के अभिनव पिक बन
धरा-चेतना हँसे सांस्कृतिक स्वर्णोदय में।

—इलाहाबाद से प्रसारित

विद्यापति के प्रति

'नरूचन'

मिथिला के रसमय मधुवन के हे अमृतमय बोल सुहावन!
नित राजारानी को तुमने
रच-रच कर नव गीत सुनाए,
है उनका अस्तित्व कहाँ पर
अब इसको इतिहास बताए,
पर उर पुर शासक तुम तब थे,
अब हो, और रहोगे आगे,
शरण भूप शिवसिंह लखिमा के आज तुम्हारे ही पद पावन
मिथिला के रसमय मधुवन के हे अमृतमय बोल सुहावन।

थे न कबीर, न सुर, न तुलसी
और न थी जब बावरि मीरा,
तब तुमने ही मुखरित की थी
मानव के मानस की पीड़ा,
कौन गया था कर, कवि शेखर,
आकुल कातर प्राण तुम्हारा?

लुटा चुकी थी अपना सब धन-
वैभव जब देवों की वाणी,
देसिल बयनों की क्षमता थी
तुमने, कवि-रत्न, पहिचानी,
अश्रु-लकीर तुम्हारे गालों
पर की अब गम्भीर नदी है,
बाल चन्द्र मिथिला की छत का भारत के नभ का शशि पूरन,
मिथिला के रसमय मधुवन के हे अमृतमय बोल सुहावन।

निर्माता, तुमने नव कविता
का तन मन इस भाँति सँवारा
दूर सुदूर भविष्य तुम्हारे
ही शब्दों का स्रोत सहारा,
'जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल' कहेगा,
लाख-लाख युग हिय हिय बसकर होगा ही वह तिल तिल नूतन
मिथिला के रसमय मधुवन के हे अमृतमय बोल सुहावन।

—इलाहाबाद से प्रसारित

हिन्दी साहित्य की समस्याएँ

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

हिंदी-साहित्य ही क्यों, सम्पूर्ण विश्व साहित्य आज के युग में समस्याओं का रंग स्थल बना हुआ है। यह ऊहापोह का युग जो ठहरा। इस कारण हमारी भाषा के साहित्य में यदि हमें आज अनेक प्रकार के प्रश्न-चिह्न उभरे हुए मिलें तो इसमें आश्चर्य की क्या बात ?

निस्सन्देह हमारे सामने समस्याएँ हैं। ये समस्याएँ हमारे साहित्यिकों की सजगता, ऊर्ध्व-गति जनकल्याण कारिता एवं सन्निर्माण वृत्ति की द्योतिकाएँ हैं। हमारी जो यह अकुलाहट है, यह झुँझलाहट है, वह भी हमारी जीवनी शक्ति की परिचायिका है।

अभी तीन-चार दिवस पूर्व ही, रूस के 'प्रावदा' पत्र में रूसी साहित्य और रूसी साहित्यिकों तथा प्रकाशकों की एक बड़ी तीक्ष्ण, स्पष्ट और झुँझलाहट भरी आलोचना निकल चुकी है रूसी साहित्यकार कुछ नहीं है, प्रकाशक असावधान है, साहित्य में जीवनी शक्ति नहीं है, इत्यादि इत्यादि बातें 'प्रावदा' कह चुका है। अर्थ यह कि जो राष्ट्र आज के इस बहु प्रशंसित, मार्क्स आविष्कृत, एंगेल्स भाष्यकृत, लेनिन समर्थित, स्तालिन-संवर्धित साहित्य निर्माण सिद्धान्त को लेकर चला था, वह भी आज दिग्भ्रमित सा, छिन्नचित्त सा, असन्तुष्ट, अपूर्ण काम, इधर उधर कुछ टटोलता-सा दिखाई पड़ रहा है। कृषक श्रमिक कल्याण साधक समझा जाने वाला रूस, उत्पादन साधनों को समानीकृत करने वाला रूस, वर्गविहीनता का आदर्श रूस, वास्तविक जगत, अर्थात् इन्द्रिय गम्य वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से साहित्य एवं कला को सम्बद्ध करने वाला रूस आज झुँझला रहा है। उसके साहित्य में गतिरोध है। प्रगति-वाद का पुजारी क्या, उसका तथाकथित प्राण-प्रतिष्ठापक आज का रूस जब यह देखता है कि समस्त प्रकार के पतंग उड्डीयन के उपरान्त भी वह पुराने प्रगति गर्त मग्न रूस के एक भी टाल स्टाय, एक भी डोस्तोवेस्की, एक भी पुश्किन, एक भी गोगोल को उत्पन्न न कर सका, इतने ढोल-धमाके के उपरान्त भी वह पुरातन महामान्य साहित्यकारों में से एक की भी पुनरावृत्ति न कर सका, तो 'प्रावदा' के स्तम्भों का कंपित होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है।

मैं इस थोड़े से समय में किन किन समस्याओं की ओर संकेत करूँ ? अनेक समस्याएँ हमारे सम्मुख हैं। पर समस्याओं से उकताने की कोई आवश्यकता नहीं।

हमारे साहित्य की जो सबसे आक्रान्तक समस्या है वह यह है कि हमारे कुछ विद्यानिधि आलोचकों ने तोलने के लिये एक बनी बनाई तुला और कुछ घिसे घिसाये बाट उधार ले लिये हैं और उन्हें अपना कह कर तोल-नाप करने लगे हैं। जहाँ मानव आत्मा वादों के बन्धनों में जकड़ दी जाएगी, वहाँ वह मानो कुण्ठित हो जायगी, या फिर वह प्रतिवादि भयंकर हो कर उभर उठेगी। इसलिये भारतीय साहित्यकारों और आलोचकों को सावधानी बरतनी होगी। हमें अत्यधिक चीं चपड़, तू-तू मैं मैं, टांग घसीटन, दंड मुँड सम्मेलन और कफन-खसोटन में नहीं पड़ना है। आशय यह है कि आलोचना साहित्य निर्माण को ही हमें साहित्य सृजन नहीं मान बैठना है।

भारतीय साहित्य-आलोचना के चीर का गठबन्धन पूर्व काल से लगाकर आज तक नाना प्रकार के सिद्धान्तों के उत्तरीय के साथ हुआ है। रस सिद्धान्त, अलंकार सिद्धान्त, रीति सिद्धान्त, ध्वनि सिद्धान्त आदि सिद्धान्तों ने अपने अपने समय में साहित्य निर्माण को विश्लेषित, आलोचित एवं प्रभावित किया। आज हमारी साहित्य आलोचना उत्पादन-सम्बंधों की क्रिया प्रक्रिया से अपना गठबन्धन कर रही है। आज के झुकाव का यह अर्थ कदापि नहीं है कि पुरातन रस अलंकार रीति ध्वनि सिद्धान्त अयथार्थ हैं। वास्तविक सत्य तो यह है कि—

प्रति युग में पुराण बोला है
नव शैली नव शब्दों में
किन्तु वाक्य आधार वही जो
संचित शत शत अब्दों में
वर्तमान की जननी तो है
प्रतिगत की धुंधुर संध्या।
कब अतीत घड़ियों की वह
उर्वर कोख हुई बंध्या?
वर्तमान की किलकारी में,
यदि न साम्य गत के स्वर का
तो वह वर्तमान है केवल
पुत्र वर्ण के संकर का

मेरे कथन का अर्थ केवल इतना है कि आज की हमारी साहित्य आलोचना का झुकाव प्राचीन मान-दंडों को झुठलाना नहीं है।

वर्तमान साहित्य, विशेषकर कविता की भाषा के सम्बन्ध में बहुधा प्रश्न उठता है भाषा कैसी हो? सर्वसाधारण समझे समझ सकें, वैसी हो, या संस्कृत शब्दों द्वारा रचोची हुई बोझिल भाषा हो? इसके विषय में मेरा अपना मत यह है कि भाषा के सम्बन्ध में साहित्य स्रष्टाओं को आदेश देना प्रथम श्रेणी की मूर्खता है। ज्ञानदेव तुकाराम समर्थ तुलसी सूर, जायसी आदि को यदि इस प्रकार का आदेश देने वाले गुरु मिले होते तो सिर धुनि गिरा लागि पछताना के सदृश वे भी बिचारे अपना सिर धुनते और पछताते। बात यह है कि सर्वसाधारण की दुहाई देते समय हम यह मान बैठते हैं कि सर्वसाधारण तो सदा मूर्ख रहेंगे ही, न उनका शब्दकोष बढ़ेगा, न उनका मानस दिङ्मडल विस्तृत होगा और न उनमें कभी ऊहापोह शक्ति का आविर्भाव ही होगा। भाई, जो यह नव समाज निर्माण का प्रयत्न हो रहा है, वयस प्राप्त जन शिक्षण के प्रसार की जो यह योजना चल रही है, प्रारम्भिक शिक्षा की अनिवार्यता की जो यह सजा है, यह सब क्या सर्वसाधारण के सांस्कृतिक, भाषा विषयक स्तर को ऊँचा नहीं करेगी?

आप कहेंगे—जब यह सब होगा तब देखा जायगा। आज हम कैसी भाषा लिखें? मैं पूछता हूँ—क्या आपने शेक्सपियर के नाटक पढ़े हैं? क्या आप समझते हैं कि एक साधारण पढ़ा लिखा शेक्सपियर का देशवासी अँग्रेज़ उन नाटकों को बिना शब्द-कोष की सहायता के समझ सकता है? यदि नहीं तो आप शेक्सपियर को उनके नाटकों, उनके सानेट्स, उनकी अन्य कविताओं के लिये किस प्रकार की भाषा लिखने का आदेश देते हैं? निवेदन है कि यह भाषा-सम्बन्धी आदेश वाला प्रयास ही मेरी दृष्टि में दूषित, व्यर्थ, अहितकर, अव्यवहार्य है।

जिस प्रकार 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रह किं करिष्यति', जिस प्रकार प्राणी अपनी प्रकृति को प्राप्त करता है, निग्रह बिचारा क्या करेगा, उसी प्रकार 'स्वभावं यान्ति कवयः प्रतिबन्धो निरर्थकः' कवि अपनी भाषा आप पा लेते हैं, प्रतिबन्ध निरर्थक है। हाँ इतना अवश्य इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि कवि और साहित्यकार भाषा ऐसी लिखें जो देश भर में अधिक सरलता से समझी जा सके।

इस देश में अधिक सरलता से अन्य भाषा भाषियों द्वारा भी जो भाषा समझी जा सकती है और समझी जाती है वह है संस्कृत शब्द प्रधान भाषा। आप आश्चर्य न करें। हिन्दी के साहित्यकार भी यह बात सुनकर न

चीं—मेरा आशय उन साहित्यकारों से है जो सरलता का अर्थ फारसी उर्दू मिश्रित शब्दावली मान बैठे हैं। जिनकी दृष्टि उत्तर प्रदेश के पश्चिम के कुछ थोड़े से भाग, दिल्ली और पंजाब तक ही सीमित है, वे सरलता का अर्थ फारसी मिश्रित उर्दू मान बैठे हैं।

पर देश की भाषाओं को देखिये। आर्य भाषा भाषी प्रदेशों—जैसे मैथिल, भोजपुर, बंगाल, असम, उत्कल, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान मालव, मध्यप्रदेश आदि की भाषाएँ संस्कृत की दौहित्रियाँ हैं और संस्कृत बहुलता ही उन प्रदेशों की भाषा की सरलता है। अब चलिए आगे। कन्नड, मलयालम, तेलुगु और तमिल-इन चार द्रविड भाषाओं में प्रथम तीन, अर्थात् कन्नड, मलयालम और तेलुगु में ६० प्रतिशत से भी अधिक शब्द संस्कृत के हैं और तमिल में, जो बड़ी पुरातन और समृद्ध भाषा है, प्राय ४० प्रतिशत संस्कृत शब्द हैं। अत परिणाम यह निकला कि यदि हिन्दी के कवि तथा अन्य प्रकार के हिन्दी साहित्यिक देशव्यापी सुगम भाषा लिखना चाहते हैं तो उन्हें निश्चय ही अपनी भाषा को संस्कृत निष्ठ बनाना पड़ेगा।

—दिल्ली से प्रसारित

भारतीय प्रजातन्त्र में मध्यवर्ग का स्थान

ब्रिटिश सत्ताशाही के विकास के साथ भारत में मध्यवर्ग कुछ अंश तक विकसित हुआ। सन् १६०५ के स्वदेशी आन्दोलन के साथ इस वर्ग को कुछ प्रश्रय मिला। ब्रिटिश सत्ताशाही जब नौकरियों का भारतीयकरण करने लगी तब कुछ वेतनभोगी मध्यवर्ग यहाँ सामने आया। पूंजीवाद के विकास के साथ बड़े बड़े शहरों में वेतनभोगी मध्यवर्ग कुछ पनपने लगा। स्वभाव से डरपोक और अपनी वर्तमान आर्थिक स्थिति के थोड़े थोड़े सुधार से सतुष्ट रहने की अपनी मनोवृत्ति के कारण यह मध्यवर्ग प्रजातन्त्र का समर्थक है। क्रांति की भीषण विभीषिका के नाम और दृश्य से ही यह वर्ग काँप जाता है। पूंजीपतियों के काले कारनामे पर काशी हाउस में या, अपने परिवार के बीच कुछ हल्की आलोचना से ही इसे सतोष हो जाता है। समाज की वर्तमान स्थिति कायम रहे, यही मध्यवर्ग का मुख्य लक्ष्य है। प्रजातन्त्र और मध्यवर्ग दोनों हिंसात्मक क्रांति का विरोध करते हैं। समन्वय और समझौता दोनों का लक्ष्य है। मिलजुल कर कार्य आगे बढ़ाना, यही इस वर्ग की तथा प्रजातन्त्र की पद्धति है। इस प्रकार प्रजातन्त्रीय पद्धति को कायम रखने में मध्यवर्ग की सहायता की बड़ी आवश्यकता है। किन्तु आधुनिक भारत में १६४७ से वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों ने इस वर्ग की कमर तोड़ दी है। सामाजिक कुप्रथाओं से यह वर्ग इतना जकड़ा हुआ है कि अपनी वर्तमान आय से यह बिल्कुल असतुष्ट है। सन् १९४७ की भारतीय स्वतन्त्रता के बाद इसकी आर्थिक स्थिति बिल्कुल डॉवाडोल हो गई है। अतएव मेरा विचार है कि भारतीय प्रजातन्त्र को इस मध्यवर्ग की रक्षा अवश्य और शीघ्र करनी चाहिये।

(विश्वनाथ प्रसाद वर्मा—पटना)

शेर का शिकार

मनोहरदास चतुर्वेदी

पंजाब व राजस्थान के रेगिस्तान को छोड़ कर, शेर हमारे देश में प्रायः सभी जंगलों में मिलता है। हिमालय की तराई, मध्य भारत, मध्यप्रदेश, विन्ध्यप्रदेश, उड़ीसा व आसाम शेरों के मुख्य केन्द्र हैं। दक्षिण के वनों में भी शेर की कोई कमी नहीं है।

हमारे मुल्क में शेर के नाम से लोगों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। वैसे तो शेर के बारे में बहुतेरी दन्त-कथाएँ गाँव-गाँव सुनने में आयेंगी, मगर शेर की शक्ल-सूरत तक कोई सही-सही न बता सकेगा। देहातियों की तो कहे कौन, पढ़े लिखे लोग भी शेर को पहचान तक नहीं सकते। कुछ दिनों की बात है कि मेरी एक शेर की कहानी छापते हुए हमारे देश के एक प्रसिद्ध पत्रकार ने तसवीर गुलदार की लगादी! यही नहीं, इस कहानी के हजारों पढ़ने वालों में से किसी का ध्यान तक ऐसी भारी भूल पर न गया!!

वैसे तो बिल्ली मौसी के परिवार में कई प्रकार के जानवर हैं मगर इनमें तीन मुख्य हैं – (१) सिंह, जिसकी खाल का रंग ऊँट से मिलता है। इसको लोग कहीं-कहीं इसी कारण ऊँटिया बाघ भी कहते हैं। दूसरे केसरी, बब्बर, नाहर, नरसिंह इत्यादि सिंह के ही नाम हैं। प्राचीन काल में यह सिंह भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में प्रायः सभी जगह होता था। मगर पिछले १०० वर्षों में सिंह की नसल ही मिट गई। अब सौ-दो-सौ सिंह केवल जूनागढ़ के गीर वन में रह गये हैं। (२) गुलदार, यह छोटा जानवर है। इसकी खाल पर बूटे होते हैं। इसको लोग तेंदुआ, गुलबघा व बघेरा भी कहते हैं। गुलदार एक उठाईगीर, उचक्का, तेज, चालाक जानवर है। गाँव-गाँव बकरा, कुत्ते, बन्दर, जानवरों के बच्चे आदि उसके मुख्य शिकार हैं। (३) शेर, सिंह की तरह बड़ा होता है और इसकी खाल पर काली धारी पड़ा होता है। इसको पूर्वी भाषाओं में लोग बाघ भी कहते हैं।

मैं आज आपको शेर के बारे में कुछ बातें बताऊँगा। डीलडौल में तो नहीं, परन्तु और सब बातों में शेर बहुत कुछ अपनी मौसी बिल्ली से मिलता है। घर घर घूमने वाली बिल्ली, शेर की छोटे पैमाने पर सही, सच्ची जीती-जागती नकल है। शरीर की बनावट, इकहरा, छरीरा जिस्म, नज़ाकत, अय्यारी, गोश्त खोरी, बेआहट चाल दिन में सोना, रात में घूमना, उस्तरे के समान तेज नाखून, गद्दीदार हाथ पैर मुँह पर मूँछ तेज आँख सावधानी, स्वाधीनता, कोमल रहन-सहन और काम पड़े पर बिजली की तरह झपट यह सब बातें ऐसी हैं जो बिल्ली मौसी ही ने शेर को सिखाई जान पड़ती हैं। कहावत है कि बिल्ली ने शेर को सब बातें सिखाईं, केवल पेड़ पर चढ़ना नहीं सिखाया। यह बात गलत है। वैसे तो शेर

पेड़ पर कम चढ़ता है मगर मौका पड़ने पर चूकता भी नहीं। मिस्टर साहब ने पूर्णिया जिले में सैलाब के समय शेरों को पेड़ों पर चढ़े अक्सर देखा। पेड़ों पर चढ़े शेर अक्सर मारे भी गये। ज्वाला साल (हलद्वानी) उत्तर प्रदेश में एक ज़ख़्मी शेरनी ने एक मेमसाहब पर, जो ज़मीन से १६ फुट ऊँचे मचान पर बैठी थीं, पेड़ पर कूद कर हमला किया। मेमसाहब मचान से ज़मीन पर गिर गईं और अगर उनके शौहर ने वक्त पर पहुँच कर शेर को गोली से न मार दिया होता, तो मेम साहब की जान चली गई होती। हाँ, इतना ज़रूर है कि शेर बिना वजह पेड़ पर नहीं चढ़ता।

बिल्ली का सारा कुन्बा, जिसमें शेर भी शामिल है, सफ़ाई व सुथरेपन के लिये मशहूर है। शेर खाने के साथ साथ व खाने के बाद अपने को धपेड़ो चाटता है। शेर को पानी का बड़ा शौक है। गर्मी में अक्सर शेर पानी के गड्ढों में पड़ जाते हैं। लेकिन, बिल्ली व तुलदार दोनों पानी की बूँद तक से घबड़ाते हैं।

शेर कान का कच्चा नहीं बल्कि बड़ा पक्का होता है। हल्की से हल्की आवाज़ का खटका ले लेता है। हल्द्वानी (उत्तर प्रदेश) में एक शेर शिकारी के मचान पर बैठे किताब के वर्क पलटना दूर से बैठा सुना करता था और कभी पास नहीं फटकता था। जहाँ हवा भर भी खटका हुआ और वह खिसका। अपना मारा हुआ, अपना छुपाया हुआ शिकार छोड़कर शेर भूखा चला जायेगा पर खटके के बाद उसके पास न जायेगा।

शेर की आँख दिन में मिची रहती है और शेर दिन भर सोता है। शाम को सूर्य डूबने पर शेर शिकार को निकलता है। शेर के सुबह का समय तब होता है, जब हाथों की लकीर दिखाई न दे। बिल्ली की बिरादरी के जानवरों की नाक चपटी होती है और कुत्ते, लोमड़ी, भेड़ियों के समान लम्बी व तेज़ नहीं होती। कान व आँख की तरह शेर की नाक भी होती, तो किसी जानवर की ख़ैर न थी।

शेर क्योंकि दाव पेच से मौका पाकर हमला करता है, खुले मैदान में जंगली जानवर इसकी परवाह नहीं करते। छोटे चीतलों के बच्चे इसकी खोपड़ी पर टोकते हैं। शेर के आते ही जंगल में कोहराम मच जाता है। बन्दर, लंगूर, मुर्गी, मोर, चीतल, काकड़, गीदड़ सभी शेर को देखकर शोर मचाते हैं और डर से इनकी आवाज़ भी बदल जाती है। सुअर तो कभी-कभी शेर का मुकाबला भी कर बैठता है।

शेर के शिकार में सबसे पहला काम है शेर को ढूँढ़ना, दूसरा काम है शेर को रोकना। शेर चलता फिरता जानवर है, यह एक जगह नहीं रुकता। इसका शिकार आसान इसलिये नहीं है कि शिकारी के औसान ख़ता हो जाते हैं। शेर बिना छेड़े किसी को कुछ नहीं कहता। हाँ, ज़ख़्मी शेर व बच्चे वाली शेरनी की बात और रही, जो आवाज़ पर तीर की तरह आते हैं।

एक दफ़े की बात है कि एक शेर के पीछे मैं कई रोज़ तक पड़ा रहा। इसने इतने मवेशी मारे थे कि कोहराम मच गया था। इस शेर के आने जाने के रास्ते में एक भैंस का कटरा बाँध दिया गया। इस शेर ने इस कटरे को अगली रात ही में मार लिया। कटरे की लाश को खींच कर झाड़ी में छुपा दिया। शेर अपने खाने की दिन भर रखवाली करता है और आस पास ही बैठा रहता है। मैं जब करीब ३ बजे शाम को हाथी पर गया तो लाश तो कटरे की मिल गई, पर शेर न मिला। बहुत ढूँढा, एक एक झाड़ी देख डाली, बहुतेरा तलाश किया, पर कहीं पता तक न लगा, आख़िर यह राय तै पाई कि लाश के पास के पेड़ पर मचान बाँधा जाय और उस पर बैठा जाय। जब अंधेरा होने पर शेर आयेगा तो बड़ा अच्छा मौका देगा।

जिस वक्त शिकारी मेरे लिये मचान बाँध रहे थे, मैं हाथी पर बैठा घूम रहा था। मगर शेर का कहीं शुब्हा तक न था। जब मचान बंध चुका और मैं हाथी से मचान पर चढ़ने लगा तो एकाएकी पहाड़ी पर साँभर बोला। साँभर ने शेर को देख कर ही आवाज़ दी थी। अभी मैं मचान पर बैठ भी न पाया था कि शेर आ गया।

शेर ने मुझे मचान पर बैठते देखा। बड़े इतमीनान से हाथी वापिस जाते देखा। शेर को

हमारे सारे षडयन्त्र का पता लग गया। जो सच पूछो तो शेर एक ऊँची पहाड़ी से बैठा हमारी सारी हरकतें घण्टों से देख रहा था। फिर हमारे खटके पर नीचे वाली पहाड़ी पर उतर आया था।

जब हाथी चला गया तो मैं खामोश मचान पर क़रीब क़रीब दो घण्टा बैठा रहा। शेर की छुपाई कटरे की लाश मेरे सामने पड़ी थी। मगर भला शेर कब आता था।

शेर भी मेरी तरह एक नीची पहाड़ी पर बाँस की झाड़ी में बैठा खटका ले रहा था। कभी-कभी जब वह हिलता था तो झाड़ी से सूखे बाँस चटखते थे। मैं इन्तजार में था कि शेर लाश पर आये तो गोली चलाऊँ। शेर इस इन्तजार में था कि जब मैं मचान से उतर कर जाऊँ तो लाश पर आये इस कशमकश में अंधेरा होने लगा। लाचार मैंने हाथी को कुकुआ कर बुलाया। जंगल में शिकारी जानवरों की तरह आवाज कर एक दूसरे को बुलाते हैं। हाथीवान ने बहुत कुछ कहा भी कि अभी मचान से न उतरा जाये। शेर के आने की उम्मीद बाक़ी है। मगर देर हो रही थी। मैं मचान से उतरा और हाथी पर सवार हो वहाँ से चल दिया। मगर कैम्प की तरफ नहीं, बल्कि नदी की ओर। शेर ने दूर से मुझे देख लिया। थोड़ी दूर चल कर हम लोगों ने नदी छोड़ पहाड़ी की जड़ पकड़ ली। धीरे धीरे पहाड़ी की जड़ से हाथी पर हम लोग फिर शेर की तरफ लौट पड़े। शेर मेरे मचान से उतरने पर बेफ़िक्र हो गया था और उसी बाँस की झाड़ी में बैठा था। जब मेरा हाथी पहाड़ी के नीचे पहुँचा, तो शेर ने चुप्पी साध ली, और मेरी तरफ सर उठा कर देखा। ऐसा अच्छा मौक़ा भला किस शिकारी को मिलता है। मैंने राईफ़ल की जम्म ली, लबलबी दबाई, शेर ने एक आवाज़ की, और गिर गया। शेर तो मचान के पास नहीं आया, मैं ही उसके पास पहुँच गया।

जब कभी मैं शेरों की कहानी सुनाता हूँ तो हमेशा यही बात ध्यान में आती है कि क्या ही अच्छा होता कि कभी शेर की कहानी शेर की ही जुबानी सुनने में आती। हमेशा मेरे कान में यही आवाज आती है।

> मजा जब था जो यह सुनते
> मुझ ही से दास्ता मेरी
> कहाँ से लायेगा क़ासिद
> बयाँ मेरा जबा मेरी।

—दिल्ली से प्रसारित

भारतीय स्नातक

भारत में तीन प्रकार के स्नातक होते थे विद्या स्नातक, व्रत स्नातक विद्याव्रत स्नातक। विद्या की परिसमाप्ति पर जो स्नान करता और गुरुकुल से घर लौट आता, उसे विद्या स्नातक केवल व्रत की समाप्ति पर जो लौटता, चाहे अध्ययन परिसमाप्त न भी हुआ हो, उसे व्रत स्नातक और विद्या और व्रत दोनों की परिसमाप्ति पर जो स्नान करता उसे विद्याव्रत स्नातक कहा जाता था। यहाँ यह विचार के योग्य है कि जो ब्रह्मचारी सत्रह अठारह वर्ष गुरुकुल में रहता, गुरु की चरण शुश्रूषा द्वारा अनेक विद्याएं और कलाएं को सीखता और नाना लौकिक और वैदिक कर्मों को करता उसे विद्या की परिसमाप्ति के उपलक्ष में उपाधि क्या मिलती थी 'स्नातक'। आर्यों को इससे अच्छा नाम न मिल सका। लौटते समय होने वाली एक स्नान क्रिया से ही ब्रह्मचारी को "स्नातक" नाम मिल जाता है जो आजीवन उसके साथ रहता है और जिससे उसका सदा सम्बोधन होता है। क्या यह स्नान की महत्ता और सर्वप्रियता को नहीं बताती?

(वासुदेव शास्त्री—जालन्धर)

हिन्दी में अन्योक्ति

मैथिलीशरण गुप्त

क्या आप लोगों ने कभी सुना है कोई पति अपनी पत्नी से कुवाच्य कहे और विरोध करना तो दूर, पत्नी उलटी हँसे ? इसका रहस्य सुनिये। घटना सच्ची है।

एक थे ज़मीदार। उनकी ज़मीदारी तो तीन चारपाई की ही थी। परन्तु लड़ाका प्रकृति होने के कारण उन्होंने गाँव के किसान और श्रमजीवियों पर पूरा आतंक छा रक्खा था। संयोग से उनकी पत्नी भी वैसी ही थीं। उनका एक निरीह पड़ौसी उनके गर्जन-तर्जन के मारे दुखी रहता था। जब उस से सहा न जाता तब वह अपने घर के भीतर आँगन में आता और अपनी घरवाली को दो चार खरी-खोटी सुनाकर अपना जी जुड़ाता। घरवाली सुनकर हँसती। वह जानती थी उनका लक्ष्य कौन है। इसी प्रकार कभी कभी उसके सुग्गे को भी जली-कटी सुननी पड़ती। दुष्ट दिन भर टेंटें किया करता है। कभी राम का नाम भी नहीं लेता और सेंतमेंत का दूध भात नष्ट करता है। पापी कहीं का, इत्यादि, इत्यादि।

इसी को अन्योक्ति कहते हैं, अर्थात् एक से कह कर दूसरे को सुनाना। औरों के मिस अपने मनोगत भावों और विचारों को प्रगट करने का यह अच्छा साधन है।

कहते हैं बिहारी सतसई के कवि एक अन्योक्ति के ही कारण सफल मनोरथ हुए। जब वे राजाश्रय के अर्थ जयपुर पहुँचे, तब उन्होंने सुना महाराज इन दिनों अन्तःपुर में ही रहते हैं। एक मुग्धारानी के रूप ने उन्हें मुग्ध कर रखा है। यह सुन कर कवि ने एक दोहा लिखा और किसी प्रकार राजा के पास पहुँचाया।

नहिं पराग नहिं मधुर रस, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बन्ध्यो, आगे कौन हवाल॥

इसे पढ़ कर महाराज बाहर आये और उन्होंने कवि से मिलकर उन्हें पुरस्कृत किया। फलत बिहारी सतसई जैसी अपूर्व कलाकृति की रचना हुई।

लोकमान्य तिलक ने अपने केसरी पत्र के लिये जो आदर्श वाक्य चुना था, वह भी संस्कृत की एक अन्योक्ति ही है। उसका अर्थ इस प्रकार है

अरे मदान्ध हाथी ! क्या तू नहीं जानता तेरे धोखे विशाल शिलाओं को अपने नखों से विदीर्ण कर के केसरी गिरि गर्भ में शयन कर रहा है। उसके जाग उठने के पहले ही तू इस वन से बच निकल।

इस अन्योक्ति का चुनाव लोकमान्य के ही अनुरूप था। निरंकुश विदेशी शासन के लिये उनकी यह एक ललकार थी। इसमें हमारा देश ही वन में परिणत हो गया था, जहाँ किसी की कोई सुनवाई न थी और हमारा स्वाभिमान ही सिंह था जो सुप्त अवस्था में पड़ा था। ठीक ही हुआ जो अब यह परिवर्तित कर दिया गया है।

मैं भूलता नहीं हूँ तो काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के प्रमुख प्रतिष्ठाता स्व० श्याम सुन्दर दास ने अपने लिये जो सर्वाधिक, प्रिय पद्य चुना था वह भी एक अन्योक्ति के ही रूप में था। उसका अर्थ इस प्रकार है :

हे मेरे मित्र चातक ! मेरी एक बात सुन। आकाश में अनेक मेघ आते जाते हैं। उनमें कुछ बरसने वाले होते हैं और कुछ केवल गरजने वाले, तू जिसे देखे उसके आगे दीन वचन न कह।

इस उपदेश की सार्थकता स्वयसिद्ध है। परन्तु एक सर्वोत्तम अथवा सर्वाधिक प्रिय पद्य का चुन लेना बड़ी विषम समस्या है। अपने

लिये तो मैं बिहारी के शब्दों में यही कह सकता हूँ :—

को सुटयो यहि जाल परि कत कुरंग अकुलात।
ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत त्यों त्यों अरुझत जात।

इस अवसर पर हठात् घनानन्द कवि का एक पद्य स्मरण आ रहा है, जो मुझे बहुत भाता है। मेघ को सम्बोधन करके वियोगिनी गोप बाला कहती है :—

पर कारज देह को धारे फिरौ,
परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ,
निधि नीर सुधा के समान करौ,
सब ही विधि सज्जनता सरसौ,
घनआनँद आनँददायक हौ,
कबौ मेरियौ पीर हिये परसौ,
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन
मो अँसुवान को लै बरसौ।

कालिदास के मेघदूत में भी मेघ के प्रति ऐसी उक्ति स्मरण नहीं आती। 'सन्तप्तानां त्वमसि शरणम्' की तुलना इससे कैसे करूँ? यद्यपि कालिदास के साथ घनानन्द की भी क्या तुलना?

अपने पूर्वजों का धन सभी पाते हैं। परन्तु जो सपूत होते हैं वे उसकी और भी वृद्धि करते हैं। बिहारी ने अपनी एक अन्योक्ति में ऐसा ही किया है। एक प्राचीन गाथा में उस कुत्ते की भर्त्सना की गई है जो दूसरे के अधीन हो कर मृगों को पकड़ता फिरता है। यही बात बिहारी ने इस प्रकार कही है :

स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा देखु विहंग विचारि।
बाज पराए पानि परि तू पच्छीहि न मारि॥

संस्कृत के समान हिन्दी के भी अनेक कवियों ने अन्योक्तियाँ लिखी हैं।

दीनदयाल कवि ने अन्योक्तियों पर एक पूरी पुस्तक ही लिख डाली है। बहुत दिन हुये तब मैंने उसे देखा था —

बरनै दीनदयालु हमें लखि होत अचम्भा।
एक जन्म के काज कहा मुनि झूमत रम्भा॥

कदली एक ही बार फल देती है फिर काट दी जाती है। इसी से कवि ने एक जन्म की चेतावनी दी है।

अनोख कवि की अन्योक्ति भी मुझे बहुत अच्छी लगती है :—

सुनिए बिटप प्रभु पुहुप तिहारे हम,
राखि हौ हमे तो छवि रावरी बढ़ावेंगे,
तजि हौ कदाचित् तो बिलग न मानें कछू
जहाँ-जहाँ जैहैं तहाँ दूनो जस छावेंगे,
सुरन चढ़ेंगे नर सिरन चढ़ेंगे सदा,
सुकवि अनोख हाट बाटनि बिकावेंगे,
देस में रहेंगे परदेस में रहेंगे काहू,
भेस मे रहेंगे तऊ रावरे कहावेंगे।

इस अन्योक्ति का प्रयोग द्विवेदी जी ने एक बार बड़ी विदग्धता से किया था।

राय देवीप्रसाद पूर्ण की भी दो करुणा-भरी पंक्तियाँ सुनने योग्य हैं

तारापति पेखन की चरचा चलाई कहा,
करत न तारा इहाँ एकहू प्रकास है।
पावस की ऋतु है अमावस की राति तापै,
दुखिया चकोर काहे ताकत अकास है।

बोलचाल की भाषा की कविता में अन्योक्तियों का क्रम टूट-सा गया है। जान पड़ता है अब अन्य का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं रह गई है। परन्तु खड़ी बोली को चले अभी दिन ही कितने हुए हैं?

अब से पचास वर्ष पूर्व मैंने प्रायः अन्योक्तियों से ही अपने पद्यमय जीवन का आरम्भ किया था। उन दिनों हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं की संख्या थोड़ी ही थी और लेखक भी बहुत न थे। इस कारण मेरी अन्योक्तियाँ भी छप जाती थीं। बुन्देलखण्ड का एक लोकगीत लेद कहलाता है। कभी-कभी मैंने भी इस का प्रयोग किया है। इस में कही गई एक अन्योक्ति इस प्रकार है :

चढ़ जा उसके मुँह तक मोत तू,
जो चिन्तन से थक जावे।
धधकता भभका मुझ को जान तू,
तुझ जैसे सौ छक जावें।

आगे चल कर वे दो तीन बार छपीं। उन में से एक इस प्रकार है.

हिम की ऋतु में हिम खंड बनें।
तप में तनुदाहक दंड बनें।

कुछ भी सुविचार किया न अरे,
तुम आखिर पत्थर ही ठहरे।

अभी इसे कहते कहते एक उक्ति और सूझ गई है और दोहा बन गया है —

मार्गी है पवन तू या अविवेकी अन्ध,
जो सुगन्ध की भांति ही लेता है दुर्गन्ध।

यह मेरी सब से नई रचना हुई और इस के लिए मैं आकाशवाणी का आभार मानता हूं।

एक बार विपत्ति में पड़ कर भी मैंने एक अन्योक्ति लिखी थी। मैं खुली बैलगाड़ी पर बैठा कहीं जा रहा था। गाँव दूर था और वन ही वन दिखाई पड़ता था। सहसा एक ओर से घटा उठी और देखते देखते चारों ओर छा गई। गड़गड़-गड़गड़ के साथ गोलियां सा बरसने लगीं। शीत चीला और ओले पड़ने का भय था। इधर उधर कोई ठिकाना न देख कर हम लोग घबराये।

ऐसे में राम नाम जपना चाहिये था। मैं छन्दोरचना करने लगा।

तड़क भड़क और कड़क मिटेंगी सब
गर्व और गौरव सभी ये गुड़ जायेंगे
गाज न गिराओ ओ घमण्डी घनो, मानो कहा,
काले मुंह आप ही तुम्हारे मुड़ जायेंगे,
मातृमूर्ति मेदिनी को सींच जलदान करो
झोंके झूम झंझा के जहां वे जुड़ जायेंगे
पत्ते उड़ जायेंगे तुम्हारे घटाडम्बर के
जान रक्खो अम्बर के लत्ते उड़ जायेंगे।

प्रभु की कृपा से हम लोग बच गये। कुछ बूंदें ही गिर कर रह गईं।

अन्त में एक और घटना या दुर्घटना जो मुझ पर घटी थी, सुना कर समाप्त करूँगा। प्रारम्भिक दिनों की ही बात है। मैंने एक अन्योक्ति लिखी। अब वह भूल गई अथवा भुला दी गई है। केवल चौथा चरण ही कारणवश स्मरण रह गया है। आशय यह था कमल के तुम्हारे जैसे मित्र अर्थात् सूर्य विद्यमान हैं

हा हा उसे तदपि तुच्छ तुषार दाहे।

यह पद्य लिखकर मुझे हर्ष ही हुआ था। दो चार दिन पीछे मेरे बाल्यबन्धु स्व० मुंशी अज मेरी कई महीनों का पर्यटन करके घर लौटे। मैंने ललक कर वह पद्य उन्हें सुनाया। उन्होंने कहा, 'पद्य तो ठीक है परन्तु इसी यात्रा में मैंने जो छन्द सुने हैं उनमें से एक इसी आशय का है। इतना ही नहीं, तुम्हारा तुच्छ तुषार भी उसमें वैसा का वैसा पहले से ही आ चुका है।"

यह कह कर उन्होंने एक सवैया पढ़ा। जहां मेरे पद्य में केवल सूर्य ही था वहां इसमें कमल के और भी अनेक समर्थ आत्मीय गिनाये गये थे। चौथे चरण का तो कहना ही क्या, उसराई ही मुझे स्मरण रह गया है

तुच्छ तुषार हतो परिवार पै
हाय सहाय भयो नहिं कोऊ
कौन को को है विपत्ति परे पर,
सम्पत्ति में सब को सब कोऊ।

इसे सुन कर मैं सन्न रह गया, और मैंने अपना पद्य फाड़ कर फेंक दिया। उसी समय संस्कृत के एक आशुकवि मेरे यहां पधारे। मैंने उन्हें सारी घटना सुनाई। बोले—"भैया! कवियों ने पहले ही सरस्वती का भंडार समाप्त कर दिया है। हमारे लिये अब क्या बचा है?" उनकी यह बात तो मैं नहीं मान सका। कारण सरस्वती का भंडार सदैव अक्षय है। तथापि मेरे जैसे परवर्ती पत्रकारों के आगे यह कैसी विडम्बना है!

—दिल्ली से प्रसारित

जापान का सामाजिक जीवन

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

किसी भी व्यक्ति के परिचय के लिये उस के साथ दीर्घकालीन सहवास आवश्यक है, और किसी भी देश के परिचय के लिये वहाँ दीर्घकालीन निवास।

अपना जापान में न दीर्घकालीन निवास हो रहा और न कुछ कहने सुनने लायक सामाजिक जीवन ही। तो भी दो चार बातें सुनिये।

जापान में बच्चे का नामकरण उसके पैदा होने के सातवें दिन किया जाता है। जापानियों की धारणा है कि जैसा नाम वैसा भविष्य। इसलिये आजकल विशेषज्ञ लोग बच्चों के नाम खूब अच्छे अच्छे और खूब चुन चुन कर रखते हैं। कभी कभी तो वे इतने दुरूह हो जाते हैं कि उनका उच्चारण और लेखन स्वयं बच्चों के लिये मुसीबत हो उठता है।

घर में बच्चा न हो तो 'गोद' ले लिया जाता है। कभी कभी घर में बच्चा रहने पर भी बच्चा गोद लिया जाता है। पिता चाहता है कि उसकी बिटिया घर में ही रहे। वह किसी बच्चे को गोद ले कर उसी से उसकी शादी कर देता है।

जीवन की परिभाषा—आजकल लोग कुर्सी और मेज को सामाजिक मूर्ति मानते हैं। जापान में सामाजिक जीवन की धुरी है ततमी अर्थात् चटाई। ततमी का जापानियों के घरेलु जीवन पर बड़ा ही प्रभाव है। उनके उठने बैठने से लेकर उनके घर की सजावट तक। लोग ततमी पर बैठते हैं तो हिन्दुओं की तरह पालथी मार कर नहीं, बल्कि कुछ कुछ वैसे ही जैसे मुसलमान भाई नमाज़ पढ़ते समय। नई ततमी बड़ी मनोरम, सुन्दर और भीनी भीनी खुशबू देती है। जापानियों की कहावत भी है कि पत्नि और ततमी दोनों नई ही अच्छी लगती है।

जापान में बच्चे के जन्म के एक सौ बीस दिन बाद उस के मुंह में कुछ खाद्य डाला जाता है। इसे आप जापानी बच्चों का अन्नप्राशन संस्कार कह सकते हैं। जापानियों

का विश्वास है कि इस संस्कार के प्रभाव से बच्चा स्वस्थ रहेगा, मोटा ताजा रहेगा और उसे कभी भी भोजन का अभाव न होगा।

जापानी बच्चे जब स्कूल जाने लगते हैं तब चिल्ला चिल्ला कर कहते हैं—इत्तेकैमिसू अर्थात् मैं जा रहा हूँ। वापिस लौटने पर तैदम्मा वैयि, अर्थात् अभी आया हूँ।

बच्चों की बात चल रही है, लगे हाथ उनके सबसे बड़े आकर्षण की बात कह दूं। वह है कमिशीबाई। कमिशीबाई किसी स्त्री का नाम नहीं है। कमिशीबाई आया नहीं कि बच्चे अपने अपने घरों से निकल कर चौरस्ते पर इकट्ठे हुए नहीं। कमिशीबाई अपनी साइकिल पर एक लकड़ी का चौखटा लगा लेता है। उसके पास एक बक्स भी रहता है जिसमें खट्टी मीठी मिठाई रहती है। मिठाई खरीदने वाले बच्चे तमाशा देखने के समय प्रथम पंक्ति में खड़े रहने के अधिकारी होते हैं। कमिशीबाई एक के बाद दूसरी तसवीर उस चौखटे में लगाता जाता है और दूसरी ओर से निकालता जाता है। यह तसवीरें जो कहानी कहती हैं, वही कहानी वह कमिशीबाई भी सुनाता जाता है। इसे बच्चों का चलता फिरता बोलता सिनेमा ही समझिये। बच्चों को अत्यधिक पसन्द। माता पिता को प्रायः उतना ही नापसन्द। कारण स्पष्ट है। कमिशीबाई के आने पर बच्चे माता पिता को पैसों के लिये जो हैरान करते हैं।

पुलिस तक इन कमिशीबाईयों पर नजर रखती है, न जाने कब कैसी क्या कहानी सुना जाये। अद्भुत प्रचारक होते हैं ये। मिठाई और शिक्षण साथ साथ!

प्रत्येक जापानी घर में देव स्थान जैसा एक स्थान रहता है जो धार्मिक न होने पर भी आदृत होता है। अतिथियों में प्रधान अतिथि को सदैव इसी आदृत स्थान के ठीक सामने उसी की ओर पीठ करके बैठना होता है।

दो आदमी खड़े हों तो जो दर्जे में नीचा उसे बाईं ओर खड़ा होना होता है। न में दाईं ओर ही सम्मान का स्थान है। पुरुष और स्त्री साथ साथ बैठते हैं तो स्त्री को सदैव पति के बाईं ओर बैठना होता है। घर के मालिक को आदर का पहला स्थान मिलना ही चाहिये।

उठने बैठने की यह व्यवस्था पर्याप्त प्राचीन है। राजा हमेशा दक्षिण की ओर मुँह करके बैठता है, क्योंकि दक्षिण दिशा सम्माननीय है। अधिकांश जापानी महलों और मन्दिरों का मुँह दक्षिण दिशा सम्माननीय है।

बहुत देशों और वहाँ के लोगों के बारे में कहा जाता है कि जैसा देश वैसे लोग। लेकिन यह कहावत जापानियों पर सबसे ज्यादा घटती है। लगता है कि वे अपने देश के लिये ही बने हैं और उनका देश भी ठीक उन्हीं के लिये। जापान में एक फ्यूजी पर्वत को छोड़ शायद सभी चीजें छोटे आकार की हैं। स्वयं जापानी तो हैं ही।

विदेशी यात्री को जापान में जो चीज सबसे पहले खटकती है, वह है जापानियों की बौनी रुचि। रेल में सोने की जगह इतना छोटी कि कोई जरा भी लम्बा आदमी पैर फैलाकर न सो सके। हाथ मुँह धोने का बरतन इतने नीचे कि हर किसी को दुहरा होना ही पड़े।

जापानी घरों में मेज, कुर्सी तो होती ही नहीं। खाने की चौकी चार इंच ऊँची। आहत स्थान में रखा हुआ बौना पेड़ नीचे से ऊपर ज्यादा से ज्यादा अठारह इंच ऊँचा।

घर में जिस पिछवाड़े को हम निकम्मा समझकर छोड़ देंगे उसी छोटी सी छोटी जगह में जापानी एक छोटा सा बाग लगा लेंगे जिसमें तालाब होंगे, नदियाँ होंगी, पुल होंगे। लैम्प लगे होंगे और बौने पेड़ों का एक जंगल होगा।

आदमी को लगने लगता है कि प्रसिद्ध अँग्रेजी कथा 'गुलिवर्स ट्रावल्स' का गुलिवर लिलिपुत में पहुंच गया।

सातवीं शताब्दी के मध्य से जापान निहोन कहलाता है जिसका मतलब है सूर्योदय का देश। कौनसा देश सूर्योदय का देश नहीं है? जो देश हमसे कुछ पश्चिम में है उनके लिये भारत भी सूर्योदय का ही देश है।

हाँ तो इस सूर्योदय के देश में आदमी के लिये जो सबसे अधिक लज्जा की बात है वह है म्युसम्योनो रह जाना, जिसका मतलब होता

है, रजिस्टर्ड न होना। इस तरह का व्यक्ति न किसी स्कूल में प्रवेश पा सकता है और न उसे कोई नौकरी ही मिल सकती है।

जापान में रजिस्ट्रेशन की पद्धति अत्यन्त विकसित है। सभी जापानियों को शहर, नगर अथवा गाँव के आफिस में रजिस्टर्ड होना ही होता है। जब तक रजिस्ट्री न हो तब तक न किसी के जन्म का कोई कानूनी मूल्य है, न शादी का, न तलाक का, न मृत्यु का और न स्थान परिवर्तन का। यदि किसी को अदालत में कोई सजा मिलती है, तो वह भी रजिस्टर में दर्ज होती है।

पहले प्रत्येक मानवी अथवा सामाजिक जाति का मुखिया किसी न किसी बौद्ध सम्प्रदाय में रजिस्टर्ड रहता था और प्रत्येक परिवार किसी न किसी बौद्ध मन्दिर में। जो परिवार रजिस्टर्ड रहे हैं उनके सदस्यों का यह अधिकार रहा है कि उन उन मन्दिरों के पुजारी आ कर उनका श्राद्ध करायें और उनके शव को मन्दिर की श्मशान भूमि में स्थान मिले।

रजिस्टर्ड सदस्यों से भी यह आशा रही है कि वे भी मन्दिर के खर्च में सहायक सिद्ध हों।

किसी के विवाह संस्कार से तो बौद्ध पुजारियों को अब कुछ लेना देना नहीं रहा। इधर वे भी मन्दिरों में होने लगे हैं। हाँ किसी के घर में शोक हो जाय तो मृत व्यक्ति के दाहकर्म के संस्कार के समय सूत्रपाठ किया जाता है।

जापान में बौद्धों का, जो जापान की जनसंख्या के ३० प्रतिशत कहे जाते हैं, अग्नि संस्कार ही होता है। उनकी भस्म का कुछ हिस्सा शवदाह की जगह पर ही रहता है, लेकिन कुछ हिस्सा मन्दिर में भी लाकर रख दिया जाता है।

प्रति वर्ष १८ जुलाई को जापान भर में मृत व्यक्तियों का श्राद्ध मनाया जाता है। मृत-पूर्वजों, सम्बन्धियों, मित्रों और विशेष रूप से पहले एक वर्ष में ही जो अपने सम्बन्धियों को छोड़ कर चले गये हैं, ऐसे लोगों के लिये घरों तथा मन्दिरों में दोनों जगह सूत्रपाठ किये जाते हैं।

पूर्वजों को अर्पित किये गये फल-फूल दूसरे दिन किसी सरोवर की नदी अथवा समुद्र की भेंट कर दिये जाते हैं।

परस्पर एक दूसरे की सहायता के लिये जापान में एक प्रथा प्रचलित है जो म्युजिन कहलाती है। मंडली के प्रत्येक सभासद् का कर्तव्य है कि हर महीने मंडली के सामूहिक कोष में एक निश्चित रकम डाले। यह सिलसिला दस महीने से तीस महीने तक भी हो सकता है। जिस समय सभी सदस्य अपना अपना हिस्सा डालने के लिये एक जगह एकत्र होते हैं उसी समय पर्ची भी डाली जाती है। जिस भाग्यवान् के नाम की पर्ची निकल आती है उसी को वह सारी इकट्ठी रकम एक साथ मिल जाती है। यदि किसी को अधिक आवश्यकता हुई तो वह भाग्यवान् सदस्य को कुछ देकर उससे वह अधिकार खरीद लेता है। बारी बारी से सभी सदस्यों को बराबर रकम मिल जाने के बाद यह क्रम फिर चालू कर दिया जाता है। यह आपसी सहयोग-क्रम अनंत काल तक चालू रह सकता है।

जापानियों में आपस में भेंट का बड़ा ही रिवाज है। भेंट लेने-देने के मुआमले में शायद ही कोई उनका मुकाबला कर सकता है। शादी विवाह जैसे महत्त्वपूर्ण अवसरों पर तो सभी देशवासी प्रायः एक दूसरे को भेंट देते ही हैं, परन्तु जापानी तो ऐसे अवसरों पर भी भेंट देते हैं, जैसे नये मकान के बनने पर, नया पता बदलने पर, नई नौकरी लगने पर। काम से तो नहीं, किन्तु यदि यूँ ही किसी के यहाँ जाना हो तो खाली हाथ जाना न होगा और उसका भी धर्म है कि खाली हाथ न लौटने दे।

अध्यापक, गुरु और वैद्य इन तीनों पर यह पाबन्दी लागू नहीं। वे बिना बदले में कुछ भी दिये कोई भी भेंट स्वीकार कर ही सकते हैं।

कुछ न कुछ भेंट देते रहना जापानियों की प्रकृति का एक अंग बन गया है। अपरिचित लोगों तक को कभी कभी काफी मूल्यवान चीजें भेंट में दे दी जाती हैं। जापानियों का आनन्दित होना ही एकमात्र कारण समझ में

आना है। जापान जाते समय मेरे अपने पास कुल ६० पौंड सामान था। लौटा तो १२० पौंड हो गया! जापानी मित्रों की इसी प्रवृत्ति की कृपा से।

जापानियों में एक प्रथा है जो एक दृष्टि से अच्छी भी लगती है। जब कोई परिवार देखता है कि वह कर्जे के भार से इतना ऊब गया कि अब उसके चुका सकने की कोई आशा नहीं, अथवा परिवार के सदस्य से कोई ऐसा गलता हो गई जिससे परिवार की इज्जत में स्थायी रूप से बट्टा लग सकता है, तो उस परिवार के सदस्य रातो रात अपना सब सामान समेटेंगे और किसी को भी बिना कुछ पता लगने दिये किसी अज्ञात स्थान के लिये निकल पड़ेंगे। यह प्रथा योनिगे कहलाती है, जिसका अर्थ है रात्रि निष्क्रमण।

निराश प्रेम युगलों की आत्म हत्याएं अतीत की मनोरम कथाएं बन गई है। अब कोई हर किरि, पेट फाड़ कर आत्म हत्या भी नहीं करता। किसी समय ये दोनों बात भी जापानी जीवन की खासियतें थीं।

एक खास पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्था है जो कदाचित् जापान में ही है। यह ठीक ठीक भारतीय आश्रम व्यवस्था का वानप्रस्थ आश्रम भी नहीं है। कोई भी आदमी स्वेच्छा से परिवार के मुखियापन और समस्त कार्यभार से मुक्त हो जाता है। वह और उसकी भार्या दोनों *इनक्यो* कहलाते हैं।

जापानियों का सामान्य पेय है चाय, जिसमें न चीनी और न तिब्बतियों की तरह नमक ही। इसके बाद दूसरे नम्बर पर है साके, चावल की सुरा।

जापान में पीकर टर्क हो जाने में कोई बुराई नहीं मानी जाती। यहाँ तक कि यदि आप किसी खास अवसर पर किसी के ...न हैं और पीकर गर्क नहीं होते तो मेजबान को अच्छा नहीं लगता।

एक ओर तो जापानियों की चाय बिना चीनी के होती है। और वे विशेष मिठाई प्रिय भी नहीं होते। तो भी आश्चर्य है कि उनकी काफी सब्जियाँ क्यों चीनी में पगी होती हैं। प्याज, चीनी में पगा हुआ, यह चीज जापान में ही खाने को मिलेगी।

जापानियों का मानस अनेक सुन्दर सुकोमल कथाओं के झीने झीने तारों से बुना हुआ है। एक लघु कथा इस प्रकार है —

एक आदमी था, जिसके दो ही काम थे, या तो मां की सेवा करना या बाग के फूलों की। समय पाकर उसकी माता का देहान्त हो गया। उसका दिल भारी हो गया। वह बाग में घूम रहा था। उसने देखा, बाग के फूल, उनकी भी पखड़ियाँ बिखर बिखर कर ज़मीन पर आ रही हैं। वह साधू हो गया और भी एकाकी। एक रात उसकी कुटी के दरवाजे पर टक टक हुई। दरवाजा खोला। एक स्त्री खड़ी थी। बड़े सकोच और भय के साथ उसने उसे अन्दर आने दिया।

बुढ़िया एक भिक्षुणी थी, सफेद वस्त्र पहने। उसके बाद तरुणियाँ आईं। एक से एक बढ़ कर सुन्दर लिबास पहने।

साधक ने सभी को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया। वे प्रभावित हुईं। उनकी आँखें सजल हो आईं। वे जाने को हुईं।

साधक ने पूछा, "अपना परिचय तो देती जाओ।"

"हम उन्हीं फूलों की पखुड़ियां हैं, जिन्हें तुम इतने दिन अपने बाग में प्रेमपूर्वक सींचते रहे।"

मैं जापान में महीना भर रहा। दो तीन चीज़ें नहीं देखी रोते हुए बच्चे नहीं देखे, झगड़ती हुई स्त्रियाँ नहीं देखी, मांस मछली की दुकानों पर भी मक्खियाँ नहीं देखी।

—दिल्ली से प्रसारित

प्राचीन भारत के गणतन्त्र

बालकृष्ण

संस्कृति के लगभग हर क्षेत्र में भारतीयों की देन इतनी महत्त्वपूर्ण है कि जिस के लिए कोई जाति औचित्यपूर्वक गर्व कर सकता है। किन्तु अबतक यह समझा जाता है कि लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं के विकास में भारतीयों का कोई योगदान नहीं है। सम्भवतः यह विचार इसलिए फैल गया है कि उपलब्ध भारतीय इतिहास में साम्राज्य परम्परा की ही *प्रमुखता दिखाई* पड़ती है। किन्तु हमारे अपने और अन्य देशों के राजनैतिक और सामाजिक जीवन पर जो छाप हमारे गणतन्त्रों की पड़ी है वह सम्भवतः हमारे साम्राज्यों की नहीं पड़ी है। हमारे साम्राज्य तो हमारे देश के कुछ प्रतिभा सम्पन्न विजेताओं की कृति थे और उनके जीवन काल के कुछ ही दिनों पश्चात् वह शून्य में विलीन हो गये। किन्तु हमारे गणतन्त्र स्वयं हमारी जातीय प्रतिभा की अभिव्यक्ति थे।

अब यह प्रश्न होता है कि इतिहास के किस युग में ऐसे राज्य का हमारे देश में जन्म हुआ? हमारे लिखित साहित्य में सर्वप्रथम ऐतरेय ब्राह्मण में गणराज्य का जिक्र है। उससे प्रकट होता है कि आर्यावर्त में उत्तर पश्चिम और दक्षिण में गणराज्य थे और केवल मध्यदेश और प्राची राजाओं अथवा साम्राज्यों के आधीन थे। पाणिनी की अष्टाध्यायी के गणपाठ में पश्चिमोत्तर और उत्तर पूर्व के अनेक गणराज्यों के नाम मिलते हैं और इसी प्रकार महाभारत में भी अनेक गणराज्यों के नाम दिए गए हैं।

बौद्ध और जैन साहित्य में तो गणराज्यों का जिक्र भरा पड़ा है। यह सब सम्भवतः ऐसे गणराज्यों के हैं जो उस युग में पूर्णतया विकसित और चरमोत्कर्ष पर थे। अतः यह निष्कर्ष स्वाभाविक ही है कि इन गणराज्यों का जन्म ऐतरेय ब्राह्मण से पर्याप्त पूर्व हुआ होगा। हो सकता है कि उन का विकास वैदिक कालीन राजाओं के आधीन राज्यों राजाओं और उनकी सभाओं के मध्य राज्य सत्ता के लिए छिड़े हुए संघर्ष में हुआ हो। यह भी हो सकता है कि वर्तमान हिन्दू संस्कृति की शैव परम्परा के समान ही गणतन्त्रात्मक *प्रणाली भी सिन्धु नदी घाटी की सभ्यता* से हमारी ऐतिहासिक संस्कृति में आई हो। यह सम्भावना इसलिये और बलवती हो जाती है कि गणों का शिव से कुछ सम्बन्ध अवश्य प्रतीत होता है। आज भी शिव सहायक और पार्श्ववर्तियों को गण की संज्ञा दी जाती है। शिव के पुत्र गणपति अथवा गणेश कहलाते हैं। शिव के दूसरे पुत्र कार्तिकेय का चित्र यौधेयों के प्रसिद्ध गणतन्त्र के सिक्कों पर मिलता है। अधिकतर गणतन्त्र हिमाचल के अंचल में थे अथवा वाहीक प्रदेश में। दो और बातों से इस विचार को समर्थन मिलता है। मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृति व्यापार प्रधान थी। व्यापार प्रधान संस्कृति प्रमुखतया गणतान्त्रिक संस्कृति होती है। दूसरी बात यह है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की नगर रचना और गृह रचना साधारण जनों की सुविधा और सुख की दृष्टि से की हुई प्रतीत होती है। किन्तु निरंकुश राज्यों में साधारण जनों की सुविधा का विशेष ध्यान रखा जाता ही नहीं। उस पर तो गणतन्त्र ही विशेष बल देते हैं। जो हो इतना तो स्पष्ट है ही कि हमारे देश में गणतान्त्रिक प्रणाली ईसा पूर्व १०५० वर्षों से भी अधिक पुरानी है। प्राचीनकाल में कुछ इने गिने स्थल ही थे जिनमें गणतान्त्रिक प्रणाली वर्तमान थी। यूनान रोम कार्थेज के

नाम इस सम्बन्ध में विशेषतया उल्लेखनीय है। इनमें से किसी देश में भी ईसा पूर्व सातवीं आठवीं शती से पहिले गणतन्त्रों के विकास का तो प्रश्न ही क्या, जन्म तक न हुआ था। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इनमें से किसी देश में गणतान्त्रिक प्रणाली अधिक स्थायी सिद्ध न हुई। भारत में गणतन्त्र प्रणाली ईसा पश्चात् पांचवी शती तक बनी रही। निश्चय ही भारतीय गणतन्त्र प्रणाली में कुछ ऐसी विशेषता थी जिससे वह इतनी शताब्दियों तक बनी रही। महा परिनिर्वाण सुत्त में यह कथा है कि सम्राट् अजातशत्रु ने वज्जी गणतन्त्र के विनाश करने के विचार से अपने मन्त्री वर्षकार को भगवान् बुद्ध के पास उनकी सम्मति जानने के लिये भेजा। भगवान् बुद्ध ने उत्तर दिया कि जब तक वज्जी अपने संविधान के प्रति भक्तिभाव रखेंगे तब तक उनको जीता नहीं जा सकता। महाभारतकार का भी यही मत है कि गणराज्यों में जो निहित गुण हैं उनके कारण वे अत्यन्त शक्तिशाली और समृद्ध होते हैं।

इन गणराज्यों के सांविधानिक संगठन के बारे में जो कुछ संकेत मिलते हैं उनसे ज्ञात होता है कि राज्य की नीति निर्धारित करने के लिये और महत्वपूर्ण राज्य निश्चयों के लिये इन के समस्त नागरिकों की एक सभा थी, जिस में वे सब भाग ले सकते थे।

इस सभा की बैठक के लिये एक विशेष संथागार होता था। इस की बैठक बुलाने के लिये नगर में घडियाल बजाया जाता था और उसकी ध्वनि सुनते ही नागरिक उस में एकत्रित हो जाते थे।

सभा का एक अध्यक्ष होता था जिसे सभापति कहते थे। सभापति के अतिरिक्त कुछ अन्य राजनैतिक अधिकारी भी होते थे जिन्हें सम्भवत मन्त्रधर कहा जाता था। इन अधिकारियों की सेवा की शर्तें क्या थीं, वैतनिक अथवा अवैतनिक, निर्वाचित अथवा अनिर्वाचित निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

मन्त्रधरों को सभा में बैठने, उसकी कार्यवाही में भाग लेने और उस के सामने प्रस्ताव रखने तथा उसका दिग्दर्शन करने का अधिकार प्राप्त था। साथ ही समस्त सभा का कार्य दो प्रकार का होता था। राज्य के सामने जो समस्याएं आती थीं उन के सम्बन्ध में क्या किया जाए, इस को तय करना, और दूसरा न्याय करना। इन सभाओं को यह अधिकार प्राप्त न था कि वह सामूहिक जीवन सबन्धी किसी प्रकार का महत्वपूर्ण कानून बनायें। जहाँ तक ऐसे कानून का प्रश्न था वह सब तो संहिताओं या स्मृतियों में दिया हुआ था। और उस के अनुकूल सब मामलों को तय करना होता था। बौद्ध संघ की कार्यप्रणाली से प्रकट है कि संथागार में सदस्यों के बैठने के लिये अलग अलग आसन होते थे। ज्येष्ठता के क्रम से उन आसनों पर सदस्य बैठते थे। प्रत्येक सदस्य को उचित आसन बताने और उस पर बैठाने वाला एक विशेष अधिकारी होता था जिसे आसन प्रज्ञापक कहते थे।

सभा की कार्यवाही प्रारम्भ करने के लिए यह आवश्यक था कि सभा समग्र हो अर्थात् वहां सदस्य विहित, न्यूनतम संख्या में उपस्थित हों। अन्यथा उसे व्यग्र मान कर उस की कार्यवाही अवैध ठहराई जाती थी। किसी बात के निश्चय करने के लिये सभा में प्रस्ताव रखा जाता था जिसे प्रज्ञाप्ति कहते थे। विहित रीति से इस प्रज्ञाप्ति को सभा के समक्ष रखना आवश्यक था। इसे पेश करने को स्थापनम् कहते थे। तत्पश्चात् अनुस्सावनम् होता था अर्थात् यह इस प्रकार सुनाई जाती थी कि सब लोग सुन लें। जिस प्रज्ञाप्ति के सम्बन्ध में कोई मतभेद न होता था वह तो एक बार के ही रखे जाने के पश्चात् स्वीकृत हो जाती थी, किन्तु जिन प्रज्ञाप्तियों के सम्बन्ध में मतभेद होता था उन को तीन बार सभा में रखा जाता था। इन विभिन्न वचनों को प्रज्ञाप्ति द्वितीय, प्रज्ञाप्ति,

चतुर्थ कहा जाता था। जब विहित बार रखे जाने के पश्चात् प्रज्ञाप्ति सभा द्वारा स्वीकृत हो जाती थी तो उसे सभाकर्म कहते थे। प्रज्ञाप्ति के अधिकृत पाठ को कर्म वाचा कहा जाता था। सदस्य अपना मत शलाकाओं द्वारा व्यक्त करते थे। यह शलाकायें लकड़ी की और विभिन्न रंगों की होती थीं। सदस्यों के मताधिकार को छन्द कहते थे और प्रत्येक सदस्य को अधिकार होता था कि वह किसी पक्ष में भी मत दें।

सभापति सदस्यों से कहता था कि यदि वे प्रज्ञाप्ति से सहमत हों तो न बोलें और असहमत हों तो बोलें। यदि सदस्यों में से कुछ बोलते थे तो पहले तो प्रस्तुत विषय पर उनके विचार सुने जाते थे और तत्पश्चात् छन्द लेने के लिए शलाकाओं का वितरण किया जाता था। शलाकाओं को पुनः इकट्ठा करने के लिए और प्रत्येक पक्ष में डाले गये शलाकाओं की गिनती करने के लिए एक राजकर्मचारी होता था जिसे शलाकाग्राहक कहते थे। शलाकाग्राहक वही व्यक्ति निर्वाचित होता था जो अपनी निष्पक्षता और छंदपहिचानना, सद्बुद्धि निर्भयता और शलाका गणना के लिए प्रख्यात होता था। सब निश्चय बहुतर मत अथवा पद भूयासिका क्रिया के नियम के अनुसार होते थे अर्थात् जिस कर्म के लिए सदस्यों की अधिक संख्या के मत पड़ते थे वही सभा द्वारा स्वीकृत माना जाता था। सभा में विवाद के लिये भी नियम थे और कोई सदस्य असंगत बातें न कर सकता था। कभी कभी खुली सभाओं में वाद विवाद के समाप्त न होने पर प्रस्तुत प्रश्न के निबटारे के लिए सदस्यों की एक छोटी सी समिति इस हेतु बनाई जाती थी कि वह विचार करके किसी सर्व सम्मत निश्चय तक पहुँचने में सभा की सहायता करें।

प्रश्न होता है कि जब यह गण राज्य इतने सबल और शक्तिशाली थे, तो भारतीय इतिहास के रंग मंच से यह लुप्त क्यों हो गये? इसके कई कारण हैं। यह गणतन्त्र एक सीमित राज्य क्षेत्र में ही सफलता से कार्य कर सकते थे। यद्यपि गणतन्त्रों ने मिलकर अपनी रक्षा के लिए संघ भी बनाये थे किन्तु उन दिनों के यातायात साधनों की कमजोरी के कारण यह संघ अधिक दिनों तक जीवित न रह सके थे। क्योंकि विस्तृत राज्यक्षेत्र में दूरी के कारण गणराज्यों के नागरिक इनकी सभा में एकत्रित न हो सकते थे।

दूसरी बात यह थी कि गणतन्त्रों की आय और अन्य साधन इतने न होते थे कि वे शताब्दियों तक आक्रान्ताओं का मुकाबला करते रहते। अधिकतर भारतीय गणतन्त्र भारत की उत्तर पश्चिमी और उत्तरी सीमाओं पर थे। इन्हें निरन्तर विदेशी आक्रान्ताओं का सामना करना पड़ा। अतः शताब्दियों तक संघर्ष के कारण वे दुर्बल हो गये, अनेकों को अपनी भूमि छोड़कर कम उपजाऊ प्रदेशों में शरण लेनी पड़ी और इस प्रकार वे शनैः शनैः निस्तेज हो गये। कुछ सीमा तक अपने आन्तरिक विद्वेषों और वर्गद्वन्दों के कारण भी वे दुर्बल हो गये।

किन्तु भारतीय रंगमंच से ओझल हो जाने पर भी उनकी राजनैतिक छाप हमारे समाज पर बना रहा है। अंग्रेजों के राज्य से पूर्व हमारी ग्राम्य व्यवस्था बहुत कुछ गण-तान्त्रिक प्रणाली के आधार पर ही चलती थी।

—दिल्ली से प्रसारित
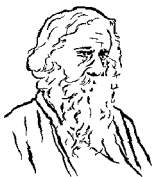
दीनबन्धु एंड्रूज़ के संस्मरण

बनारसीदास चतुर्वेदी

पन्द्रह जुलाई सन् १९२१ के पत्र में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने दीनबन्धु सी० एफ० एंड्रूज को लिखा था—

'As a letter writer, you are incomparable! Your letters come down like showers of rain upon the thirsty land. Writing letters is as easy to you as it is easy for our Sal Avenue to put forth its leaves in the beginning of the spring month

अर्थात्—पत्र लेखक की हैसियत से आप अनुपम हैं। आपके पत्रों की धारा उसी प्रकार आती है जैसे प्यासी भूमि पर वर्षा की धाराएँ, और आपके लिये पत्र लिखना उतना ही आसान है जितना वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में हमारी शाल कुञ्ज के लिये नवीन पत्र धारण करना।

लगभग पच्चीस वर्ष तक दीनबन्धु एंड्रूज से पत्र-व्यवहार करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि वे पत्र लेखन कला में अनुपम थे। भाषा सौन्दर्य की दृष्टि से उनके पत्र भले ही गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और माननीय श्रीनिवास शास्त्री के पत्रों से घटकर हों, पर स्वाभाविक सहृदयता तथा निश्छल प्रेम में वे उनसे बाजी मार ले जाते थे।

महात्मा गाँधी प्रायः मज़ाक में कहा करते थे, एंड्रूज़ तो तार के द्वारा प्रेम भेजता है। मुझे भी इस प्रकार के कई तार मिले थे। एक बार मेरे जीवन में कुछ निराशा आ गई थी और परिणामस्वरूप लेखों में कुछ कटुता। उन्होंने मुझे लिखा था—

तुम्हारे लिये मेरा परामर्श यही है कि तुम मुख्यतया साहित्य-सेवा में ही संलग्न रहो और व्यक्तिगत तौर पर प्रवासी भारतीयों के लिये जो कुछ बन सके करो, सस्था अथवा कॉंग्रेस की चिन्ता न करो, उसमें तो तुम्हारी अमूल्य शक्ति का अपव्यय ही होगा मैं कांग्रेस पर या किसी दूसरे पर आक्षेप नहीं करूँगा, बल्कि शान्तिपूर्वक यथासम्भव सेवा करने की सलाह तुम्हें देता हूँ, ज्यों-ज्यों मेरी उम्र बढ़ती जाती है, त्यों त्यों दूसरों पर आक्षेप करने की प्रवृत्ति कम होती जाती है और रचनात्मक कार्य करने तथा सहानुभूति तथा प्रेम प्रदान करने की इच्छा बढ़ती जाती है।

दीनबन्धु एंड्रूज के सर्वोत्तम पत्र तो वे हैं जो उन्होंने भारत में आने पर अपने माता पिता को लिखे थे, प्रति पक्ष में विलायती डाक से वे एक चिट्ठी अपनी पूज्य माताजी को भेजा करते थे और इसमें वे कभी नागा नहीं करते थे। एक बार ऐसा हुआ कि ब्रिटिश सरकार की खुफिया पुलिस ने उनके पत्रों को बीच में ही रोकना शुरू कर दिया, इससे वे अत्यन्त उद्विग्न हो उठे थे।

दीनबन्धु एंड्रूज का कार्य आसान नहीं था, बहुत वर्षों तक अनेक भारतीय उन्हें अँग्रेजों की खुफिया पुलिस का आदमी समझते रहे, यहाँ तक कि प्रारम्भ में स्वयं शान्तिनिकेतन के कितने ही निवासी उन्हें शक की निगाह से देखते थे। इधर तो भारतीयों के वे आशंका पात्र थे और उधर अँग्रेज़ों के घृणा पात्र।

१२ जनवरी सन् १९३० के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था—

"It is Difficult indeed to be a peace

maker ! But we were never told that it would be easy '

अर्थात् पारस्परिक मेल कराने का काम दर असल बहुत मुश्किल है। पर यह कहा किसने था कि यह काम आसान होगा।

एक पत्र में मि० एंड्रूज ने मुझे लिखा था—

"At Kanchanpara I was attacked in a very violent speech by a *Swami* who said in Hindi 'You are one of those English Sahebs who live in luxury and fill their stomachs out of the sufferings of the poor of India ! Is that not amusing description of me ?

अर्थात्—'कचनपाड़ा की एक मीटिंग में एक स्वामीजी ने मुझ पर घोर आक्षेप किया। उन्होंने हिन्दी में मेरे बारे में कहा आप जनाब, उन अँग्रेज साहबों में से हैं जो भोग विलास की जिन्दगी बिताते हैं और गरीब हिन्दुस्तानियों का पेट काटकर अपना पेट भरते हैं। क्या यह मेरे चरित्र का हास्योत्पादक वर्णन नहीं है ?

पर इस प्रकार के आक्षेपों से कभी-कभी दीनबन्धु एंड्रूज को मर्मान्तक चोट पहुँचती थी। एक बार पूर्व अफ्रीका के एक भारतीय पत्र ने, जिसके सम्पादक भारतीय ही थे, दीनबन्धु एंड्रूज के बारे में लिखा था—

"We have another kind of enemy the insidious bowing cringing *khaddar* wearing, barefooted white *sadhus*, who take our side to help us lose the game

अर्थात—हमारे एक अन्य प्रकार के भी दुश्मन हैं। हमारे यहाँ ऐसे गोरे साधु आते हैं, जो खूब विनम्र बनते हैं। लल्लो चप्पो की बातें बनाते हैं, खद्दर पहनते हैं, नंगे पाँव रहते हैं, पर जो दरअसल विश्वासघातक हैं। ये लोग हमारे पक्ष में शामिल होकर हमारी हार कराने में मदद देते हैं।

इस आक्षेप से तो दीनबन्धु एंड्रूज तिल मिला गये, और उन्होंने श्री राजगोपालाचारी को लिखा था—

"The attack makes me at once wish to retire into obscurity and find shelter with my God, who knows how false such things are I cannot be the same as before after such a thing has happened

अर्थात्—अपने ऊपर किये गए इस आक्रमण से मेरे मन में तुरन्त ही यह इच्छा होती है कि मैं एकान्त में अपने ईश्वर की शरण ग्रहण करूँ जो कि जानता है कि मेरे ऊपर किये गये ये आक्षेप कितने असत्य हैं। इस प्रकार की घटना के बाद मेरा मनोवृत्ति वैसी नहीं रह सकती, जैसी कि पहिले थी।

भारतीयों की ओर से ही नहीं, उनके देशवासी अंग्रेजों की ओर से भी उन पर घोर आक्रमण होते थे। पर वे धीरे धीरे शान्त हो जाते थे, और अपने दार्शनिक दृष्टिकोण से अपने को स्वयं ही समझा लेते थे। अपने एक पत्र में मुझे उन्होंने लिखा था

"But I am by no means in despair For the history of all subject and depressed people is the same It makes a vicious circle out of which it is impossible to get except by a sacrifice which means the sacrifice of our all We must go on and on until we win and we must not get angry with any one but love them all the more because they are weak

अर्थात—लेकिन मैं हर्गिज़ निराश नहीं हूँ, क्योंकि तमाम पराधीन और पददलित जातियों के इतिहास में समानता है, उस से हम एक कुचक्र में फँस जाते हैं, जिसमें से निकलना असम्भव है जब तक कि बलिदान न किया जाय, अपने सर्वस्व का बलिदान। हमें निरन्तर आगे ही बढ़ते रहना चाहिये, जब तक कि हमें विजय प्राप्त न हो जाय और हमें किसी से भी नाराज़ न होना चाहिये, बल्कि सब से प्रेम करना चाहिये, इसलिये और भी ज्यादा कि वे निर्बल हैं।

दीनबन्धु एंड्रूज का समस्त शरीर प्रेम के परमाणुओं से बना हुआ था। महात्मा

गांधी तो कहा करते थे, एंड्रूज तो पुरुष के रूप में स्त्री है।

दीनबन्धु एंड्रूज के जीवन में निरन्तर अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता था। वे बड़े विद्वान् थे, उन का साहित्यिक रुचि खूब विकसित थी और व कविता मर्मज्ञ ही नहीं स्वयं अच्छे कवि भी थे। उनकी सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति यही रहती था कि कहीं एकान्तवास करके अच्छे ग्रन्थों की रचना करें। अपने अत्यन्त व्यस्त जीवन में से किसी प्रकार समय निकाल कर उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे भी थे, पर परिस्थितियों के कारण उन्हें बार बार राजनैतिक कार्यों में उलझ जाना पड़ता था। अपने ९ नवम्बर १९२२ के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था

'मुझे यह जान कर बहुत खुशी हुई कि तुम राजनैतिक संघर्ष में शामिल नहीं हो रहे। तुम, मैं और तोताराम सनाढ्य राजनैतिक क्षेत्र के लिये उपयुक्त हैं ही नहीं, निश्चय पूर्वक बार बार हम दोनों को यह सबक सीखना पड़ा है, कि हम लोगों का कर्तव्य केवल गरीबों की सेवा करना ही है।"

दीनबन्धु एंड्रूज संस्थाओं में विश्वास नहीं रखते थे, उन्होंने कई बार मुझे कहा था कि संस्थाओं के चक्कर में न पड़ो। उनका विश्वास व्यक्तिगत ढंग पर किये गये कार्यों पर था। ६ अक्तूबर, सन् १९२६ के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था—

"If you have learnt anything from me, it is this that each individual counts and we each of us can do an immense amount of good by quietly carrying on our individual work But when we have an office and staff, etc, on this work, the personal work suffers'

अर्थात्–यदि तुमने मुझ से कुछ भी सबक सीखा हो तो वह यही है कि प्रत्येक व्यक्ति का महत्व है, और हममें से प्रत्येक अत्यन्त हित कर सकता है, यदि वह शान्तिपूर्वक व्यक्तिगत तौर पर अपना कार्य करता रहे। लेकिन जब हम एक आफ़िस बनाते हैं, और उस के संचालनार्थ कार्यकर्ता इत्यादि रखते हैं तो निजी तौर पर किये गये कार्य को हानि ही पहुंचती है।

दीनबन्धु एंड्रूज के कम से कम छै सौ मूलपत्र मेरे संग्रहालय में हैं। उन का अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद है। उनमें उनके कोमल हृदय का प्रतिबिम्ब भली-भांति प्रदर्शित हो जाता है। भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में दीनबन्धु एंड्रूज के पत्रों का कुछ महत्व अवश्य है, क्योंकि उन का जीवन हमारे देश के दो महापुरुषों, महात्मा गांधी तथा कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कार्यों से सम्बद्ध था, लेकिन दीनबन्धु एंड्रूज के जीवन की यह खूबी थी कि उन की निगाह में छोटे से छोटे व्यक्ति का महत्व था, और इस दृष्टि से भी उन के पत्र महत्वपूर्ण हैं।

—दिल्ली से प्रसारित

मृतास्त एवात्र यशो न येषा
आधास्त एव श्रुति वर्जिता ये।
ये दानशीला न नपुंसकास्ते
य कर्म शाला न त एव शोच्या ॥

जिन्होंने यश पाने का कोई काम नहीं किया, वे मरे हुए हैं। जिन्हाने शिक्षा प्राप्त नहा की, उनके नेत्र बन्द रहते हैं। जो किसी को कुछ नहा देते, वे नपुंसक हैं और जो कर्म शील नहीं हैं, उनकी दशा विचारणीय है।

महात्मा विदुर

ग्राम जीवन में उल्लास

रामनरेश त्रिपाठी

गाँव वालों ने अपने जीवन में उल्लास या खुशियां कितनी भर रक्खी हैं, आज मैं इसी विषय में बोलने जा रहा हूँ। शहर वाला बेमतलब कभी नहीं हँसता। वह खुशी के हर एक काम को सभ्यता नाम के बंधन में बंधा रह कर करता है। पर गांव वाले के लिये कोई बंधन नहीं। वह हँसने की बात पर खुल कर हँसता है और हर एक हौंसले के मौके पर अपना पूरा हृदय खोल देता है। वह जीवन के उल्लास या खुशी को स्वतंत्र रूप से मनाता है उसमें घरेलू झगड़ों के दुःख, गरीबी की चिन्ता या कपड़ों के मैलेपन की छाया पड़ने नहीं देता। पर शहर वालों के उल्लास में आस पास की बहुत-सी बातों का असर पड़ा हुआ रहता है। और प्रायः वे अपनी खुशियों में ऐसे ही चुने हुए लोगों को शामिल करते हैं जो उन्हीं की सी रहन सहन और हैसियत के होते हैं। पर गांव वालों की ज्यादातर खुशियां सार्वजनिक होती हैं, उनमें गरीब अमीर, छोटे बड़े और ऊँच-नीच का भेद भाव नहीं होता। जीवन के उल्लास में सब अपनी इच्छा भर भाग लेते हैं।

पर उल्लास को प्रकट करने के लिये हँसने के सिवा क्या और भी कोई साधन उनके पास है? हाँ, है। उन्होंने अपनी रोजमर्रा की बोल चाल में, जाने पहचाने हुए शब्दों में, मन को हुलसाने वाले रागों में, खुशी के हर एक मौके के लिये गीत बना रक्खे हैं, कहावतें और पहेलियां बना रक्खी हैं, वे न सूरदास के मुहताज हैं, न तुलसी दास के। उनके बाजे भी मामूली चमड़े, लकड़ी, लौकी और तार के बने होते हैं जिनमें उनको बहुत ही कम खर्च करना पड़ता है। शहर वालों के पास सिर्फ गजलें एक नई चीज है, बाकी तो संगीत का सारा धन गांव वालों ही का है, जिससे वे भी अपने मन के हौंसले निकालते हैं। गाँव के हर एक ऐसे वाले ने अपने गीत और बाजे और उनके राग और ताल अलग कर रक्खे हैं, जिनसे वे दूर से ही पहचाने जा सकते हैं।

ग्राम जीवन के कुछ ऐसे उल्लास हैं जो हर एक घर के अलग-अलग होते हुए भी सब में एक से हैं और सभी एक साथ मिलकर उसका आनन्द लेते हैं। जैसे सब से पहला उल्लास पुत्र-जन्म का है, जिसमें बारह दिनों तक लगातार सोहर गाया जाता है, और मुहल्ले की सब स्त्रियां मिलकर गाती हैं। छठे दिन छोटा उत्सव, जिसे छट्ठी कहते हैं, और बारहवें दिन बड़ा उत्सव, जिसे बरही कहते हैं, किया जाता है। इसी प्रकार मुंडन, कर्ण छेदन, जनेऊ, विवाह और बेटी की विदा आदि भी एक घर के रहते जाकर प्रायः सार्वजनिक होते हैं। ऋतुओं के उल्लास भी सार्वजनिक होते हैं जैसे कजली, दशहरा दीवाली और होली आदि। गांवों में देवी, देवता, मठ और सती के चौरे के नाम पर मेले भी काफी तादाद में लगा करते हैं जिनके गीत भी अलग अलग होते हैं। रामलीला तो करीब-करीब हर एक गांव वाले को देखने को मिल ही जाती है, जिसमें तुलसीदास जी का रामायण ढोलक और मजीरा के साथ सीधी प्रकार के स्वरों में जोर जोर से गाया जाता है और बहुत से आदमी मिल कर गाते हैं।

सब से दिलचस्प बात यह है कि वे अपने जीवन के उल्लासों में संसार के पशु पक्षी, लता पेड़, यहाँ तक कि पृथ्वी और नदी में भी अपना ही जैसा आत्मा का अनुभव करते हैं, और अपनी ही बोली में उनसे संवाद भी करते-

कराते हैं। यह एकात्मता कवियों की कविता में नहीं पाई जाती। जैसे, एक बांझ स्त्री जी बहलाने के लिये बढ़ई से काठ का एक बालक गढ़वाकर उसे आगन में रखकर कहती है —

बाबुल मोरे अगन रोइ सुनावउ म बाँझिनि कहावउ।

इस पर काठ का बालक बोलता है

देव गढल जो मैं होनउ त रोइ सुनउतेउ।
रानी बढई क गढल होरिलवा रोवन नहिं जानइ ॥

एक बांझ स्त्री धरती से कहती है

धरती तुमही सरन अब देहु बझिनि नाम छुड्इहो।

इस पर धरती जवाब देती है

ताहका जो हम राखि लेई हमहु होब ऊपर हो।

एक स्त्री अपने रूठे हुए पति को मनाने के लिए श्यामा चिड़िया को कहती है

अरे अरे श्यामा चिरइया झरोखवें पति बोलहु।
मोरी चिरई अरी मोरी चिरई सिरकी भितर।
बनिजरवा जगाइ लइ आवउ मनाइ लइ लावहु।

इस पर श्यामा चिड़िया पूछती है

कवन बरन उनकै सिरकी कवन रग बरदी।
बहिनी कवन बरन बनिजरवा जगाइ लइ आई मनाई लइआई।

एक स्त्री अपने आगन मे लगे हुए चदन के पेड पर बैठे हुए कौवे से पूछती है

की कागा नैहर से आवा कि हरिजी पठावा।
कागा कौन सदेशा तुम लायो त बोलिया सुहावन ॥

इस पर कौवा जवाब देता है

नाही हम नैहर आवा न हरिजी पठावा।
आजु के नवय महीना होरिल तोर होइ ह ॥

रानी रुक्मिणी का मोतियों का हार टूटकर जमना के जल में गिर पड़ा था। रानी ने चकई से कहा, "बहन! ज़रा मेरे मोती निकाल द।" चकई खुद अपने चकवे की खोज मे थी। उसने झुंझला कर कहा

अगिया लगावो तोर हरवा बजर परे मोतिन हो।
बहिनी सझवें से चकवा हैरान ढूँढ़त नहिं पावउ

एक बहू कोयल को बुलाकर न्योता देने भेजती है

अरी अरी कारी कोइलिया आगन मोरे आवहु।
आज मोरे पहिला बिआह नवत दइ आवहु।

एक नव विवाहिता बहू सोहाग-रात मे सूर्य, चन्द्रमा और मुर्गे को कुछ कह रही है

आजु सुहाग के राति चदा तुम उइहो सुरुज मति उइहो।

मोर हिरदा बिरस जनि किहेउ मुरग मति बोलेउ
मोर छतिया बिहरि जनि जाइ तु यह जिनि फाटउ॥
आजु करहु बडि राति चदा तुम उइहौ।
धिर धीरे चहि मोरा सुरुज बिलम करि अइहो।

मोरा सुरुज मे कितनी प्रेम वेदना भरी है। इसे कोई सोहाग रात वाली ही बता सकती है।

उल्लास को जीवन के दुखो से ऐसा अलग रक्खा गया है कि जिन स्त्रियो ने सास की झिडकी और पति की डाट फटकार या ननद की चुगली से खिन्न होकर कुछ खाया पिया नहीं, पेट खाली और मुह सूखा हुआ है, वे भी बड़े उमग के साथ गा रही हैं। जिन पुरुषो को कल रात मे आधा पेट खाना मिला था, और आज का ठिकाना नहीं है वे भी जी खोलकर गा रहे है, और नाचने वाले नाच रहे हैं। ऐसा स्वाभाविक उत्साह शहर में देखने को शायद ही मिले।

अब पुत्र जन्म का एक गीत सुनिये। बहू नव पहली बार माता बनती है, और पुत्र के लिये उसके हृदय में जो प्रेम पैदा होता है, उससे उसका परिचय होता है जिसमे वह अपनापन खो देती है, तब उसकी क्या दशा होती है, गीत में उसी का चित्र खींचा गया है

कमर म सोहै करधनिया पाव पैंजनिया हो,
ललन दूरि खेलन जनि जाओ ढुँढन हम न अउवैं ॥
सात बिरन की बहिनिया बाप धिया एकै।
अपन हरिजी क परम पिआरि ढुढन कैसे अउवैं ॥
भोर भय भिनुसखा कलेवना भी जुनिया।
होइगे कलेवना की बर ललन नहिं आय ॥
अगिया तो फाटे बदे बद अचरा बरै कर।
छतिया उठी वहराय ढुढन हम आइनि ॥

सात बिरन के बहिनियाँ बाप धिया एकै।
मैया बाबू क परम पिआरि हुइन कैस आइउ॥
छाडयी मैं सातौ बिरनवा बाप कर नैहर।
बेटा, छोडि दो-ही हरि के सेजरिया हुइन
हम आइनि॥
जैसे कुम्हार क आँवा त भभकि भभकि रहै।
बेटा वैसेई माई क करेजवा धधकि धधकि रहै॥

अर्थ स्पष्ट है—वहू को घमण्ड था कि वह सात छोटे भाइयों की बहन, बाप की एक ही बेटी और पति की परम प्यारी है। वह नन्हे से बच्चे के पीछे कैसे दौड़ी जा सकती है। पुत्रप्रेम कैसा होता है, इसका उसे पता नहीं था। पर जब पुत्र खेलने निकल गया और कलेवे के समय तक नहीं लौटा, तब पुत्रप्रेम के आगे बहू का सारा घमण्ड चूर चूर हो गया और उसे कलेजे की थपक और धधक मालूम हुई। बच्चे ने पुत्र-प्रेम पर माँ को ताना भी मारा था। वह कैसा चुभता हुआ है।

ऋतुओं के उल्लास ऋतु के अनुकूल होते हैं। सावन में हिंडोले पड जाते हैं। उनके गीत बड़े सुहावने और रसीले होते हैं, जिनमें रात में घर के काम काज से फुरसत पाकर लड़के-लड़कियाँ और बहुएं झूलतीं और गाती हैं। हिंडोले का एक गीत मुगलों के ज़माने का है। जब मुगल ही बड़े वीर गिने जाते थे। ताजे दूध में से भाप निकलती देखकर एक बहिन सोचती है

छोटी मोटी दुहनी दूध के
किनारे आगिनि बाफ लेई। बलैया लेउ वीस।
इहै दूध पियई वीरन मोरा,
जिरना लड़इ मुगलवा के साथ।

उत्तर भारत में बरसात में आल्हा गाया जाता है जिसमें बड़ी भीड़ रहती है। जैसे पंजाब में हीर-रांझा, मारवाड़ में ढोला मारू, बिहार में लोरिक और छत्तीसगढ़ में ढोला और रसालू बहुत लोकप्रिय गीत हैं, वैसे ही उत्तर भारत में आल्हा, चनैनी सरवन, सीता बनवास, कृष्ण सुदामा, गोपीचंद भरथरी, शिवपार्वती का विवाह और राजा ढोलन आदि बड़े-छोटे सैकड़ों गीत गाये जाते हैं जिनमें सर्व-साधारण खूब रस लेते हैं। जाड़ों में राम-लीला होती है। रात में चक्की और कोल्हू के गीत गाये जाते हैं।

फागुन में फाग की और चैत में चैती की बहार आती है।

रोन के गीत निराले समय गाये जाते हैं। इस तरह देखा जाय तो गाँव वालों का सारा जीवन बारहों महीने उल्लास से भरा हुआ मिलेगा।

—इलाहाबाद से प्रसारित

आलस्य हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
आलस्य मनुष्य के शरीर में रहने वाला सब से बड़ा शत्रु है।

* * *

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

हे पार्थ! कर्म अकर्म का क्या भेद है, यह जान लो। कर्म की गति गहन और महान् है।

कवि दिनकर से तीन प्रश्न

प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'

(१) मुक्त—क्या आप इससे सहमत हैं कि रसवन्ती' में ही आपका सच्चा कवि रूप प्रकट हुआ है ?

दिनकर—'रसवन्ती' की जो बार बार यह कह कर प्रशंसा की जाती है कि वह मेरी सर्व श्रेष्ठ रचना है, इससे जान पड़ता है कि हमारे साहित्य से अभी यह रूढ़ि दूर नहीं हुई है कि श्रेष्ठ कविता वही हो सकती है जो फूल, नदी, प्रेम, नारीरूप अथवा आध्यात्मिक सौन्दर्य को लक्ष्य करके लिखी गई हो। इनसे भिन्न विषयों पर कविताए रची ही नहीं जा सकतीं। फिर भी इक्बाल ने नारी सौन्दर्य को छुआ तक नहीं और ईलियट परम्परावादी होते हुए भी परम्परागत उपकरणों को काव्य में महत्व नहीं देते। वस्तुत इनके सिवा और भी विषय और भाव हैं जिन पर अच्छी रचनाएँ की जा सकती ह, बल्कि, समर्थ कवियों के द्वारा की जा रही हैं।

(२) मुक्त—कुछ आलोचकों का कथन है कि आप पर उर्दू क इक्बाल और जोश तथा बगला के काजी नज़रुल इस्लाम का प्रभाव पड़ा है। इससे आप कहा तक सहमत हैं ?

दिनकर—तीन ही नहीं, मुझ पर अन्य भी कई कवियों और दार्शनिकों का प्रभाव है। जो कवि या दार्शनिक मुझे प्रेरित कर सकता है, जिसके साथ टकराने पर मेरे भीतर स्फुलिंग पैदा होते हैं, मै समझता हूँ, वह मुझे प्रभावित भी करता होगा। आरभ से इक्बाल जब पढ़ता था, तब मेरा सारा अस्तित्व कपायमान हो उठता था और मैं महसूस करता था, मानो कोई मुझे उठाये हुए ऊपर जा रहा है। जोश और नज़रुल का असर ऐसा नहीं रहा। फिर भी नज़रुल की चीज मुझे बेहद प्यारी लगती थी। चीखने का असर तभी होता है, जब आदमी धीरे धीरे बोलते बोलते कलात्मक ढग से गर्जन के स्तर पर पहुचे। जोश ने मुझे किस प्रकार प्रभावित किया है, यह प्रक्रिया म नहीं सोच पाता, किन्तु उनकी कविताओं का म भी प्रशसक हूँ।

(३) मुक्त—यद्यपि आपकी कविताओं में राष्ट्रीयता तथा अतीत गौरव के प्रति एक प्रबल मोह अभिव्यक्त हुआ है, किन्तु साधारणत ऐसा नही जान पड़ता कि आपके विचार गाधीवाद से प्रभावित हैं। इसके विपरीत 'बापू' नामक खण्ड काव्य मे गाधीवाद के प्रति आपकी जिस वैयक्तिक आस्था की अभिव्यजना दीख पड़ती है, उसकी प्रेरणा आपको कब और कैसे मिली ?

दिनकर—क्या आप कोई ऐसा भी जाग्रत भारतीय है जो यह कह सके कि गाधी जी ने उस पर कोई प्रभाव नहीं डाला है ? अगर कोई ऐसा दावा करता है तो म यह कहूँगा कि वह कारण विशेष से गाधी के असर से इनकार कर रहा है। मगर, आपका यह समझना ठीक है कि गाधीजी की सारी बातों को म ग्रहण नहीं कर सका हूँ। कुछ ऐसी बातें भी है जिन्हे मैंने अपने ही ढग पर लिया है। उदाहरणार्थ, गाधीवाद मे हिंसा के लिये कही भी स्थान नही है, इसे मैं नहीं मानता। गाधीजी ने मार्क्स की तरह जीवन का कोई दर्शन नहीं दिया। उनका सारा ज्ञान उनके कर्म और प्रयोग से छिटकी हुई चिनगारी

हवाई द्वीप में भारतीय संस्कृति

श्रीकृष्ण सक्सेना

हवाई सात ऐसे द्वीपों का देश है जो कि बीच प्रशान्त महासागर में करीब २,००० मील अमेरिका से पश्चिम और करीब ३,००० मील जापान के पूर्व की ओर है। यह सब द्वीप ज्वालामुखी पहाड़ों से उत्पन्न हुए हैं और ज्वालामुखी पहाड़ों को जलते और बुझे हुए देखने की यह अनुपम जगह है। राजनैतिक दृष्टि से यह देश अमेरिका का एक बहुत महत्वपूर्ण हिस्सा है, जो उस के हाथ १८९८ में आया। अब शायद इसी वर्ष यह अमेरिका का ४९वां राज्य होने वाला है। अमेरिका से हवाई जहाज़ यहाँ नौ घन्टों में आते-जाते रहते हैं। आजकल हवाई अमरीकी नौ-सैनिक प्रशासन का केन्द्र है। और यहीं पर्ल-हार्बर है जिसका नाम आपने द्वितीय विश्व-युद्ध में सुना होगा। इन द्वीपों की कुल आबादी छः लाख से कम है। यहाँ के निवासी करीब-करीब कुल अमेरिका के नागरिक हैं। यहाँ की नागरिकता मिलीजुली जातियों की नागरिकता है जो इस देश की एक बहुत बड़ी विशेषता है। इनमें से करीब ३९ फ़ीसदी जापानी हैं, ३० फ़ीसदी यूरोपियन, १९ फ़ीसदी मिश्रित रक्त के हवायन, १० फ़ीसदी फिलिपिनो, ६ फ़ीसदी चीनी, २ फ़ीसदी शुद्ध हवायन और इससे भी कम कुछ कोरियन इत्यादि हैं। ये सारी भिन्न-भिन्न जातियाँ अपनी-अपनी संस्कृति के अनुसार आपस में मिल-जुल कर रहती हैं और इस दृष्टि से इसे हम आज कल एक आदर्श देश कह सकते हैं।

मैं जब हवाई गया तो मुझे यह जान कर बड़ी खुशी हुई कि अब भी वहाँ बहुत से ऐसे लोग हैं जिन्होंने स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर का वहाँ स्वागत किया था। जब मैंने वहाँ कुछ घरों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और गाँधीजी की तस्वीरें देखीं तो पहले तो मैं यह समझा कि साधारण सम्मान के कारण ही ऐसा है। पर बाद को पूछने से पता लगा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को तो उन लोगों ने स्वयं बुलाया था, और वह एक दिन वहाँ ठहरे थे। इसी तरह से अन्य प्रसिद्ध भारतीय भी वहाँ आ चुके हैं। पर वहाँ भारतीय हैं नहीं, केवल एक कुटुम्ब जे० जी० बाटुमल का वहाँ करीब ४० साल से है और उन्होंने देश और देश की संस्कृति की काफी सेवा की है। हवाई विद्यालय में भारतीय संस्कृति के ज्ञान और शिक्षा की वृद्धि का भार भी इन्हीं पर है।

हवाई की आदिम जातियों को आप देखिये तो उनके-करीब करीब हिन्दुस्तानी होने का धोका होता है। उनकी, सूरत, शक्ल, शरीर का ढाँचा, खानपान और रहने का ढंग बिल्कुल भारतीय जैसा है। यह जानते हुए भी कि वहाँ कोई हिन्दुस्तानी नहीं है एक दिन एक क्लब में मैंने एक महाशय से यह पूछ ही तो लिया कि आप भारत के किस भाग से आये हैं, पर पूछते पूछते ही ज्ञात हो गया कि वह तो भारतीय न थे। जैसा कि कुछ लोगों का मत है, हो सकता है कि वहाँ के आदिमवासी भारत से गये हों। हाँ, एक बात अवश्य है वह यह कि सभ्य जातियों में भारतीयों को छोड़ कर सिवाय हवायन के और कोई पूर्वी जाति भी बिना काँटे-छुरी या किसी

और इस तरह के साधन के बगैर भोजन नहीं करती।

हवाई भारत से बड़े बातों में मिलता-जुलता है। मुझे वहाँ आम देखने की आशा नहीं थी, पर जाकर देखा तो सारा द्वीप आम के वृक्षों से भरा था। उनमें से कुछ बहुत अच्छे थे। पपीता और नारियल तो वहाँ आवश्यकता से अधिक होते हैं। हिन्दुस्तानी मसाले वहाँ पैदा तो नहीं होते पर मिलते सब हैं। ईख और अनन्नास की खेती वहाँ सर्वश्रेष्ठ और देखने लायक है। भारत के एक सज्जन जो यहाँ से ईख के अनुसन्धान के लिये वहाँ गये थे, उन्होंने इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की, वह वहाँ ही बस गये और वहाँ ही उनकी मृत्यु हुई। इस नाते भी भारत और हवाई का ईख द्वारा सम्बन्ध है। गन्ने की खेती के अनुसधान के लिये गर्म देशों के विद्यार्थियों के लिये हवाई सर्वोत्तम स्थान है। गत वर्ष पाकिस्तान के एक महोदय इसी कार्य के लिये वहाँ थे। आज भी एक भारतीय विद्यार्थी वहाँ यही काम कर रहे हैं।

हवाई अपनी सुन्दर आबोहवा, आकाश के सौंदर्य और फूलों तथा पत्तों की मोहक्ता के कारण प्रशान्त महासागर का स्वर्ग कहलाता है। यहाँ के प्राचीन निवासी (केलोनीशियन्स्) भी यह जानते थे कि वह इस पृथ्वी के एक बहुत ही सुन्दर स्थान पर बसते हैं। आज तो इसका महत्व इस कारण और भी बढ़ गया है कि प्रशान्त महासागर में जितने भी जहाज़ या हवाई जहाज़ आते-जाते हैं, उनके लिये यह एक अनिवार्य स्टेशन है। हवाई इलाके की राजधानी का नाम होनोलूलू है।

हवाई से मेरा सबंध सबसे पहले सन् १६४७ में हुआ जबकि मैंने सुना कि हवाई विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के प्रोफ़ेसर काशी विश्वविद्यालय में डाक्टर राधाकृष्णन की अध्यक्षता में भारतीय दर्शन का अध्ययन तथा भारतीय दर्शन पर एक सन्दर्भ पुस्तक लिखने की तैयारी करने आये हैं। दो-तीन वर्ष बाद उन्होंने मुझे वहाँ एक पूर्व पश्चिम दार्शनिकों की कान्फ्रेंस में बुलाया और फिर मुझे वहाँ भारतीय दर्शन तथा संस्कृति पढ़ाने के लिये भी निमन्त्रित किया।

यहाँ की राजधानी होनोलूलू में हवाई विश्वविद्यालय है जो कि नौ हज़ार मील के घेरे में उच्च शिक्षा की एकमात्र संस्था है। इस विश्वविद्यालय में इतनी जातियों तथा संस्कृतियों का सम्पर्क होता है कि समाज-सम्बधी विज्ञानों, मानव-सम्बन्धी ज्ञान तथा जातियों के आदान प्रदान और समन्वय के सबध में यह एक बहुत सुन्दर अध्ययन केन्द्र है। विश्वविद्यालय एक सुन्दर घाटी में स्थित है। इस विश्वविद्यालय का वास्तविक महत्व पूर्वीय या ओरियन्टल विषयों के सबध में है। इस विश्वविद्यालय में पिछले ३० वर्षों से एशियाई विषयों की शिक्षा दी जाती रही है। विश्वविद्यालय का नाटक समाज समय-समय पर पूर्वीय नाटकों के अंग्रेज़ी अनुवादों का अभिनय करता रहता है। पिछले वर्ष विश्वविद्यालय के नाटक समाज ने 'क्लेकार्ट' नाम से मशहूर संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिकम्' का अभिनय किया था।

इस विश्वविद्यालय में ओरियण्टल विषयों और दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन का बहुत अच्छा प्रबन्ध रहा है और प्राय हर साल ही पूर्वी देशों के विद्यार्थी वहां इस काम के लिये आते रहते हैं।

हवाई विश्वविद्यालय अब इस बात की सम्भावनाओं पर भी विचार कर रहा है कि पूर्वीय दर्शन तथा पूर्व और पश्चिम के तुलनात्मक अध्ययन पर डाक्टरेट की डिग्री दी जा सके। इसके लिये भारतीय, चीनी तथा जापानी दार्शनिकों को स्थायी रूप से विश्वविद्यालय के स्टाफ़ में रखने की आवश्यकता होगी। यदि यह विचार कार्यरूप में परिणत हो गया तो इस दृष्टि से हवाई विश्वविद्यालय अमेरिका का अनूठा विश्वविद्यालय बन जायेगा।

इसी कार्य का श्रीगणेश करते हुए हवाई विश्वविद्यालय ने डिग्री कोर्स के लिये भारतीय दर्शन और संस्कृति में भी नियमित पाठ्यक्रम आरम्भ किया और १६५०-५१ में इन पाठ्यक्रमों की शिक्षा देने के लिए मुझे निमन्त्रित किया। विश्वविद्यालय का विचार इन पाठ्यक्रमों को

जारी रखने का है और आशा है कि शीघ्र ही ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता और उपनिषद् जैसे मौलिक भारतीय ग्रथ भी पाठ्यग्रथो मे आ जायेंगे।

पुस्तकालय मे सस्कृत और अग्रेजी की ऐसी किताबों का जो भारतीय धर्म, दर्शन और सस्कृति के बारे मे लिखी गई हैं, काफी अच्छा सग्रह है। हर साल ऐसी किताबो मे बढती होती जा रही है जिनकी जरूरत अनुसन्धान के लिये या शिक्षा के लिये पडती है। यहाँ परमहस राम कृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द घोष, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री नेहरू की सभी किताबें पाई जाती हैं।

यहाँ के प्रेज़ीडेंट को भारत और भारतीय सभ्यता और सस्कृति से विशेष प्रेम है और वह पाँच बार भारत आये हैं।

यूनिवर्सिटी की गर्मी की छुट्टियो के कोर्स मे वह प्राय हर साल किसी न किसी भारतीय को भारत सम्बन्धी विषयो पर शिक्षा के लिये बुलाते है।

हवाई मे भारतीय सस्कृति के प्रति आकर्षण का एक और कारण यह भी है कि वहाँ की अच्छी खासी आबादी बौद्ध है और यह भारत को अपने धर्म और सस्कृति का जन्मस्थान मानते हैं। बौद्धो के अतिरिक्त वहाँ श्री रामकृष्ण मिशन और अद्वैत वेदान्त के दो एक प्रसिद्ध सचालक हैं जिनके कारण भी भारत की चर्चा बनी रहती है।

—दिल्ली से प्रसारित

सुमन तुम कली बने रह जाओ

स्व० जयशंकर 'प्रसाद'

सुमन तुम कली बन रह जाओ।
ये भौरे केवल रस लोभी, इन्हे न पास बुलाओ।
हवा लगी बस, झटपट अपना हृदय खोल दिखलाते।
फूले जाते किस आशा पर कहो न क्या फल पाते।
मधुर गन्धमय स्वच्छ कुसुम रस क्यो बरबस हो खोते।
कितनो ही को देखा तुम सा, हसते हैं फिर रोते।
सूखी प खडियो को दखो, इन्हे भूल मत जाओ।
मिला विकसन का प्रसाद यह, सोचो मन म लाओ।

—दिल्ली स प्रसारित

सेवा धर्म

जैन साधुओं को आदेश देते हुए **भगवान महावीर** कहते हैं—यदि कोई साधु किसी रोगी या संकटापन्न व्यक्ति को छोड़कर तपश्चरण करने लगता है शास्त्र चिन्तन में संलग्न हो जाता है, तो वह अपराधी है और संघ में रहने योग्य नहीं है। सेवा स्वयं बड़ा भारी तप है। सेवा करने के लिये सदा आर्तों की, दीन दुखियों की, पतितों एवं दलितों की खोज में रहना चाहिये।

एक बार **मोहम्मद साहब** से किसी ने पूछा कि ईमान क्या है ? उन्होंने जवाब दिया—सब करना और दूसरों की भलाई और सेवा करना। एक हदीस में लिखा है कि मोहम्मद साहब ने कहा कि 'सब इंसानी समाज अल्लाह का कुन्बा है और उन सब में अल्लाह का सब से प्यारा वह है जो अल्लाह के इस कुन्बे की भलाई और सेवा करता है।''

सेवा का महत्व दर्शाते हुए **गीता** कहती है—

''मोक्ष केवल उन्हीं को प्राप्त हो सकता है और उन्हीं के पाप धुल सकते हैं जिनकी दुविधा मिट गई है और जिन्होंने अपनी कामनाओं को जीत लिया है और जो सदा सबके कल्याण और सबकी सेवा में लगे रहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण में लिखा है—

परहित सरिस धर्म नहि भाई,
परपीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

शेख सादी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'करीमा' में लिखा है—

सच्ची दौलत सेवा ही से मिलती है।

सेवा से सौभाग्य प्राप्त होता है।

यदि तू सेवा के लिये कमर कस ले तो कभी नष्ट न होने वाली दौलत का दरवाजा तेरे लिए खुल जावे।

सेवा से भीतर की आत्मा रोशन होती है।

चीन के प्रसिद्ध **महात्मा लाओत्ज़े** हजरत ईसा से ६०४ वर्ष पहले हुए थे। उनके उपदेश का चीन पर बड़ा गहरा असर पड़ा। लाओत्ज़े अपने उपदेश में कहते हैं—

मनुष्य को चाहिये कि अपना सब काम स्वार्थ को अलग रखकर एक सरल स्वाभाविक ढंग से करे। उस में किसी भी काम में बुराई या अहंकार न हो, न घमण्ड हो, न अपने-पराये और मेरे तेरे का भेद हो। मानव मात्र की सेवा, उसकी पूजा हो। यही मनुष्य का 'ताओ' अर्थात् धर्म है।

हजरत ईसा ने इसी तरह का उपदेश देते हुए कहा था—

''देखो, व्रत के दिन भी तुम स्वयं तो सुख भोगते हो और दूसरों को कष्ट देते हो। तुम सब तरह की बुराई करते रहते हो। क्या मैंने ऐसे ही व्रत की आज्ञा दी थी ? क्या यह व्रत ईश्वर को मंजूर हो सकता है ? जिस व्रत की मैंने आज्ञा दी थी वह यह है—जिन बुराइयों ने तुम्हें बाँध रखा है उनका बंधन तोड़ डालो, दुखियों को आजाद करो, भूखे को अपनी रोटी में से रोटी दो, जो बेघरबार हैं उन्हें अपने घर में आने दो, जो नंगे हैं उन्हें कपड़े पहनाओ। सब दुखी इन्सानों की सेवा में अपने को खपा डालो, यही सबसे बड़ा व्रत है।

बुद्ध भगवान जब धर्म प्रचार करते हुए निकले तो जहाँ भी दुखियों और बीमारों को पाते वहाँ अवश्य उन की सेवा करने के लिये ठहर जाते। उन्होंने अपने भक्तों को उपदेश दिया कि—

''भिक्षुओ। निष्काम सेवा ही परम धर्म है। सेवा का धर्म जात पाँत व धर्म के भेद भाव को नहीं मानता। भिक्षु नर के रूप में नारायण को देखता है और जन के रूप में जनार्दन का दर्शन करता है। वह स्वयं दुख और कष्टों का स्वागत करता है और अपनी सेवा द्वारा इस धरती में स्वर्ग की रचना करता है।

सिक्खों के चौथे गुरु रामदास जी शिष्य जब संगत में शामिल हुए तो उन्होंने अपने सुपुर्द जूठे बरतन माँजने का काम लिया। सुबह उठते ही बरतन माँजना शुरू करते थे और काम समाप्त करते करते आधी रात बीत जाती थी। गुरु के चरणों में बैठकर सत्संग सुनने का भी उन्हें अवसर नहीं मिलता था, जबकि उनके दूसरे गुरु भाई सुबह से लेकर रात तक भजन और सत्संग में ही अपना समय बिताते थे। जब गुरु ने समाधि ली तो जनता समझती थी कि गुरु के जो चेले दिन रात भजन गाया करते थे उन्हीं में से किसी को गुरु अपना उत्तराधिकारी बनायेंगे। लेकिन जब गुरु का आदेश प्रकट हुआ तो उसमें उस जूठे बरतन माँजने वाले का नाम निकला जिन्हें एक दिन भी भजन गाने और संगत में बैठने का अवसर नहीं मिला था। और इन्हीं बरतन माँजने वाले गुरु रामदास के नाम से सिक्खों का प्रसिद्ध गुरु हुआ।

(विश्वम्भरनाथ पांडे—इलाहाबाद)

अपने नाटकों के सम्बन्ध में

अपनी यात्रा के मोड़ पर घने पेड़ों की शीतल छाया में विश्राम लेते हुए किसी यात्री के मन में यह बात उठती है कि आज सुबह जब मैं चला तो सामने जो कुछ दीख रहा था उसको लताएं बड़ी सुहावनी जान पड़ती थीं लेकिन जब मैं पास आया तो उसी लता की कोमल पत्तियों के बीच मैंने कांटे भी देखे। और वह पेड़ जो नृत्य की भंगिमा में खड़ा था पास आने पर अष्टावक्र की भांति दीख पड़ा। उसी तरह साहित्य क्षेत्र के दृश्य दूर से तो बड़े सुहावने जान पड़ते हैं लेकिन समीप आने पर उसमें साधना की कठिन चट्टानें हैं *सहयोगी साहित्यिकों की ईर्ष्या और द्वेष की कटीली झाड़ियाँ हैं।* और दलबन्दियों के दूर तक फैले हुए दल दल हैं।

अपने अनुभव से ये बातें कह रहा हूं। जब नाटक लिखने की भावना मेरे हृदय में पहले पहल जागी तो लोगों ने उसका परिहास किया। मेरे पात्रों के सभाषणों को विकृत स्वरों में पढ़ कर मेरे मित्रों ने मेरे उत्साह के अंकुरों को अपनी असभ्य आलोचना के तेज नाखूनों से नोंचा और ज़मीन पर सूखने के लिये छोड़ दिया लेकिन वे अंकुर सूखे नहीं क्योंकि उनकी नसों में संस्कारों का जो रस था वह शक्ति शालिनी जड़ों से खींचा गया था।

मैं पूरे नाटक क्यों नहीं लिखता? एकांकी ही क्यों लिखा करता हूं? मैं पूरे नाटक लिख सकता हूं या नहीं यह मैं नहीं कह सकता क्योंकि पूरे नाटक लिखने का अवसर मेरे मन में कभी नहीं आया। मैंने किसी कथावस्तु को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखा है। मेरी दृष्टि जीवन का संकेत खोजने की चेष्टा में रहती है। कोई ऐसा भाव बिन्दु मैं आंक सकूं जिसमें आकाश का प्रतिबिम्ब झलक जाय। कोई ऐसी गागर भर दूं जिसमें सागर का अस्तित्व समा जाय। मेरे हाथ में ऐसा अंकुश आ जावे जिसके वश में जीवन का एरावत उठने बैठने लगे। मेरी लेखनी से ऐसा मन्त्र निकले जिस के वश में विधि हरि हर सुर सर्व हों अथवा मेरे हाथों काम का ऐसा कुसुम धनु हो जिस से सकल भुवन अपने वश में हो जाय। एकांकी ऐसा ही भाव बिन्दु है ऐसी ही गागर है ऐसा ही अंकुश है ऐसा ही मन्त्र और ऐसा ही काम का कुसुम धनु।

नाटक मैं कैसे लिखता हूं इस प्रश्न के लिये एक चतुर्मुखी उत्तर की आवश्यकता है। पढ़ कर लिखता हूं पहिले से सोची हुई बात पर लिखता हूं सुबह लिखता हूं या शाम को लिखता हूं लिखने के पहिले या बाद क्या मनोदशा होती है ऐसी बहुत सी बातें हैं। ये उत्तर तो किसी और समय दूंगा, किन्तु इतनी बात अवश्य है कि सामाजिक विषयों पर नाटक एक बैठक में ही पूरे लिखे जाते हैं। समस्या सामने आती है हृदय में चुभती है। पात्र अपने मनोविज्ञान की समस्त संभावनाओं में आगे बढ़ आते हैं और एक निश्चित तथ्य का निरूपण सुखांत या दुखान्त में कर देते हैं। लेकिन ऐतिहासिक नाटकों की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों के अध्ययन की सारी सामग्री पर अधिकार कर तब पात्रों के स्वाभाविक मनोभावों की सृष्टि करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक नाटक की रचना एक बैठक में कभी समाप्त नहीं होती इस के लिये कम से कम तीन दिन या अधिक से अधिक एक सप्ताह लग जाया करता है।

रस सिद्धान्त को मैं संस्कृत नाट्य साहित्य की सब से बड़ी देन समझता हूं। इसे अनुभव कर मैं मनोविज्ञान और ऐतिहासिक तथ्य का समन्वय करने के बाद ही नाटक की रचना करता हूं। मैं इस विषय में कितनी दूर बढ़ सकूंगा यह भविष्य के हाथ में है

(रामकुमार वर्मा—इलाहाबाद)
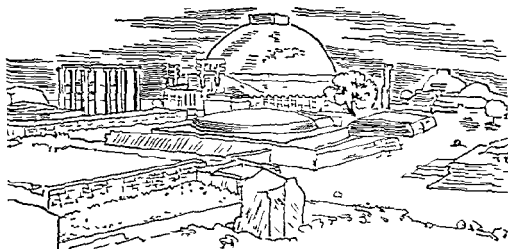
बुद्ध का कला और संस्कृति पर प्रभाव

विश्वनाथ एम० नरवने

बौद्धधर्म का भारत में करीब करीब गायब हो जाना इतिहास की विचित्र घटनाओं में से है। लेकिन कभी-कभी हम यह भूल जाते हैं कि एक सगठित धर्मसंस्था के रूप में चाहे बौद्धधर्म का स्थान हमारे देश में कम हो और उसके अनुयायियों की संख्या कितनी ही अल्प हो, लेकिन भारतीय जीवन और संस्कृति पर बौद्ध विचारों और परम्पराओं का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। बुद्ध का व्यक्तित्व इतना असाधारण था कि बुद्ध जीवन और बुद्ध चरित्र ने भारत के इतिहास में अमर स्थान प्राप्त किया।

संस्कृति शब्द बड़ा व्यापक है। रहन-सहन के तरीके, विचारधारा, वैज्ञानिक दृष्टिकोण साहित्य, कला और दर्शन, धार्मिक तथा सामाजिक आदर्श, इन सभी का समावेश संस्कृति में होता है। और इन सभी क्षेत्रों में आज ढाई हजार वर्ष बाद भी बुद्ध का प्रभाव साफ-साफ हम देख सकते हैं।

गौतम बुद्ध का दृष्टिकोण मानवतावादी और बुद्धिवादी था। जीवन में जो कुछ श्रेष्ठ और महान् है, जो कुछ मानवता के उच्चतम आदर्शों को आगे बढ़ाता है, उस पर उन्होंने जोर दिया। और जो कुछ कठोर या पाशविक है उसकी निन्दा की। प्रायः लोग समझते हैं कि बुद्ध निराशावादी थे। लेकिन सच तो यह है कि दुख से अधिक महत्त्व उन्होंने दुःख निरोध को दिया। संसार में दुःख है लेकिन इसके कुछ कारण हैं और इन कारणों को दूर करके हम अपने दुःख से छुटकारा पा सकते हैं। इस विचार को निराशावादी नहीं कहा जा सकता जबकि हम इस बात पर सहमत न हों कि वे कारण क्या हैं और उनको कैसे दूर किया जा सकता है।

युग की परिस्थिति देखते हुए बुद्ध का दृष्टिकोण हर तरह से प्रजातान्त्रिक भी था। समाज के दलित वर्गों के दुःखों को उन्होंने पहचाना और अपने जीवन-भर सामाजिक विषमता और असहिष्णुता के विरुद्ध प्रचार किया। जातिभेद, स्त्रियों का हीन स्थान और रूढ़िवाद का विरोध किया और इस तरह जीवन को स्वस्थ और न्यायपूर्ण बनाने की कोशिश की।

जहाँ तक बौद्ध दर्शन का संबंध है यह तो सभी मानते हैं कि वैभाषिक और माध्यमिक दर्शन भारतीय विचारधारा के श्रेष्ठतम सम्प्रदायों में से हैं। वसुबन्धु,

नागार्जुन, अश्वघोष और दिगनाग संसार के बड़े से बड़े दार्शनिकों से कम नहीं। इन बौद्ध विचारकों का भारतीय दर्शन पर कितना प्रभाव पड़ा है—इसका अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है कि स्वयं शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया है।

भारतीय साहित्य पर, न सिर्फ संस्कृत बल्कि प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य, पर भी बुद्ध के जीवन और विचारों का लगातार असर पड़ा है। बुद्ध जीवन की घटनाओं के आधार पर सहस्रों कविताएं, कहानियाँ और नाटक लिखे गये हैं। लेकिन सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है भारतीय कला पर। हमारे देश की मूर्तिकला, चित्रकला और निर्माण कला के इतिहास में यदि हम बौद्ध कलाकारों की अनुपम कृतियों को अलग कर दें तो फिर हमारे पास रह ही क्या जाता है।

गौतम ने अपना सारा जीवन कठोर ज्ञानार्जन, मनन और साधना में बिताया। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि जीवन के सौन्दर्यमय और कलात्मक अनुभवों की ओर से वह उदासीन थे। संयुक्त निकाय के अनुसार भिक्षु आनन्द ने एक बार बुद्धदेव से कहा, "भगवन्, मेरे विचार से अच्छे जीवन का आधा भाग सौन्दर्य से मैत्री, सौन्दर्य से लगन होने पर निर्भर है।" तथागत ने उत्तर दिया, "आनन्द, तुम भूल कर रहे हो। अच्छे जीवन का आधा भाग नहीं बल्कि समस्त अच्छा जीवन सौन्दर्य से मैत्री और लगन होने पर निर्भर है।" बुद्ध के कला की ओर उदासीन न होने का एक और सबूत यह है कि जीवन के अन्तिम वर्षों में उन्होंने अपने साथियों से कई बार इस बात की चर्चा की कि मृत्यु के बाद उनकी अस्थियों के लिये जो स्तूप बनाये जायें, वे किस प्रकार के हों और उनके डिज़ाइन कैसे हों।

इस तरह हम देखते हैं कि बुद्ध के जीवन काल में ही बौद्ध-कला का आरम्भ हुआ। उनके महाप्रस्थान के बाद स्तूप बने। धीरे धीरे स्तूपों के साथ चैत्य या मन्दिर बने। निर्माण कला में एक खास बौद्ध शैली ने अपना प्रभुत्व जमाया। आगे चलकर बड़े बड़े विहार बने। इन विहारों के स्तम्भों, छतों, और दरवाजों पर जातक की कहानियाँ और बुद्ध के जीवन की घटनाएं खोदी गईं। स्वयं बुद्ध की प्रतिमा अभी प्रचलित न हुई थी।

सम्राट अशोक के समय सैकड़ों संगमरमर के स्तम्भ बनाये गये। सांची, सारनाथ और अमरावती के स्तूप भी इसी समय के हैं। पहली शताब्दी तक गुफाओं की कला काफी आगे बढ़ चुकी थी। कार्ली और एलिफ़ैन्टा इसकी सुन्दर मिसालें हैं। इसके बाद गान्धार और कुशान कला में ग्रीक और बौद्ध विचार-धारा का सुन्दर समन्वय हुआ। पौर्वात्य और पाश्चात्य सांस्कृतिक धाराओं का यह मिलन, जिसकी आवश्यकता हजारों वर्षों बाद आज हम फिर अनुभव करते हैं, बौद्ध कलाकारों के प्रयास से प्राचीन काल में हुआ और विश्व इतिहास में इसका बड़ा महत्व है।

लेकिन यदि किसी एक स्थान पर बौद्ध कला का पूरा इतिहास देखा जा सकता है तो वह है अजन्ता। भारत के ही नहीं वरन् सारे संसार के कला प्रेमियों के लिये अजन्ता एक तीर्थस्थान है। वहाँ के छब्बीस विहारों और चैत्यों में ईसापूर्व पहली शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक की कला के नमूने हैं। मानवहृदय की गूढ़तम और सरलतम भावनाएं यहां प्रतिबिंबित हैं।

भारत के बाहर की कला पर भी बौद्ध प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि बर्मा और सिंहल, जावा और कम्बोदिया, मलाया और श्याम, तिब्बत, चीन, जापान और कोरिया की कला के हर पहलू में उसका आभास है।

आज जब कि संसार भर में युद्ध के बादल गरज रहे हैं और मानव संस्कृति और कला खतरे में है, हम बड़े अभिमान के साथ अपने देश के सांस्कृतिक इतिहास के पन्ने उलट सकते हैं और बुद्ध के जीवन और संदेश से तथा बौद्ध कलाकारों और दार्शनिकों की प्रतिभा से प्रेरणा ले सकते हैं।

—लखनऊ से प्रसारित

—

आधुनिक भारतीय साहित्य

[यह भारतीय भाषाओं की इस वर्ष की गतिविधि का दिङ्गावलोकन मात्र है]

प्रभाकर माचवे

बंगला :

भिक्षु शीलभद्र द्वारा सम्पादित अनुवादित 'थेरीगाथा' विजयचन्द्र मजूमदार के इसी प्रकार के प्राचीन कार्य का पुनर्वतार समझिये। पाली बौद्ध साहित्य की यह बहुत भावपूर्ण काव्यरचना है।

इसी तरह का एक और खोज ग्रंथ है। सोलहवीं शती तीसरे चरणक के कवि द्विजमाधव का 'मंगला चंडीर गीत'। यह ग्रंथ इक्कीस हस्तलिखित ग्रंथों की छानबीन के बाद शुद्धपाठ निर्णीत करके लिखा गया है।

आख्यान-साहित्य के क्षेत्र में 'सबार उपरे' पूर्वी पश्चिमी बंग या हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के आठ तरुण गल्पलेखकों की कहानियों का संग्रह है। कहानी लेखकों के नाम हैं मिहिरसेन, संदीपन चट्टोपाध्याय, शचीश भौमिक, सिराजुल इसलाम, अलाउद्दीन आल-आजाद, नूरुल इसलाम, समरेश बसु और सलिल चौधुरी। इस प्रकार के मिले जुले प्रकाशन हमारे और पड़ौसी देश के मैत्री संबंध के सूचक हैं।

सोमनाथ लाहिरी का गल्पसंग्रह 'कलियुगेर गल्प' उपन्यासों में रमेशचन्द्र सेन का 'गौरीग्राम', गुलाम कुद्दूस का 'बाँदी', सुनील जाना का 'महानगरी', बरेन बसु का 'महानायक' एक दिशा की ओर सशक्त संकेत हैं। परंतु मुज्तबा अली का 'मयूर कंठी' भिन्न प्रकार का ग्रंथ है। उसमें इतिहास, दर्शन और कल्पना एकरस हो गई है। इन ग्रंथों में वर्तमान बंगला भाषी प्रदेश के सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण अधिकतर पाया जाता है। गाँव के लोग, उनके आपसी झगड़े, मध्यवृत्त लोगों की वाँनी आमाण, दमित इच्छाएँ, विकृतियाँ, रोमांस की सर्वी भावना, याथा आदि के ये चित्र हैं, जिनके पीछे आर्थिक अभावों और संघर्षों की सांगिकता दुर्दान्त भाव से झलकती है।

नाटक के क्षेत्र में बहुरूपी, गणनाट्य संघ नाट्यचक्र तथा उत्तरसारथी आदि संस्थाएँ बंगाल के लोकनाट्य का वैज्ञानिक ढंग से पुन अध्ययन कर रही हैं। उनकी ओर से कुछ मासिक पत्र केवल इसी विषय पर निकाले जाते हैं। निवारण पंडित नामक कृषक कवि और अमलकान्त नामक श्रमिक कवि की रचनाएँ उसमें छपी हैं।

कविता के क्षेत्र में रवीन्द्रोत्तर युग के बुद्धदेव बसु तथा प्रेमेन्द्र मित्र के काव्यविषय और कल्पना चित्रों में जहाँ एक प्रकार की विवश पुनरावृत्ति सी हो रही है वहाँ जीवनानंद दास तथा दिनेशदास ने 'कल्लोल युग' निर्माण किया है। 'वनलता सेन' (जीवनानंद दास के कविता संग्रह) ने काव्यक्षेत्र में युगान्तर सा निर्माण किया। ब्रह्मांड जगत का नक्षत्र लोक की विराट और भव्य उपमाएँ जीवनानंद ने दीं और एक नई काव्यधारा का प्रवर्तन किया जिसमें छन्दों से नये आशयों की छटा व्यक्त होती है। बौद्धिक खंडित मानव की चिंताधारा का विदेशी प्रभाव और भूमिज संस्कारों की सशक्त जन काव्याभिव्यक्ति का समन्वय बंगला में हो रहा है।

मराठी

खोज ग्रंथों में डाक्टर ना ग जोशी के प्रबंध 'छंदोरचनेंतील लयतत्व' में अभिजात भाषा से लगा कर मराठी की बोलियों के जनगीतों तक सर्वत्र सूक्ष्मता से सप्रमाण 'आंदोलन' तत्व की वैज्ञानिक मीमांसा है। मालतीबाई दांडेकर के 'भारती' के प्रथम प्रकाशन 'मराठी संस्कृति काहीं समस्या' में श्री पां वा काणे ने आर्यपूर्व भारत और आर्योत्तर भारत की सांस्कृतिक विचार-सरणि का नया पता दिया है। आर्य

पूर्व 'हट्ट' संस्कृति का अध्ययन 'पट्टु' नामक तमिल धातु के पट्टि> हट्टि> वाटी निर्वचन से किया गया है। वेद और महाभारत कालीन यदु-तुर्वसु, अशोक कालीन रिष्टिक-भुजक, रामायण-कालीन ऋषिक भोजक और मूल हट्टजन, कृष्ण-जन मरहट्ट की परंपरा की समाज वैज्ञानिक खोज जो लेखक ने की है, उसकी प्रशंसा विनोबा भावे ने भी की है।

संत साहित्य के अध्ययन में न र फाटक के 'ज्ञानेश्वर' और श्र का प्रयोलकर के 'मुक्तेश्वर' ने नया प्रकाश डाला है। कृ के कोल्हटकर के 'पातजल योगदर्शन अर्थात् भारतीय मानस शास्त्र' ग्रंथ को सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ का पुरस्कार मिला है।

उपन्यास के क्षेत्र में श्री ना पेडसे के 'गारबीचा बापू' की बडी चर्चा है। यह उपन्यास कोंकण की ग्रामीण पार्श्वभूमि पर आधारित किसान जीवन की, उनके पारिवारिक कलह की सीधी सहज कहानी है जिसमें प्रादेशिक रंग बहुत गहरा है। कविता के क्षेत्र में कुसुमाग्रज का नया संग्रह, 'किनारा', पु शि रेगे का 'गंधरेखा', भ श्री पंडित का 'उन्मेष आणि उद्रेक' संग्रह अच्छे हैं, परंतु एक बारगी हृदय को झकझोर देने वाले नहीं। 'तापी-तीर' नाम से खानदेश के कवियों का एक संग्रह निकला, जिस में अत्रे की भूमिका ने नवकाव्य के विषय में अपने पुराने मताग्रह को दुबारा जाचा है। तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी का शारदोपासक सम्मेलन में भाषण सौंदर्य शास्त्र विषयक नई विचार-दिशा प्रस्तुत करता है।

नाटक के क्षेत्र में मुक्ताबाई दीक्षित के 'जुगार' के बाद, मामा वरेरकर का 'अपूर्व-बंगाल' जोकि नोआखाली की पार्श्वभूमि पर लिखा गया, बहुत मर्मस्पर्शी था। 'जुगार' का अनुवाद 'जुआ' महादेवी वर्मा की भूमिका के साथ हिंदी में प्रकाशित हुआ। मामा वरेरकर का नाटक 'रानरानी सीता' प्रथमतः हिन्दी में हुआ। रांगणेकर के नाटक 'वहिनी' का अनुवाद भी हिंदी में छपा है।

गुजराती

मराठी साहित्य के बाद गुजराती साहित्य की अधुनातम प्रवृत्तियाँ और प्रकाशनों का उल्लेख करना चाहता हूँ। अनंतर श्रीवान की 'गोरसगाणी' और 'वैताल कहे', बामनराव पटेल के 'ज्ञानेश्वर अने चाँगदेव', हरिप्रसाद गगाशकर शास्त्री का 'सत्यसार तथा योगसार', कुछ नये प्रकाशन हैं। ये छोटी-छोटी पुस्तकें होने पर भी इनका मूल्य प्रभाव की दृष्टि से बहुत अधिक है। मनसुखलाल झवेरी और मगन वकील ने 'नयी कविता' नाम से गत बीस बरस की पचास चुनी हुई कविताओं का संग्रह प्रकाशित किया है। काव्य के क्षेत्र में अपद्यागद्य शैली में ईश्वरलाल व्यास ने 'अग्निज्वाला' काव्य लिखा है। रतन बेहेन फ़ौजदार ने अपने ५३ भक्तिरसपूरित गीतों का संग्रह 'गगाधारा' प्रकाशित किया है। राजेन्द्र शाह की कविताओं ने गुजराती में अपना एक स्वतंत्र स्थान बना लिया है। उनके गीतों में ग्रामगीतों की मिठास जैसे नये आशय से घुलमिलकर प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त होती है।

गुजराती के गद्य प्रकाशनों में रमणलाल बसन्तलाल देसाई ने राणा प्रताप की गाथा को लेकर, 'शौर्यतर्पण' नाम से एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा है। इसके लिए सामग्री जुटाने में उपन्यासकार ने बडी मिहनत की है। सामाजिक क्षेत्र में 'सरीजती रेती' के लेखक के उपन्यास का दूसरा भाग प्रकाशित हो जाने से उस पुस्तक के संबंध में जो धूल उठी थी, वह बहुत कुछ अब दब गई है। रवीन्द्र टाकोर ने 'फाल्गुन' नाम से अपनी छोटी कहानियों का संग्रह और रामायण के उपेक्षित पात्र उर्मिला के आधार पर लिखा 'निस्पृता' नाम का नाटक प्रकाशित किया है। गंभीर ग्रंथों में मोहनलाल गांधी तथा जेठालाल शाह ने वल्लभाचार्य की जीवनी प्रकाशित की है। 'सोमनाथ' पर एक सचित्र परिचय पुस्तिका रश्मिमणिराव भीमराव ने लिखी है। किशनसिंह चावडा की पुस्तक 'निष्क्षीणा आँखों' निबंध और रेखा चित्र के बीच की एक प्रयोगात्मक रचना है। प्रो० हीरालाल कापडियाने 'आगमोद्-

दर्शन' नाम से जैनदर्शन पर एक खोजपूर्ण ग्रंथ लिखा है और जीवनी साहित्य में अमूल्य रतिलाल मोहनलाल त्रिवेदी ने 'आचार्य आनंद-शंकर भाई : जीवन रेखा : संस्मरण' पुस्तक लिखी है।

तमिल :

तमिल भाषा में हास्यरस से भरे साप्ताहिक जितने लोकप्रिय हैं उतने शायद ही और कोई पत्र होंगे। कि० वा० जगन्नाथन् की कहानियाँ और देवन् के यात्रा-संस्मरण लोकप्रिय हैं। मराठी उपन्यासकार खांडेकर के अनुवाद तमिल में कई संस्करणों में छपे हैं। हिंदी से प्रेमचंद, जैनेन्द्र कुमार, सुदर्शन इत्यादि के जैसे अनुवाद तमिल में हुए उसी तरह से कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के गुजराती ऐतिहासिक उपन्यास जैसे 'जय सोमनाथ' के अनुवाद तमिल में हुए हैं। कल्कि का चोल काल पर 'पार्थिवम् कनिव' (पार्थिव का स्वप्न) ऐतिहासिक उपन्यास है। कल्कि के उपन्यास 'कलविन् कादलि' का अनुवाद हिंदी में 'चोर की प्रेमिका' नाम से हुआ है। इसमें कहानी मनोरंजक है और जिसे सारा संसार चोर या डाकू समझता है, उसके हृदय की विशालता, उदारता और गहरे प्रेम का परिचय लेखक ने दिया है। इस पुस्तक के अनुवाद में मूल के चित्र भी ज्यों के त्यों दिये गये हैं, जो हिन्दी पाठक के लिए ज़रा विचित्र सी बात है। क्योंकि हिन्दी उपन्यास सचित्र शायद ही छपते हैं। वे चित्रों के बिना याने विचित्र छपते हैं। एम. आर. जम्बुनाथन ने गतवर्ष के तमिल साहित्य के विषय में लिखा है कि पाठक स्वस्थ और मनोविनोद की रचनाएं अधिक पसंद करते हैं। सामाजिक नीतिमूल्य बराबर बदलते बदलते जा रहे हैं और पश्चिम के लेखकों का प्रभाव, जैसे कहानियों में चमत्कारिक अंत करना आदि टेकनीक विषयक दृष्टि भेद बराबर बढ़ता जा रहा है।

तमिल काव्य साहित्य में ध्योत्तमंगलम् सुब्बु का गांधीजी की जीवन-कथा पर आधारित 'गाँधी महानिर्दे' बहुत लोकप्रिय हुआ है। और कन्नदासन् का 'गीत समाप्त होने से पहिले' या 'मुट्टासु मुल्ये' बहुत अच्छी साहित्य-कृति मानी गयी है।

पंजाबी

पंजाबी में इधर खोजपूर्ण ग्रंथों में पंजाब यूनिवर्सिटी ने जी० बा० सिंह की 'गुरमुखी लिपि' एक महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित की है। पंजाबी विभाग, पटियाला ने पंजाब के एक विशेष किस्सा-लेखक पर पुस्तक प्रकाशित की है।

इधर सबसे लोकप्रिय पुस्तक प्रिंसिपल तेजासिंह ने 'आरसी' नाम से अपनी आत्मकथा लिखी है, जिसमें झकोलो लहर तथा मन-सभा लहर के बड़े सूक्ष्म और व्यक्तिगत चित्र दिये हैं। यह पंजाबी गद्य की महत्वपूर्ण पुस्तक है।

पंजाबी कविता में देवेन्द्र सत्यार्थी की पुस्तक 'बुड्ढी नहीं धरती' और आख्यायिका साहित्य में करतार सिंह दुग्गल का 'नवां आदमी' मध्यवित्त वर्ग की मानसिक विकृतियों का अध्ययन प्रस्तुत करता है। उपन्यासकार नानकसिंह के 'चन्दनसोर' में जीवन का तस्वीर खींची गई है। बलवन्त शर्मा ने एक अच्छा नाटक लिखा जिसका नाम है 'कैसरो'। डॉ० एस० सोमला ने बहुत से एकांकी लिखे हैं।

—हिन्दी से प्रसारित
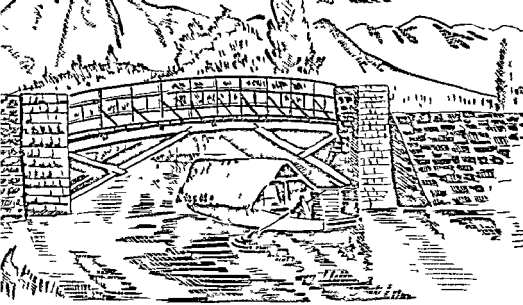
काश्मीर के संस्कृत कवि : कल्हण

आर० एल० शर्मा

कल्हण संस्कृत-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार माना जाता है। इतिहास के विषय पर एक ही काव्य लिख कर यह लेखक अमर हो गया। इस काव्य का नाम 'राजतरंगिणी' है, जो आठ खंडों में विभाजित है। इस ऐतिहासिक काव्य में कुल सात हजार आठ सौ छब्बीस श्लोक हैं। समूचे संस्कृत साहित्य में इस ग्रंथ की टक्कर का इतिहास पर अन्य कोई ग्रंथ नहीं है।

कल्हण के पिता चंपक काश्मीर नरेश हर्ष के मंत्री थे। वह ईस्वी सन् १०७६ से लेकर ११०१ तक गद्दी पर रहे। चंपक राजभक्त थे। एक षड्यंत्र के द्वारा जब महाराज हर्ष की हत्या कर दी गई तो चंपक मंत्रित्व के पद से अलग हो गये। सम्भवतः कल्हण का जन्म सन् ११०० के लगभग हुआ था। कल्हण के पिता की तरह उसका चाचा कनक भी महाराजा का बहुत भक्त था। हर्ष की हत्या के अनन्तर काश्मीर छोड़ कर वह काशी जा बसा। बड़े होकर कल्हण ने मंत्रित्व पद के लिये कदाचित् कोई प्रयत्न नहीं किया। वह सक्रिय राजनीति से उदासीन हो रहा पर अपनी प्रखर प्रतिभा से घटनाक्रम का अध्ययन करता रहा। यदि कल्हण अपने पिता की गद्दी पा जाता तो सम्भव था कि राज्यकार्यों में व्यस्त रहने के कारण वह 'राजतरंगिणी' जैसा उत्कृष्ट काव्य न लिख सकता।

अपने पिता की तरह कल्हण शिवभक्त था पर शैव सम्प्रदाय के तांत्रिक आचारों में उसका विश्वास नहीं था। कल्हण की बौद्ध धर्म में बहुत आस्था थी और वह अहिंसा के सिद्धांत को मान्यता देता था। इसके बौद्धधर्म के वर्णन से मालूम होता है कि इस से बहुत पहले बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के अनुकूल बन चुका था। ग्यारह सौ उनचास में कल्हण ने अपने ग्रंथ को लिखना शुरू किया और एक वर्ष में उसे समाप्त कर दिया। कल्हण ने

लिखने की कला में कौशल प्राप्त करने के लिये अपने से पहले होने वाले कवियों के ग्रंथों का बड़े परिश्रम से अध्ययन किया था। कालिदास के काव्यों, बाण के हर्षचरित, बिल्हण के विक्रमांकदेवचरित, रामायण, महाभारत और वराहमिहिर की बृहत्संहिता की ओर कल्हण के ग्रंथ में जगह-जगह संकेत पाये जाते हैं। कल्हण ने निष्पक्ष हो कर और व्यक्तिगत भावनाओं से ऊपर उठकर जो कुछ अपनी आँखों से देखा उसे अपनी 'राजतरंगिणी' में लिखा है। कल्हण ने राज्य के योद्धाओं की कृतघ्नता और कायरता का तथा राजपुत्रों के साहस तथा भक्ति का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। उसने उन विदेशी सिपाहियों की प्रशंसा की है, जो वेतन लेकर सेना में काम करते थे और आड़े समय में राजा के काम आते थे। राजा अपने सिपाहियों की अपेक्षा इन विदेशी सिपाहियों पर अधिक विश्वास करता था। कल्हण ने नगरों में बसने वाली जनता के प्रति भी अनादर की भावना व्यक्त की है। उसका कहना है कि नागरिक आज एक राजा का स्वागत करते हैं, तो कल किसी दूसरे राजा का स्वागत करने के लिये तैयार हो जाते हैं। राज्य के अधिकारियों के लालच, भ्रष्टाचार तथा जनता के उत्पीड़न की चर्चा कल्हण ने जी खोलकर की है। पुरोहितों को भी कल्हण ने नहीं छोड़ा। ये लोग दान का पैसा पाकर बहुत समृद्ध हो रहे थे। यदि इनके कहने के अनुसार काम नहीं किया जाता था तो ये लोग आत्महत्या कर लेने की धमकी देते थे और इस तरह घटना प्रवाह को अपनी इच्छा के अनुसार प्रभावित करना चाहते थे।

कल्हण ने लिखा है कि अपनी पुस्तक लिखने के लिये उसने बहुत-सी पुरानी पुस्तकों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों, प्राचीन सिक्कों और प्राचीन भवनों का निरीक्षण किया था। वह कश्मीर का चप्पा-चप्पा भूमि से परिचित था। अपने ग्रंथ को लिखने के लिये सब प्रकार की स्थानीय परम्पराओं का भी उसने आश्रय लिया था।

कल्हण ने कवि के रूप में यह ग्रंथ लिखा है, इसीलिये काव्य के नियम का पालन करने के लिये, जिसके अनुसार प्रत्येक काव्य में एक प्रधान रस का होना आवश्यक है, उसने इस काव्य में शान्तरस को प्रधानता दी है। वह राज्यलक्ष्मी और सांसारिक वैभव को नश्वर कहता है, तथा यश और सम्मान को अस्थायी। स्थान स्थान पर वह उपदेशात्मक प्रवृत्ति का परिचय देता है, और प्रायः प्रत्येक घटना से कोई न कोई शिक्षा लेता है। उसकी वर्णन शक्ति अद्भुत है। उसके काव्य में कल्पना, रस, अलंकार और भावों का सुन्दर समन्वय है। कल्हण की शैली सजीव तथा ओजपूर्ण है। बीच बीच में नाटकीय ढंग के सुन्दर संवाद हैं। इतना अवश्य है कि कहीं-कहीं उसका कालगणना भ्रान्तिपूर्ण हो गई है। कुछ ऐसी घटनाओं का भी वह उल्लेख कर गया है, जो अंधविश्वास पर आश्रित होने के कारण असंगत प्रतीत होती हैं। कहा जाता है कि नवीं शताब्दी के पूर्व का इतिहास लिखने में उसने विवेचनात्मक बुद्धि से काम नहीं लिया। इतिहास लिखने के लिये मनुष्य को रागद्वेष से रहित होना चाहिये। इस बात का प्रतिपादन कल्हण इन शब्दों में करता है —

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥

—वही लेखक प्रशंसा के योग्य समझा जा सकता है जिसकी वाणी रागद्वेष को छोड़कर जो बातें जैसे हुई हैं उसका वैसा ही वर्णन करे।

कल्हण का एक मार्मिक उक्ति देखिये, जिसमें वह स्वामिभक्ति की भावना की पुष्टि करता है —

क्षुत्क्षामस्तनयो वधूः परगृहप्रेष्यावसन्नः सुहृद्
दुग्धा गौरशनाद्यभावविरसा ह्यद्यास्तदा स्वामिना।
निष्पन्नो पितृगावदूरसदृशी स्वामी दिवसिविरा
दृष्ट्वा यत्र पर न तस्य निरत भावस्य ... प्रियम्॥

—जिस मनुष्य ने भूख से सूखे हुए पुत्र को, दूसरे के घर में सेवा करने वाली पत्नी को,

विपत्तिग्रस्त मित्र को, दुही हुई किन्तु चारे के अभाव में भूखी खड़ी रँभाती हुई गौ को, पथ्य के अभाव में रोगशय्या पर पड़े हुए माता पिता को तथा वैरी से पराजित हुए अपने स्वामी को देख लिया, उसे नरक में जाकर इससे अधिक अप्रिय दृश्य और क्या देखना है?

दुष्कर्मों का परिणाम कैसे मिलता है, इस पर कल्हण कहता है—

यो य जनापकरणाय सृजत्युपायम्
तेनैव तस्य नियमेन भवेद विनाश ।
धूम प्रसौति नयनान्धकर यमग्नि-
र्भूत्वाम्बुद स शमयन सलिलैस्तमेव ॥

—जो मनुष्य किसी के विनाश के लिये कोई उपाय सोचता है, उस उपाय से उसका ही विनाश हो जाता है। अग्नि आँखों को अन्धा करने वाले जिस धुएँ को पैदा करती है वह धुआँ बादल में परिवर्तित होकर अपने जल से उस अग्नि को ही बुझा देता है।

राजा के चाटुकारों के सम्बन्ध में कल्हण का कहना है —

ये केचित्तु शाठ्यमौर्ध्यनिधयस्ते भूभृतो रञ्जका ॥

—जो लोग धूर्तता तथा मूर्खता के भंडार हैं वे ही राजाओं को प्रसन्न कर सकते हैं।

राजाओं के सम्बन्ध में कहा हुआ कल्हण का यह पद्य सुनिये

चित्र नृपद्विपा पूतमूर्तय कीर्तिनिर्भरै ।
भवन्ति व्यसनासक्तिपासुस्नानमलीमसा ।

—बड़ा आश्चर्य है कि जिस प्रकार हाथी झरनों में स्नान करके पवित्र होने के बाद फिर धूल में लोटकर मलिन हो जाते हैं, उसी प्रकार राजा लोग भी अपने यश में स्नान करके पवित्र होने के अनन्तर दुर्व्यसनों में आसक्त होकर फिर मलिन हो जाते हैं।

कल्हण ने लिखा है कि कश्मीर के राजाओं का इतिवृत्त लिखने के लिये उसने अपने से पहले लिखे हुए इतिहास के ग्यारह ग्रन्थों का उपयोग किया है। उसने यह भी कहा है कि राजकीय पुस्तकालय में इतिहास पर लिखे हुए कई ग्रन्थ उसने देखे थे, पर क्योंकि वे ग्रन्थ कीड़ों से खा लिये गये थे, अत वे निकम्मे हो चुके थे।

इस बात की ओर ध्यान दिलाना अनुचित न होगा कि 'राजतरंगिणी' जैसी उत्कृष्ट पुस्तक में भी लेखक ने कल्पना का सहारा लेकर कई स्थानों पर ऐतिहासिक तत्त्व की अवहेलना की है। इसलिये जब प्रो० कीथ संस्कृत के इस सर्वश्रेष्ठ इतिहास-लेखक को यूनान के हीरोडोटस जैसे साधारण इतिहास लेखक के भी तुल्य नहीं ठहराते, तो हमें बुरा न मानना चाहिए।

—जालंधर से प्रसारित

ज़िन्दगी के आइने में रेडियो

रज़िया सज्जाद ज़हीर

कुछ ऐसे ही जाड़े होते थे जैसे आजकल है, हम लोग रात को अपनी दादी अम्मा (ख़ुदा उन्हें बख़्शे) के लिहाफ़ में घुस जाया करते थे, चारों तरफ़ हम लोगों के नन्हे-मुन्ने काले सर होते और बीच में दादी अम्मां की सफ़ेद झुक ज़ुल्फ़ें और फिर चलने लगतीं पहेलियाँ, कहानियाँ और जने क्या-क्या। मुझे एक पहेली बहुत पसन्द हुआ करती थी, 'जनाब आली, सर पर जाली, पसलियाँ बहुत, पेट ख़ाली'

इस पहेली का तो जो जवाब हो सो हो, मगर हाँ एक और पहेली साइंस ने भी ईजाद की है जिससे आप इस वक्त मेरी आवाज़ भी सुन रहे हैं। सामने से देखिये तो कुछ लकड़ियाँ, तार लटों की तरह लटकते हुए, दो कान ज़रा गोशमाली की, इक ज़रा छेड़िये, फिर देखिये क्या होता है · · · और हाँ, मकान के ऊपर एक लम्बा तड़गा बांस, जैसे कबूतरों का ढाबर कुल जमा यह तो आप की क़ायनात और इनके ज़रिये घर बैठे दुनिया की सैर कीजिये, न अलाउद्दीन के चिराग़ की ज़रूरत, न उड़ने वाले क़ालीन की। बड़ी-बूढ़ियाँ जब किसी की सुस्त रफ़्तारी बयान करना चाहती थीं तो कहती थीं "नाज़ बीबी, क्या निगोड़ी सुई की चाल चलती हो," काश वह यह भी देखतीं कि एक सुई ऐसी भी होती है जिसकी चाल के साथ इन्सान कभी यूरोप पहुँचता है, कभी अमरीका, कभी एशिया, तो कभी अफ़्रीका, जो दूर दराज़ के दोस्तों की आवाज़ें, मुल्कों मुल्कों के गाने, देश देश की ख़बरें कानों तक पहुँचाती है। सुबह सुबह रेडियो खोलिये · · यह क्या है भई यूँ उलटे लटकिये, यूँ हाथ घुमाइये, यूँ पैर फेंकिये चाहे डाक्टर आये हो मगर सांस बड़े ज़ोरों पर लीजिये ओह अच्छा वर्ज़िश के उसूल बताये जा रहे हैं, आप अपने बिस्तर पर लेटे सुन रहे हैं मगर बस, यही तो बात है आख़िर कब तक लेटे लेटे सुनियेगा, कुछ तो आप का ज़मीर मलामत करेगा ही, ज़ाहिर है कि अगर आप के सामने कोई भला आदमी इस तरह कसरत करता रहे तो आप कब तक साकित बैठे रहेंगे। दो चार हाथ तो मारेंगे ही, बस रेडियो का मक़सद पूरा हो गया, उसने आपको यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि वर्ज़िश किये बग़ैर आप तन्दुरुस्त नहीं रह सकते। यही नहीं, रेडियो अक्सर इस वक्त आपको ख़ुदा की भी याद दिला देता है सुबह के सुहाने वक्त में रेडियो से निकलते हुए यह भजन और मार्फ़त के गीत आपको बराबर याद दिलाते हैं कि कल सोते वक्त आप दुआ मांगना भूल गये थे, चुनाँचे आप तौबा करते हैं और आइन्दा से अपने पैदा करने वाले का नाम लेने और उसके बन्दों से मुहब्बत करने का पक्का इरादा करते हैं। इतने में चाय आकर मेज़ पर लग जाती है आप चाय उंडेलते हैं और यकायक रेडियो में से बड़े ज़ोर से किसी बाजे की आवाज़ आती है आप उछल पड़ते हैं, चमचे में शक्कर ज़मीन पर गिर जाती है, तोबा है। इस ज़माने में शक्कर ज़ाया करना जुर्म के बराबर है। ख़ैर, क्या किया जाये। मालूम होता है सितार बज रहा है, सितार, सारंगी, दिलरुबा, तबला सब आपकी निगाहों

के सामने नाचने लगते हैं और आप गुनगुनाते है, 'कद्दू काट मिरदंग बनाया, नीबू काट मजीरा, सात तुरइया मंगल गावे, नाचे बालम खीरा' हिन्दुस्तान की अजीमुश्शान मौसीक़ी तारीख़ आपके ज़हन में घूमने लगता है। मौसी क़ी रूह की गिज़ा, जो आदमी को आसमानों तक पहुँचाती है, जो इंसान में एहसासे ज़िन्दगानी पैदा करती है, और उस फन के बेहतरीन फन कार का बेहतरीन शाहकार चन्द खर्राटियो और जानों के बने हुये इन जनाबआली से सुन लीजिये जिन्हें रेडियो कहते ह। एक ऊँचे किस्म का राग जाली से निकलता है। सुबह का वक्त है, तबियत हल्की फुल्की है इसलिये आप इस बुलन्द राग का एहतराम करत हुए आहिस्तगी से सुई घुमाते ह और खिड़की से एक खूबसूरत दर्दमन्द आवाज सुनाई दती है 'साथ हमारा छूटे ना, छूट ना' आपका जहन कहीं से कहीं जा पहुँचता है। वह सूरत आपकी निगाहों में फिरने लगता है जो आपको बहुत प्यारी है जो दूर रह कर भी हमेशा नजदीक, अलग रह कर भी हमेशा क़रीब रहती है, जिसका साथ आप कभी नहीं चाहते कि छूटे । लीजिए मैं भी क्या रूमानी बातें करने लगी बहर हाल किसी का साथ किसी से रहे या छूटे मगर आप अगर माडरन इंसान ह तो रेडियो से आप का साथ नहीं छूट सकता। आप ऐसी महवीयत के आलम में हैं कि घड़ी म बजानी है, अब आप रूमानियत छोड़िये और हकीकतों की दुनिया में आ जाइये, रेडियो का यह नन्हा मुन्ना सा किवाड़ आप पर दुनिया का ख़बरों क दरवाजे खोल दता है। हिन्दुस्तान में, पाकिस्तान मे, यूरप, एशिया, अमेरिका में और खुदा आपका भला करे, खुद आपके शहर मे क्या हो रहा है, दुनिया में किसी जगह कोई हुकूमत बदले, कैसा ही इन्क़लाब हो, कितनी ही तबदीली हो, कोई मरे कोई जिये, आप सब कुछ घर बैठे ही सुन लीजिये। एक बात ज़रूर है, बड़ आदमियों का तो रेडियो से नाक मे दम रहता होगा, हालाकि यह भी है कि लुत्फ भी खूब आता होगा। अच्छा, फर्ज कर लीजिये आप कोई बड़े आदमी थे और मर गये मेरा मतलब है सूटमूट, वैसे आपके बैरी दुश्मन मरें हजारों लोग ऐसे ह जो आपसे मुहब्बत करते हैं, जनाज़े को देखना चाहते है, अक़ीदत से आसुओं के दो फूल भी चढ़ाना चाहते है बस बटन दबायें और देखने लगें, अब जनाज़ा यहाँ पहुँचा, अब वहाँ, अब इस तरफ से फूल बरसे अब उधर से, अब फौज सलामी दे रही है, अब जहाजी, अब लोग मोटरों से उतर गये, पैदल जनाजे के साथ चल रहे हैं तोबा आप कहगे यह सब भी क्या कोई कहने की बातें ह जाने दीजिये और दस बजे तक तो रेडियो भी बन्द हो हो जाता है। अब आप दफ्तर जायेंगे है ना? और दफ्तर की मेज से दोपहर का खाना खाने जब आप ऊठेंगे या किसी रेस्टूरेंट में जायेंगे तो सडक पर जगह जगह लोगों के गिरोह खडे दिखाई देंगे, ज़ाहिर है कि बन्दर नहीं बिक नहीं सकता रीछ का तमाशा हो नहीं सकता और हाथ दिखलवाने की इस मसरूफ़ ज़िन्दगी मे किसे फ़ुर्सत, तो फिर क्या है, भई? भीड़ चीरते हुये आप अन्दर घुसते हैं मालूम होता है ओहो! क्रिकिट पर कमेन्टरी आ रही है, वह बाल, गई, वह हिट पड़ो, वह फील्डिंग, वह कैच, वह फलाँ दौड़ा हाय हाय रह गया, बाल जाके विकट मे लगी, विकट ज़मीन पर लेट गई जैसे आंधी का मारा दरख्त, आपकी आखो के सामने समाँ सा खिच जाता है, घण्टो जमे खडे हैं, न जी घबराता है न टाँगें थकती हैं और जब दफ़्तर से घर लौटते हैं तो बीवी दरवाजे पर मुसकराती हुई आपका इस्तक़बाल करने को मौजूद होती हैं। आप हैरान होते हैं, रोज़ तो बीवी बावरचीख़ाने में मिला करती थी, आज दरवाजे पर, और वह भी मुसकुराती हुई, उन की त्यौरियों पर जो बल रहा करता था वह क्या हुआ, चाय बिलकुल तैयार कैसे रखी है और आप वह दौड़ दौड़ कर बावरचीख़ाने से चीजें लाने के बजाये मेज़ पर खुद क्यों आके

बैठ गईं और चाय बनाने लगीं आईये मैं आपको चुपके से बता दूं आपकी बेगम आपकी ग़ैरहाज़िरी में कुछ करती रही हैं घबराईये नहीं, कोई ऐसी वैसी बात थोड़ा ही है, सिर्फ दोपहर को औरतों का प्रोग्राम था रेडियो में और वह सुनती रहीं। घरेलू झगड़ों के बारे में एक तक़रीर थी और कुछ इसी तरह के मौज़ू पर एक छोटा सा ड्रामा भी था, चुनांचे उन्होंने कान खोलकर सुना और इस नतीजे पर पहुंचीं कि शाम को अगर दिन भर के थके मांदे शौहर का मुस्कुराहट से इस्तक़बाल किया जाय तो घरेलू ज़िन्दगी की खुशगवारी पर बड़ा असर पड़ता है और यह कि शौहर की ख़्वाहिश होती है कि बीवी सिर्फ़ उसके पेट की ख़बर न रक्खे ज़हन और दिल पर भी कुछ तवज्जोह दे कि मुहब्बत करने वाला शौहर हाकिम नहीं साथी बनना चाहता है। ख़ैर चाय पर एक नई मिठाई नज़र आती है, एक टुकड़ा उठाइये, खाइये बहुत मज़ेदार, क्या कहना ख़ैर यह तो आपस की ज़ाती मामला है मैं इसमें दख़ल देने वाली कौन हूँ? मगर इस डिश का शुक्रिया अदा करना न भूल जाइयेगा, मेरा मतलब है रेडियो का जिसमें बेगम वग़ैरा खाने वाने खाने पकाने की तरकीबें सीखती हैं और हां, वह नया स्वेटर जो आप कल पहने थे न, वही जिस की बड़े साहब ने भी तारीफ की थी तो उसकी बुनाई भी रेडियो ही से सीखी गई थी। इतवार के दिन अगर आप काफ़ी हाऊस न चले गए तो रेडियो से आप तरह तरह की नन्हीं मुन्नी प्यारी आवाज़ें सुनेंगे, छोटे छोटे किस्से कहानियां, पहेलियां, नज़्में, और आप सोचिये कि जो बच्चे इन प्रोग्रामों में शामिल होते हैं उनमें बातें सिफ़तें पैदा हो जाती हैं। पढ़ने का शौक़ गाने का शौक़, मिल जुल कर बातें करने का सलीक़ा और सबसे बढ़ कर, बेझिझक अपनी बात कहने की हिम्मत, गोया रेडियो में बोलने वाला बच्चा बड़ा होकर स्टेज से तक़रीर करने की और फिर अपने मालूमात को दूसरों तक पहुंचाने की ट्रेनिंग पा रहा है, शाम को अगर सात और आठ बजे के दरमियान आप घर में हैं तो रेडियो खोल सकते हैं। यह क्या? नई किताबों पर रिव्यू अब कल आप जाकर ज़रूर इनमें से एक दो किताबें ख़रीदेंगे। और अगर इसी तरह किताबें ख़रीदते रहे और आपको इसका शौक़ पैदा हो गया तो इधर उधर जो पैसे बरबाद होते हैं वह रफ्ता रफ्ता आपके घर में एक छोटी सी लायब्रेरी की शक्ल अख़्तियार करेंगे। और फिर आपकी मालूमात कहाँ से कहाँ पहुँचेंगी? इसके लिये भी आपको रेडियो का मशकूर होना पड़ेगा, चौबीस घण्टे में किसी ख़ास वक़्त पर रेडियो हर शख़्स के लिए उसकी दिलचस्पी की चीज़ें मुहय्या करता रहता है, आपको अधिक अनाज उगाओ से दिलचस्पी हो या फ़लसफ़े से, तालीम से लगाव हो या सेहत से, इलेक्शन में दिलचस्पी हो या किताबों से, शायरी से शौक़ हो या शिकार से साइंसदानों से चाहत हो या विटामिन का शौक़ मनाज़िर क़ुदरत से मुहब्बत हो या मशीनों से, ज़िन्दगी के किसी न किसी अहम मसले पर आप कोई तक़रीर सुन सकते हैं, कभी उर्दू में, कभी हिन्दी में कभी अंग्रेज़ी में। और ग़ैर मुल्की स्टेशनों पर सुई लगा दीजिये तो तरह तरह की ज़बानें, किस्म किस्म के गाने रंग रंग की आवाज़ें भांति भांति के साज़ आपके सामने मौजूद अलिफ़ लैला का मज़ा आने लगा ..

सिर्फ़ इसी पर बस नहीं। रेडियो आपके सोये हुये जज़्बात को भी झिंझोड़ कर जगा देता है, ठन्डे वलवलों में फिर से गर्मी दौड़ा देता है, अच्छा सच कहियेगा, जब सौ बरस बाद आज़ादी के मौक़े पर दहली से कमेन्ट्री आ रहा था तो आपके दिल में जोश पैदा हुआ था कि नहीं, जब आप ने कानों से सुना था कि लाल क़िले पर तिरंगा लहराया जा रहा है तो आपके ज़हन में अपने मुल्क की अज़मत और तमाम मुजाहिदीन-ए-आज़ादी की इस्तेक़ामत और जद्दो जहद का नक़्शा खिंचा था या नहीं, आपको यह एहसास हुआ था कि नहीं कि अब हमारा मुल्क के आज़ाद शहरी हैं

हैसियत से आपका फर्ज बहुत कुछ बढ गया है। आप को अभी बहुत कुछ करना है, और यह भी याद रहे कि जिस जमाने में लडाई हो रही थी कितने दिलो को रेडियो से तसकीन पहुँचती थी, फौजियो के प्रोग्राम और उनके हालात सुनने को कितने बेचैन दिल, जिनके अजीज महाज पर लड रहे थे, उम्मीद का दामन पकडे इस नन्हे से किवाड का मुह ताका करते थे हाँ यह सब कुछ है मगर भई एक बात हम जरूर कहेगे कभी कभी रेडियो जिन्दगी मे अजीब मसायल भी तो पैदा करता है—मसलन बीवो रिकार्डेड म्यूजिक पर जान देती हैं, मियाँ क्रिकिट कमेन्ट्री पर मरते हैं, रिकार्डेड म्यूजिक कलकत्ते से आ रही है और कमेन्ट्री लखनऊ से, रेडियो की सुई तो एक ही ठहरी। अब क्या हो ? चुनाचे अक्सर नजला रेडियो पर गिरता है। कभी उसका कान इधर खींचा जाता है, कभी उधर और यकायक सब कुछ बन्द कर दिया जाता है, चलिये छुट्टी। न रहे बास न बजे बासुरी। कभी ऐसा भी होता है कि मोहल्ले में या बिलडिंग मे सिर्फ आप ही के पास रेडियो है। रात के दस बजे जब आप पलङ्ग पर लेटने और ख्वाब में अपने महबूब को देखने की तैयारी करते होते है, दरवाजे पर एक दस्तक होती है आप उफ कहके दरवाजा खोलते हैं, और आपके पडौसी माफी मांगते हुए अन्दर आ जाते है, "माफ कीजियेगा, वह आज सागर जी का ड्रामा है, वह मैं सुन सकता हू बात यह है कि वह मुझे ड्रामे से जरा दिलचस्पी है" और जब वह रेडियो का कान घुमाते हैं तो आप पर यह हकीकत खुलती है कि उन्हें ड्रामे से जरा नहीं, बहुत दिलचस्पी है अब जाहिर है कि आप इख़लाक़न नहीं तो कमअज़ कम इसलिये तो वहा बैठेंगे ही कि जब पडोसी जायेंगे तो दरवाजा कौन बन्द करेगा और आप बैठ जायेंगे तो बेगम काफी भी बनायेंगी। चलिये बारह बजे रात तक का नुस्खा हो गया, लेकिन इन सब बातो के बावजूद भी आप इस हकीकत से इनकार नही कर सकते कि आज रेडियो के बगैर जिन्दगी का तसव्वर नहीं किया जा सकता, कि रेडियो हमारे ज़ौक के हर पहलू के लिए कुछ न कुछ तसकीन मुहय्या कराता है, बहुत से फुनूने लतीफा का हमको ऐहसास करता है और इस तरह जिंदगी पर एक गहरा असर डालता है।

—लखनऊ से प्रसारित

पुस्तकें और मैं

बाल्य काल से ही मैं पुस्तकें पढ़ता चला आ रहा हूँ। अभी तक कितनी ही पुस्तकें पढ़ चुका हूँ। भविष्य में भी न जाने कितनी पुस्तकें मैं और पढ़ूँगा। बात यह है कि पुस्तकें पढना ही मेरे लिये अब एक व्यवसाय है। उन्हीं पर मेरा जीवन निर्भर है। पुस्तकें न पढ़ूँ तो मेरा काम ही बद हो जावेगा। एक प्रसिद्ध विद्वान का कथन है कि पुस्तकों से बढकर कोई दूसरा सहचर नहीं है। पर मेरे लिये पुस्तकें ही सब कुछ हैं, वही प्रभु है, वही सखा है, वही गुरु है वही अनुचर है वही विद्या है और सम्पत्ति है। कहा जाता है कि ग्रीस के प्रसिद्ध कवि होमर ने एक बार एक मछुये से पूछा कि तुम्हारे पास क्या है। मछुये ने उत्तर दिया कि जो कुछ मैंने खूब परिश्रम से पकड़ा वह तो मेरे हाथ से निकल गया और जिसे मैंने नहीं पकड़ा वही अनायास मेरे हाथ में आ गया है। मुझे भी ऐसा जान पड़ता है कि सीखने के लिये मैंने जो जो पुस्तकें पढ़ीं, उन्हें तो मैं भूल गया हूँ। (पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी—नागपुर)

डेन्मार्क में कृषि-व्यवस्था

धर्मलाल सिंह

साधारणतः लोगों में यह धारणा है कि ठेठ किसान सीधे और शान्त होते हैं। यह धारणा किसानों के देश डेनमार्क की शान्ति और सुख-सम्पन्नता को देखने से प्रमाणित हो जाती है।

डेन्मार्क में खेती और पशुपालन दो अलग-अलग विषय नहीं हैं वे एक ही वृक्ष की दो प्रबल शाखाएँ हैं। कृषि प्रधान भारत के गाँवों की हालत जितनी डेन्मार्क से मिलती-जुलती है, उतनी यूरोप के किसी अन्य देश से नहीं मिलती। ज़मीन की मिट्टी बहुधा काली होती है। पहाड़ नहीं के बराबर हैं। नीची-ऊँची भूमि और जगह-जगह मछलियों से भरी झीलें और पोखर हैं। इसलिये उत्तर बिहार से उसकी बहुत कुछ समानता है। मछली का व्यापार भी अच्छा है। यह देश कुशल मल्लाहों की जननी है। भारत ही के समान सड़क पर मल्लाहिन मछली बेचती है। संसार में डेन्मार्क ही एक ऐसा देश है जिसने खेती और पशुपालन द्वारा अपने को स्वावलम्बी बना लिया है। उस देश से विदेश में बिकने के लिये जाने वाले माल में ७५ प्रतिशत खेती और पशुओं से उत्पन्न वस्तुएँ रहती हैं।

बिहार के गाँवों के समान ही वहाँ किसानों का घर बहुधा चौघरा रहता है। सामने के सुन्दर और सजे भाग में किसान का निवास-स्थान होता है। पिछले भाग में गाय, घोड़ा, भेड़ आदि विशेषतः जाड़े में रखे जाते हैं। सूअर, मुर्गी, ख़रगोश तथा माल असबाब बगल के घर में रहते हैं। यूरोप में भेड़ बहुसंख्या में, किन्तु बकरी कम पाली जाती है। घर के निकट सफ़ाई के साथ सजा हुआ कम्पोस्ट का ढेर होता है। गोबर, मूत्र और कूड़-कचड़े का ढेर हमारे गाँवों के घरों के निकट भी रहता है, लेकिन सफ़ाई और सुघराई की दृष्टि से दोनों में आकाश पाताल का अन्तर होता है। घर के सामने एक ओर सेब, अंगूर, नाशपाती आदि फलों से लदे हुए वृक्ष खड़े रहते हैं और दूसरी ओर, विविध तरकारियों की क्यारियाँ अपनी हरीतिमा से दर्शकों के मन को मुग्ध कर लेती हैं। खेत आयताकार होते हैं और अधिक लम्बाई के कारण घोड़े आसानी से घूम कर हल चला लेते हैं।

डेन्मार्क में खेती वैज्ञानिक ढंग से की जाती है। वहाँ यह सिद्धान्त-सा बन गया है कि पाँच एकड़ ज़मीन हो और परिवार स्वावलम्बी बन जाए। छोटे-छोटे खेत या होल्डिंग बहुत पसन्द किये जाते हैं। हमारे देश की तरह यहाँ भी

बहुत अधिक भूमि देवस्थानों याने गिरजाघरों और अमीर-उमरावों के अधीन है। सरकार उसे धीरे धीरे ले रही है। इस प्रकार की विस्तृत भूमि में बीच से रास्ता बना कर, बिजली और नहर के साथ-साथ नमूनेदार घर बनाये जाते हैं और परिवार के कुटुम्ब की संख्या के अनुपात से, ५ से १५ एकड़ तक ज़मीन देकर किसानों को बसाया जाता है। इस तरह के नवीन बसे हुए अभी २० हजार परिवार हैं। भूमि और भवन के लागत मूल्य की वापसी, ६ प्रतिशत तक की वार्षिक किस्त में सरकार चौथे वर्ष से लिया करती है। खेती के लिये कर्ज देने के हेतु वहाँ सहकारी भूमि पर ऋण देने वाले अनेक बैंक तथा सेविंग्स बैंक हैं।

अधिक ज़मीन के क्षेत्र पसन्द न होने के कई कारण बतलाये जाते हैं। कम भूमि जोतने वाला जी लगाकर मेहनत करता है और अधिक उपजा लेता है। साथ ही परिवार पीछे दो दो, चार चार पशु पालने हो पाते हैं। इससे उस इलाके में कृषि की रीढ़, पशुपालन का धन्धा बड़े पैमाने पर फैल जाता है। किसानों का ख़याल है कि पशु बिना जमीन और जमीन बिना पशु घाटे की जड़ है। इसलिये वे अधिक जमीन जोतने अथवा सभी जमीन को एकत्रित कर बड़े बड़े क्षेत्रों में बाँट कर मशीन द्वारा खेती करने के विरुद्ध हैं। उनकी युक्ति है कि इससे बेकारी बढ़ती है और अपनापन का भाव मिट जाने से लोग मन लगाकर मेहनत नहीं करते। मजदूर लगाने से खेती करने का ख़र्च बहुत बढ़ जाता है। सम्हाल से अधिक भूमि जोतने वाला, छोटे किसान की अपेक्षा, कम औसत में उपजाता है और कम पशु पालता है। उनकी उपज डेढ़-दुनी और पशु की संख्या तीन-चार गुनी घट जाती है। इससे राष्ट्र को हानि होती है।

डेन्मार्क के किसान अपनी भूमि को लोहे के जाल में घेर कर छः हिस्सों में बाँटते हैं। रासायनिक खाद के साथ मिलाकर कम्पोस्ट डालते हैं। गोबर और लकड़ी नहीं जलाते। बिजली, गैस या स्टोव पर रसोई पकाते हैं। क्षेत्र के सभी भाग में अदल-बदल कर पारी पारी से फसल लगाते हैं। पहले भाग में दलहन के साथ जौ, दूसरे और तीसरे में घास, चौथे में जई, पाँचवें में गेहूँ और छठे में कन्द लगाते हैं और प्रति वर्ष क्रमश हर क्षेत्र की फसल को बदलते जाते हैं। हर क्षेत्र में तीन वर्ष तक फसल और चौथे वर्ष कन्द लगाते हैं और फिर उसके बाद दो वर्ष तक घास लगा कर आराम देते हैं। घास की अवस्था में भी उनके पशु, जो जाड़े के अतिरिक्त चरागाह पर दिन रात खुले घूमते हैं, बराबर गोबर, मूत्र डालते जाते हैं। इससे खेत की उपजाऊ शक्ति बढ़ती जाती है। लेकिन किसान इसके अतिरिक्त घास के खेत में गोबर, मूत्र और रासायनिक खाद से तैयार पानी गर्मी में दो बार छिड़कते हैं। इस प्रकार परती पड़ी हुई जमीन, फसल बोने पर स्वभावत अन्न उगलने लगती है। इन दोनों क्रियाओं से अर्थात् क्रमश खेत में अन्न और घास उपजाने के कारण शोषित शक्ति ही वापस नहीं मिलती, बल्कि जमीन में नई ताकत आ जाती है। यही कारण है कि जहाँ भारतवर्ष में एकड़ पीछे औसत तीन मन तथा अमेरिका में सात मन गेहूँ पैदा होता है, वहाँ डेन्मार्क में १५ मन होता है। जमीन में खाद डालते रहने पर भी तीसरे वर्ष के पश्चात् उपज की औसत घटने लगती है। जमीन आराम खोजती है, इसलिये चौथे वर्ष कन्द उपजाते हैं और दो वर्ष घास के लिये छोड़ते हैं। इस उलट-पलट से जमीन की उर्वरा शक्ति प्रखर होकर फूट पड़ती है। फल यह होता है कि हिन्दुस्तान की तीन फसला जमीन डेन्मार्क की एक-फसला जमीन से भी गई-गुजरी है।

कष्ट-सहिष्णु, बुद्धिमान् डेनिश किसान अपना समय क्षण भर भी व्यर्थ नहीं बिताते। वे स्वयं हल चलाते, निकोनी करते, फ़सल काटते और अनाज तैयार करते हैं।

इनकी स्त्रियाँ भी सचमुच अर्द्धांगिनी हैं। वे घर की परिचर्या के साथ-साथ पशु को खिलाती-पिलाती और चराती हैं, दूध दूहती हैं और घर मे मितव्ययिता से सारा प्रबंध करती हैं। हाँ, एक सुविधा उनको है। वहाँ के विद्यालयों में फसल काटने और लगाने के समय वर्ष में दो बार लम्बी छुट्टी हुआ करती है। उस समय बच्चे घर पर उपस्थित रहते हैं और माता पिता के काम में सहायता करते हैं। खर्च की कमी और उपज की बढ़ती की रफ्तार देखकर किसी को आश्चर्य नहीं होता कि कोई देश केवल खेती और पशु पालन से भी स्वावलम्बी बन सकता है।

संसार में सब से उन्नत दुग्धालय (डेयरी फार्म) डेन्मार्क में ही है। डेनिश गाय औसतन बीस पौंड दूध देती है जब कि हालैंड में १८ पौंड, अमेरिका में १४ पौंड, इंगलैंड में ११ पौंड और भारत में दो पौंड का अनुपात है। वहाँ निर्यात की सबसे प्रधान वस्तु दुग्ध पदार्थ है। सन १९५० में इन पदार्थों से डेन्मार्क को लगभग चार अरब रुपयों की आमदनी हुई थी।

अधिक भूमि के मालिक अपनी ज़मीन को या तो छोटे छोटे किसानों को वार्षिक मालगुज़ारी पर देते हैं, अथवा मज़दूर रखकर खेती करवाते हैं। मज़दूर दो प्रकार के होते हैं। एक स्थायी और दूसरे अस्थायी। स्थायी मज़दूर को मालिक रहने के लिये घर एवं अधिक मज़दूरी देते हैं। ये सब मज़दूर अपने मन में मज़दूर नहीं हैं। छोटे छोटे किसानों के लड़के हैं। पिता इनको बड़े बड़े किसानों की खेती का पद्धति, प्रयोग आदि के अनुभव प्राप्त करने के लिये भेजते हैं।

डेन्मार्क में कृषि की सफलता का सबसे बड़ी कुंजी उनका पशुपालन है। हर परिवार कम से कम एक या दो घोड़, दो चार गाय, कुछ भेड़ें, कुछ सूअर, खरगोश, मुर्गियाँ और मधुमक्खियाँ अवश्य पालता है। खेत में जो कुछ उपजता है स्वयं खाता और अपने पशुओं को खिलाता है। मनुष्य और पशु के इस सम्मिलित परिवार से जो कुछ बच जाता है, वह बेच दिया जाता है। इस उदारता के कारण इतर कुटुम्ब भी प्रति उपकार में कुछ उठा नहीं रखता। गाय घण्टा घंडा भर दूध देती है भाम काय उजले सूअर से छः छः मास-मास मन मांस निकलता है सूअरनी बारह-बारह बच्चे तक देती है मुर्गियां आध आध पाव के [illegible] अण्डे डालती है मधुमक्खियाँ [illegible] मधु चुआती रहती है और फलों के भार से पेड़ों की झुकी हुई टहनियां मानो स्वर्ग का अभिवादन करती है। डेनिश किसान इतनी चीज़ों का व्यवहार कहाँ तक कर सकता है [illegible] भेजने के लिये इन चीज़ों को सहयोग समिति के द्वारा बेचता है। सहयोग समिति भी उसकी अन्य आवश्यकता का प्रबन्ध करती है। समिति की खरीद बिक्री पर साल भर में जो मुनाफ़ा उठता है वह हर किसान को उसकी खरीद बिक्री के अनुपात से वर्षान्त में वापस मिल जाता है। कहने का तात्पर्य कि सहयोग की भावना जीवन के कण कण में क्रियात्मक रूप में पिरोई हुई है। वहाँ सहकारिता के लिये कोई सरकारी क़ानून नहीं है। यह जनता की चीज़ है। दुनिया में डेन्मार्क ही एक ऐसा देश है जो सहकारी संस्था के मुनाफे पर [illegible] लेता है। दूसरे देशों की सरकार तो इसके उत्थान के लिये अपने खज़ाने से पर्याप्त रक़म दान करती है।

डेनिश किसान को इतने से भी सन्तोष नहीं है। वह अपने अवकाश में लोहारी, बढ़ई, जुलाहे या इसी तरह के [illegible] काम करता रहता है। स्त्रियाँ सीना पिरोना बुनाई आदि करती है। किसान काम के [illegible] घन्टे छोटे मोटे घरेलू धन्धे करते रहते हैं जिससे उनको घाटे का भय मिट जाता है। यही कारण है कि डेन्मार्क के किसान अपनी आय का ७५ प्रतिशत [illegible] के रूप में [illegible] भी [illegible] और आमोद प्रमोद में रहते हैं वैसा [illegible] गृहस्थों का [illegible] नहीं। डेनमार्क के निकट ४० साल की [illegible] एक [illegible] के बाद [illegible] हुए [illegible] प्रकार के

आमोद प्रमोद के सामानों से सुसज्जित, पुस्तकों और अखबारों से भरे कमरे में गद्दीदार कुर्सी पर बैठकर, जिज्ञासा की गई कि गत वर्ष का हाल-चाल कैसा रहा। वह खिन्न होकर बोला कि अच्छा नहीं रहा, खाने पीने, बच्चों की पढ़ाई के खर्च देने और सरकारी कर चुकाने के बाद सिर्फ चार ही हजार रुपया बचा। किसान के पास १२ एकड़ जमीन है। इस प्रगति से, बिहार के किसी एक जिले के क्षेत्रफल से कुछ ही छोटा बड़ा डेन्मार्क, इतना समृद्धशाली है कि उसकी सरकार के वार्षिक खर्च का बजट भारत सरकार के बजट से कम नहीं है, तो फिर इसमें आश्चर्य की क्या बात हुई ?

—पटना से प्रसारित

वृक्षारोपण का महात्म्य

पुराणों के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में, कारण जल में पृथ्वी के उभरने पर सबसे पहली सृष्टि वनस्पतियों और वृक्षों की हुई और सबके अन्त में पूर्ण विकसित हो कर मनुष्य बना। सबसे पहले हमारे वैज्ञानिक ऋषियों ने ही इस सत्य को जाना कि वृक्षों में भी सुख दुःख का अनुभव करने की संवेदना है और उन्होंने यह घोषणा की है कि वे अचर प्राणी हैं। उनकी इस संवेदना का प्रमाण यह है कि वृक्ष को काटने से उसके स्नायु संकुचित हो कर पीड़ा का प्रदर्शन करते हैं और उसका वह अंग मुर्झा जाता है। इसी तरह जल सींचने से वे लहलहा उठते हैं, सजीव से हो उठते हैं। ऋषियों ने यह भी जान लिया था कि वृक्षों से मानव को प्राणवायु प्राप्त होती है और मानव शरीर से निकलने वाली दूषित साँस की भाप वृक्षों के लिये पोषक होती है। इसी सत्य को जानने के कारण हमारे पूर्वज वनों में घने वृक्षों के बीच अपने आश्रम बनाते थे। इतना ही नहीं उन्होंने शास्त्रों में भी यह निर्देश किया कि हरे वृक्षों को निरर्थक काटना हत्या है, पाप है। उन्होंने वृक्षारोपण को एक पुण्य कार्य माना था। इसका प्रमाण यह श्लोक है

अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं दश चिञ्चिणीश्च।
कपित्थबिल्वामलकत्रयं च पञ्चाम्रवापी नरकं न गच्छेत्॥

एक पीपल, एक पिचुमद, एक गूलर, दश इमली, कैथ, बेल और आंवले के तीन तीन पेड़ तथा आम के पाँच वृक्ष लगाने वाला कभी नरक का मुंह नहीं देखता। यही नहीं, वे लगाये हुए वृक्ष को पुत्र के समान समझते थे।

महाकवि कालीदास के मेघदूत और रघुवंश में भी इस प्रकार का उल्लेख आया है। विरही यक्ष मेघ को दूत बनाकर प्रिया के पास भेजते समय, उसे अपने घर की पहचान करने के लिये कहता है

द्वार प्रान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे।
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः॥

"मेरे द्वार के पास छोटा सा मदार वृक्ष है। उसे मेरी प्रिया ने पुत्र बनाकर पाला और इतना बड़ा किया है। उसमें फूलों के गुच्छे इतने लगे हैं कि डालें झुकी पड़ती हैं और उन्हें नीचे से ही हाथ बढ़ा कर तोड़ लिया जा सकता है।" रघुवंश में भी मायामय सिंह दिलीप से कहता है

"अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।"

"यह जो सामने देवदारु का वृक्ष देखते हो, इसे भगवान शंकर ने अपना पुत्र बनाया है।" कहने का मतलब यह कि मनुष्य का और वृक्षों का पूरा स्नेह सम्बन्ध है।

—(रूपनारायण पाँडेय लखनऊ)

अचेतन मन के चमत्कार

लालन राम शुक्ल

संसार के इतिहास में दो महापुरुषों ने वर्तमान सभ्यता में भारी उथल पुथल मचा दी है। ये हैं कार्ल मार्क्स और डा० सिगमण्ड फ्रायड। कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने पुरानी रूढ़ियों प्रथाओं और श्रद्धाओं के ऊपर जो कुठाराघात किया उसके परिणामस्वरूप समाज में क्रान्ति और अशान्ति फैल गई। जो काम मनुष्य के बाह्य जगत में मार्क्स ने किया वही काम उसके अन्तर्जगत में फ्रायड ने किया।

मनुष्य के मन के दो भाग हैं। एक चेतन मन और दूसरा अचेतन मन। मन के दोनों भाग क्रियाशील हैं। मनुष्य का चेतन मन विचारवान और विवेकी है और उसका अचेतन मन इच्छा युक्त है। वह भले बुरे का विचार नहीं रखता। मनुष्य अपने अचेतन मन में पशुओं के समान है मनुष्य में नैतिकता समाज सम्पर्क से आती है और मनुष्य के चेतन मन की विशेषता है।

दमन की क्रिया जटिल होने के कारण ही मनुष्य के मानसिक रोगों को ठीक करना बड़ा कठिन होता है।

फ्रायड महाशय ने मनुष्यों के स्वप्नों का विश्लेषण करके एक नया विज्ञान तैयार कर दिया है। यदि हम फ्रायड के विचार को मानें तो देखेंगे कि मनुष्य न तो उतना पवित्र ही है जितना वह अपने आप को मान बैठता है और न वह उतना उदार ही है जितना वह अपने आप को समझता है। उसकी पवित्रता के नीचे *विषय वासना छिपी रहती है और उसकी* उदारता के पीछे स्वार्थीपन। मनुष्य अपने आप को धोखा देने के भी अनेक उपाय कर लेता है। यह हम मनुष्य के स्वप्नों में देखते हैं। मनुष्य की दबी हुई वासना स्वप्न में इस प्रकार प्रकाशित होती है जिससे वह नैतिक बुद्धि द्वारा पहचानी न जा सके।

ये सब रोग अचेतन मन की इच्छा के दमन के परिणाम हैं। दमन से अचेतन मन क्रुद्ध हो जाता है और फिर वह मनुष्य के चेतन मन को यानी उसके स्व को अनेक प्रकार की यंत्रणा देने लगता है।

फ्रायड ने अचेतन मन का जो स्वरूप हमें दिखलाया है उसके ज्ञात होने पर हमें मनुष्य के बहुत से आचरणों का नये प्रकार से मूल्यांकन करना पड़ेगा। जो लोग अपने जीवन में धर्म के प्रति अत्याधिक लगन दिखाते हैं, यदि उनके अचेतन मन को खोल कर देखा जाय तो पता चलेगा कि यह लगन कोरा ढोंग है। समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये मनुष्य ने इसे एक उपाय बना लिया है। वह धार्मिकता और नैतिकता को वहीं तक स्वीकार करता है जहाँ तक ये उसकी भीतरी इच्छाओं के प्रतिकूल नहीं जाती। जब य उसकी इच्छा के प्रतिकूल जाने लगती है तो मनुष्य के मन में भारी संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, और यही मानसिक रोग की अवस्था है।

जब मनुष्य अपनी आंतरिक इच्छाओं को जान कर उन्हें स्वीकार कर लेता है और उनका अपनी नैतिक भावना से समन्वय स्थापित कर लेता है, तो उसे मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त हो जाता है। इस समन्वय के लिये छिपी वासनाओं की खोज की आवश्यकता होती है। इस खोज और स्वीकृति के कार्य में मानसिक चिकित्सक अथवा मनोविश्लेषक की सहायता नितान्त आवश्यक है। यदि किसी मनुष्य का ऐसा कोई मित्र हो जिसके सामने वह अपने सभी हृदय के बुरे अथवा भले भावों को खोलता रहे, तो उसे कोई आनतरिक रोग न हो। जब कोई मानसिक चिकित्सक ऐसे मित्र के रूप में आता है, तभी वह रोगी का सच्चा लाभ करता है। जब रोगी की चिकित्सक के प्रति मैत्री भावना अथवा श्रद्धा नहीं रहती तो उसकी अचेतन वासना उसके सामने नहीं आती और उसका रोग भी अच्छा नहीं होता।

फ्रायड ने कामवासना का क्षेत्र बड़ा व्यापक बताया है। काम वासना न केवल मनुष्य के मानसिक रोगों, स्वप्नों और उसके असाधारण व्यवहारों का कारण है, वरन् उसके सामाजिक व्यवहारों, विशेष प्रकार के रीति रिवाजों का, धार्मिक भावों का और सभ्यता के विभिन्न प्रकार के प्रतीकों का भी कारण है। यदि मनुष्य अपनी काम वासना को उसके नग्न रूप में तृप्त करे तो समाज का ही विनाश हो जाय। मनुष्य पशु जैसा खूंख्वार जानवर बन जाये, अतएव उसने काम वासना को नियंत्रित करके ऊर्ध्वगामी बनाने की चेष्टा की है। कविता, कला, संगीत और धर्म से अचेतन मन की अनेक दबी हुई वासनाओं का शोध होता है। परन्तु कभी कभी ये सभ्यता के प्रतीक अतृप्त काम वासना के छिपे ढंग से प्रकाशित होने के रूप ही बन जाते हैं। तब ये निन्द्य होते हैं। कृष्ण प्रेम बड़ा सुन्दर भाव है परन्तु जब बहुत से कृष्ण प्रेम मण्डल वासनायुक्त कृष्ण प्रेम के पोषक बन जाते हैं तो वे निन्द्य हो जाते हैं। कला और संगीत-उपासना मनुष्य की शक्ति को ऊर्ध्वगामी बनाते हैं परन्तु यही धनी लोगों की विलासिता का आवरण बन जाते हैं।

फ्रायड महाशय ने जो मन के विषय में नई खोज की है उसके आधार पर आज और अनेक खोजें हो रही हैं। फ्रायड के विचार बहुत कुछ क्रान्तिकारी और ध्वंसात्मक थे। परन्तु यदि फ्रायड मनुष्य के अचेतन मन की ओर समाज के चिन्तनशील मनुष्यों का ध्यान न ले जाते तो सभ्यता के क्षेत्र में वह रचनात्मक कार्य न होता, जो आज यूंग, ब्राऊन, हेडफील्ड आदि महाशय कर रहे हैं।

—इलाहाबाद से प्रसारित

Printed at Coronation Printing Works, Delhi and published by the Director, Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting Government of India Old Secretariate, Delhi

देश भर में
35
वर्ष से प्रसिद्ध
Royal Cream BISCUITS
J.B. Mangharam's ENERGY WAFERS
NOURISHING
जे० बी० मंघाराम के स्वादिष्ट बिस्कुटों की ये तीन किस्में भी हैं।
अनुभवी और कुशल कारीगरों द्वारा ये बिस्कुट स्वच्छ वातावरण में विशुद्ध और पौष्टिक तत्वों से बनाये जाते हैं। गत ३५ वर्षों से जे० बी० मंघाराम की बिस्कुटों और विलायती मिठाइयों की सर्वत्र मांग रही है, क्योंकि खाने में ये सुस्वादु होती हैं। ये बिस्कुट कई किस्म के डिब्बों में मिल सकते हैं।
जे० बी० मंघाराम एण्ड कं०
(उच्च कोटि की कन्फ़ेक्शनरी तथा बिस्कुटों के निर्माता)
ग्वालियर
शाखाएं —फतेहपुरा, दिल्ली तथा कनाट प्लेस नई दिल्ली।

वर्ष १ त्रैमासिक अंक २

अक्टूबर दिसम्बर, १९४३

आठ आने

परिचय

मैथिलीशरण गुप्त—राष्ट्र कवि और राज्य परिषद् के सदस्य।
भीखनलाल आत्रेय—दर्शन शास्त्री, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय।
डा० सत्यप्रकाश—प्रसिद्ध वैज्ञानिक साहित्यकार, प्रोफेसर, प्रयाग विश्वविद्यालय।
रघुपति सहाय "फ़िराक़"—उर्दू के प्रसिद्ध कवि और आलोचक।
अज्ञेय—ख्याति प्राप्त उपन्यासकार और साहित्य स्रष्टा।
महेन्द्रप्रताप शास्त्री—संस्कृत साहित्य के पंडित, आचार्य, डी ए वी कालेज, लखनऊ।
रामधारीसिंह, 'दिनकर'—हिन्दी के अग्रतम कवियों में से एक, राज्य परिषद के सदस्य।
रशीद अहमद सिद्दीक़ी—उर्दू साहित्य के प्रसिद्ध व्यंग्य लेखक।
अमृतराय—प्रेमचन्द जी के पुत्र और प्रगतिवादी साहित्यिक।
बालकृष्ण राव—आइ सी एस, सुकवि, भारत सरकार के सूचना व प्रसार मंत्रालय के उप सचिव।
जगदम्बा प्रसाद दीक्षित—मध्य प्रदेश के तरुण साहित्य सेवी।
कृष्णदेव प्रसाद गौड़—'बेढब' नाम से विख्यात व्यंग्यकार एवं पत्रकार।
शिवशरण—जैन साधु, संगीत और योग मर्मज्ञ।
त्रिभुवननाथ—साहित्यकार और आलोचक।
बलराज साहनी—मँजे कलाकार और नाट्यविशारद।
सुमन वात्स्यायन—बौद्ध भिक्षु और लेखक।
मौलाना अबुल कलाम आज़ाद—अरबी, फारसी और उर्दू के आलिम केन्द्रीय शिक्षा मंत्री।
हरिभाऊ उपाध्याय—गाँधी साहित्य निर्माता, अजमेर राज्य के मुख्य मंत्री।
डा० बाबूराम सक्सेना—साहित्य महारथी अध्यक्ष हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।
कृष्णचन्द्र—उर्दू के उत्कृष्ट कहानी लेखक और उपन्यासकार।
सर्वेश्वरदयाल सक्सेना—नई पीढ़ी के कवि।
मन्मथनाथ गुप्त—भूतपूर्व क्रांतिकारी, उपन्यास लेखक, सम्पादक, पब्लिकेशन्स डिवीजन।
ब्रजनन्दन आज़ाद—बिहार के प्रमुख साहित्यिक और पत्रकार।
नीलिमा मुकर्जी—नवोदित साहित्यिक प्रतिभा।
रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री—प्रयाग के पुराने साहित्य सेवी।
जैनेन्द्रकुमार—अग्रगण्य हिन्दी साहित्यिक, दार्शनिक और विचारक।
कैलाश चन्द्रदेव 'बृहस्पति'—भारतीय सांस्कृतिक गवेषणा में रुचि रखने वाले लेखक।
सुमित्रानन्दन पंत—सुविख्यात गीतकार और कवि।
नलिनविलोचन शर्मा—बिहार के मान्य आलोचक और साहित्य मनस्वी।
विष्णु प्रभाकर—उच्च कोटि के कहानी लेखक उपन्यास और नाटककार।
कंचनलता सब्बरवाल—लखनऊ की प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्रिणी।
आर० पी० नाइक—सैनिक प्रवृत्तियों में अध्ययन शील एक सेनाधिकारी।
रामवृक्ष बेनीपुरी—प्रसिद्ध सम्पादक एवं साहित्य सेवी।
मौलाना नियाज़ फतहेपुरी—उर्दू साहित्य के कुशल लेखक।

रेडियो संग्रह

अक्टूबर-दिसम्बर, १९५१

विषय-सूची

रेडियो संग्रह का उद्देश्य विशेष महत्त्व की उन उपादेय शिक्षाप्रद, मनोरञ्जक एवं ज्ञानवर्धक वार्ता, कविता आदि का संकलन करना है, जो भारतीय आकाशवाणी द्वारा प्रसारित की जाती हैं। इस संग्रह में वार्ता आदि पूरी तरह उसी रूप में नहीं दी गई जिस रूप में कि वे प्रसारित हुई हैं, क्योंकि भाषण और लेखन शैली में भिन्नता तथा सीमित स्थान होने के कारण उनमें थोड़ा बहुत संशोधन एवं परिवर्तन आवश्यक है।

रेडियो संग्रह के वार्षिक चन्दा और विज्ञापन की दर के विषय में निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करें —

डिस्ट्रिब्यूशन ऑफ़िसर पब्लिकेशन्स डिवीज़न, मिनिस्ट्री ऑफ़ इन्फ़र्मेशन एण्ड —ब्रॉडकास्टिंग, ओल्ड सैक्रेटेरियेट, दिल्ली–८

सम्पादक—शंकर गौर

गूँजे भारति अम्बर ! अवनि में,
अभिनव ध्वनि-विस्तार ।
सुन कर जिसे सांत्वना पावे,
शंकाकुल संसार ।
गीत कवित्व चरित्र चित्र बहु,
उच्च पवित्र विचार ।
नये रूप में, नये रंग में,
पाते रहें प्रसार ।

—मैथिलीशरण गुप्त
(नया साहित्य दिल्ली)

हम उन्हें भूल न जायें

राष्ट्रपति

कुछ लोग गाधी जी में मेरी अन्ध-श्रद्धा की बात कहते है। मेरी अध-श्रद्धा यों ही नहीं हो गई। यह तो तजुर्बे का फल है। कितने ही मरतबे उनके और मेरे विचारो में काफ़ी भेद रहा है, किन्तु पीछे चल कर मैने महसूस किया कि उनके ही विचार ठीक थे।

गांधी जी महापुरुष थे। जिस तरह गगा नदी हिमालय से लेकर समुद्र तक १५००-१६०० मील बराबर बहती है, उसी तरह महात्मा गाधी अपनी ८० वर्ष की अवस्था तक लोगों को सिखाते गये। गगा तो सब जगह होकर बहती है, मगर उससे किसी को ज्यादा लाभ मिलता है और किसी को कम। गाधी जी का जीवन ऐसा ही था। जिसकी जितनी शक्ति थी वह उतना लाभ गांधी जी की जीवन-गगा से हासिल कर सका। मैं उनके नजदीक रहकर भी उनकी जीवन-गगा से एक लोटा भर ही अमृत ले सका।

हमें यह न समझना चाहिये कि त्याग का समय चला गया, और भोग का समय आ गया। जब हथकड़िया, जेलखानों, लाठियों और गोलियों के सिवाय हमें कुछ दूसरा मिल ही नहीं सका था, तो हम त्याग ही क्या कर सकते थे? आज जब हम कुछ सांसारिक अधिकारों और भोगो को प्राप्त कर सकते हैं तो उनके त्यागने को ही त्याग कहा जा सकता है। जब वह प्राप्त नही थे उस समय त्याग क्या हो सकता था?

गांधी जी के जीवन से हमने लगभग कुछ नहीं सीखा। हो सकता है कि उन्होंने जो कुछ बताया उसको हम भूल गये या भूल जायें और दूसरे देश के लोग जिन्होंने उनकी शिक्षा को अपनाया हो, हमारे यहाँ आकर हमें उनकी शिक्षा का पाठ नये सिरे से पढ़ायें। भगवान् बुद्ध भारत में पैदा हुए। हमने उनसे जो कुछ सीखा था, हम उसे भूल गये। देश क बाहर के लोगों ने उनके सिखाये हुये मार्ग पर चल कर बहुत कुछ लाभ उठाया और वही लोग आज हमको उनका संदेश सुना रहे है ....

'गांधी जी की देन' पुस्तक से (ब. दा. चतुर्वेदी, दिल्ली)

पुराणों में प्रतीक
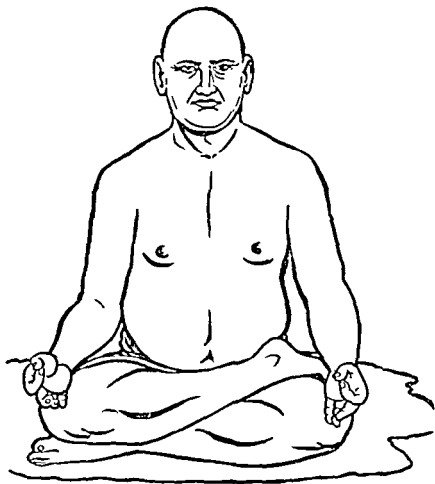
चर्चा की गई है—सृष्टि, प्रलय, वश परम्परा, मन्वन्तर और विशेष वशों म होने वाले महा पुरुषो का चरित्र।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशो मन्वन्तराणि च।
वशानुचरित चैव पुराण पचलक्षणम् ॥

महाभारत के लेखक व्यास ने, जिनको पुराणों का भी लेखक कहा जाता है, आदिपर्व में लिखा है कि 'इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत्' अर्थात् इतिहास (रामायण और महाभारत) और पुराणों द्वारा वेदों के सिद्धान्तों की व्याख्या की जाती है। दूसरे शब्दों में यह कहिये कि जो ज्ञान वेदों और उपनिषदों में सूक्ष्म रूप से दिया गया है वही ज्ञान इतिहास और पुराणों में कथा, उपाख्यान, दृष्टान्त और उदाहरण आदि देकर विशद रूप से समझाया गया है।

पुराणों का भली भाँति अध्ययन करने पर यह तो निश्चित सा हो जाता है कि पुराणों में वर्णित सभी घटनाएँ अथवा अधिकतर घटनाएँ ऐतिहासिक नहीं हो सकतीं। पुराणों में जिन देवी देवताओं और उनके चरित्रों और जिन महान् घटनाओं का वर्णन है, वे ठीक उसी प्रकार वास्तविक और ऐतिहासिक नहीं हो सकतीं जैसी कि वे वर्णित हैं। ऐसा जान पडता है कि वे आध्यात्मिक और मानसिक तत्वों और सूक्ष्म घटनाओं का स्थूल रूप में रूपक हैं और उनका कार्य सकेतमात्र है। उनका प्रयोजन और अर्थ मानसिक और आध्यात्मिक है। पुराण लेखकों ने आध्यात्मिक रहस्यों और समष्टि और व्यष्टि के सूक्ष्म तत्वो और अव्यक्त घटनाओं को समझाने के लिये व्यक्त भौतिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक घटनाओं, कथाओं और दृष्टान्तों का प्रयोग किया है।

इस मत का समर्थन श्रीमद्भागवत में ही, जिसकी गणना भी पुराणों मे होती है, स्पष्टतया मिलता है। इस लोकप्रिय और महान् ग्रन्थ के चतुर्थ स्कध मे २५ वें से लेकर २८ वें अध्याय तक राजा पुरजन के चरित्र का वर्णन किया गया है। पढ़ने में वह बहुत ही वास्तविक और ऐतिहासिक जान पड़ता है। किन्तु २९ वें अध्याय मे ग्रन्थकार ने स्वय ही पुरजनोपाख्यान के तात्पर्य का वर्णन किया है और यह दिखलाया है कि इस उपाख्यान द्वारा उसने किन किन आध्यात्मिक और मानसिक रहस्यों की व्याख्या की है।

श्रीमद्भागवत की दी हुई इस कुजी के द्वारा यदि हम सभी पुराणों के रहस्यमय तालों को खोलना चाहें तो एक बड़े ज्ञान का निर्माण कर सकते हैं।

सस्कृत भाषा में दो शब्द, जो एक ही धातु से निकले हैं, भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किये गए हैं। एक है प्रतिमा और दूसरा है प्रतीक। प्रतिमा वह वस्तु है जिसमें किसी दूसरी वस्तु का शब्दत अथवा रूपत भान हो और जिसके देखने और सुनते ही दूसरी वस्तु का स्मरण आ जाए, जैसे भगवान् बुद्ध की मूर्त्तियाँ अथवा किसी व्यक्ति के फोटो चित्र, अथवा देखकर बनाए चित्र। प्रतीक में रूप का सादृश्य इतना नहीं होता जितना अर्थ का सकेत होता है। अव्यक्त और अरूप विषयों की प्रतिमा नहीं हो सकती, प्रतीक ही हो सकते हैं। आध्यात्मिक तथा मानसिक तत्त्वों और घटनाओं को भाषा और चित्र द्वारा प्रकट करने का प्रयत्न प्रतीकों द्वारा ही किया जा सकता है। बड़े बड़े सन्त महात्मा अपने आध्यात्मिक और आन्तरिक अनुभवों को प्रतीकों द्वारा ही व्यक्त करते हैं। कबीर की कुछ रचनायें इसी प्रकार की हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि पुराणों में वर्णित सभी देवी देवता, उनके रूप और वस्त्राभूषण और उनके कार्य प्रतीक मात्र हैं।

पुराणों में अनेक देवी देवताओं और सृष्टि सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन है। इनमें प्रधान देवता ब्रह्मा, विष्णु, और शिव हैं और प्रधान

देवियाँ सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा हैं, तथा प्रधान घटनाएँ सृष्टि, स्थिति और प्रलय हैं। इन के सम्बन्ध में किस प्रकार प्रतीकों का प्रयोग किया गया है, उसका दिग्दर्शनमात्र कराने का अब हम प्रयत्न करेंगे।

चित्र बेचनेवालों की दुकानों पर एक चित्र शेषशायी भगवान् का, जो कि पुराणों के आधार पर बनाया गया है, मिलता है। उसमें चारों ओर अन्धकार छाया हुआ है, और पानी ही पानी है, जिसको पुराणों में क्षीर सागर कहा गया है। उस पर अनन्त नामक शेषनाग कुण्डली मारे पड़ा हुआ है, और उस पर आकाश के समान नीलवर्ण वाले विष्णु अर्थात् महाविष्णु योग निद्रा में सोये हुए हैं। उनकी नाभि से एक कमल का फूल खिलते ही उसमें से रक्तवर्ण सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा उत्पन्न होता है। ब्रह्मा के चार मुख हैं।

यदि इस वर्णन पर विचार किया जाय, तो स्पष्टतया ज्ञान होता है कि यह चित्र अथवा रूप जगत् की सृष्टि की प्रतिमा नहीं है, प्रतीक मात्र है। अन्धकार प्रतीक है प्रलय का, जिसमें कि सूर्य, चन्द्रमा और तारागण, जिनसे हम को प्रकाश मिलता है, नष्ट हो जाते हैं। जल प्रतीक है अनन्त देश का जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति होती है। शेषनाग का अर्थ है काल। यह अनन्त है और सृष्टि के न रहने पर भी रहता है। इस देश और काल के ऊपर यह विष्णु, जो कि सर्वव्यापी है, अपने एक विशेष रूप में, जिसके भीतर सारी सृष्टि बीज रूप से निहित है, शान्त रूप में स्थित है। इस बात को गाढ़ निद्रा की अवस्था के द्वारा व्यक्त किया गया है। इसी आनन्द अवस्था में एक स्फुरण होता है, जो संकल्प बनकर सृष्टि करता है। उसी को ब्रह्मा के रूप में व्यक्त किया गया है। स्फुरण रजोगुणात्मक है, इस कारण उसका रंग लाल है। विष्णु का रंग आसमानी है, क्योंकि वह आकाशवत् शान्त है। नाभि से ब्रह्मा की उत्पत्ति इस कारण दिखलाई है कि नाभि के नीचे मनुष्य की कुण्डलिनी शक्ति का स्थान है, अत एव नाभि प्रतीक है अनन्तशक्ति का। कमलदण्ड जो कि बच्चे की नाल का दूसरा रूप है, इस बात का प्रतीक है कि सृजित सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ईश्वर से ही अपनी शक्ति उसी प्रकार प्राप्त करता है जैसे गर्भ में बच्चा अपनी माता से। कमल प्रतीक है सृष्टि का। कमल की कली अण्डाकार होती है, और अण्डे के भीतर सब कुछ निहित होता है, इसीलिए जगत् को भी ब्रह्माण्ड कहा गया है।

पुराणों में वर्णन किए हुए विष्णु के स्वरूप में बहुत से प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। उनके हाथ में शंख, चक्र और गदा हैं। शंख प्रतीक है आकाश का, चक्र प्रतीक है चंचल मन का और कर्म के नियम का तथा गदा प्रतीक है बुद्धि और शक्ति का। ये बातें केवल हमारी ही कल्पना नहीं हैं, पुराणों में इनका पूरा संकेत मिलता है। उदाहरण के लिये विष्णुपुराण से कुछ श्लोक यहाँ पर उद्धृत करके उनका सरल भाषा में तात्पर्य दिया जाता है

आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणामलम् ।
बिभर्ति कौस्तुभमणिस्वरूपं भगवान् हरिः ।
श्रीवत्स स्थानधरमनन्तो च समाश्रितम् ।
प्रधानं बुद्धिरप्यास्ते गदारूपेण माधवे ।
भूतादिमिन्द्रियादिं च द्विधाहंकारमीश्वरः ।
बिभर्ति शंखरूपेण शार्ङ्गरूपेण च स्थितम् ।।
चलत्स्वरूपमत्यन्तजवेनान्तरितानिलम् ।
चक्रस्वरूपं च मनो धत्ते विष्णुः करे स्थितम् ।
पंचरूपा तु या माला वैजयन्ती गदाभृत ।
सा भूतहेतुसंघाता भूतमाला च वै द्विज ।
यानीन्द्रियाण्यशेषाणि बुद्धिकर्मात्मकानि वै।
शररूपाण्यशेषाणि तानि धत्ते जनार्दनः ।।
बिभर्ति यच्चासिरत्नमच्युतोऽत्यन्तनिर्मलम् ।
इत्थं पुमान् प्रधानं च बुद्ध्यहंकारमेव च ।
अस्त्रभूषणसंस्थानस्वरूपं रूपवर्जितः ।
बिभर्ति मायारूपो सौ श्रेयसे प्राणिनां हरिः ।।

अर्थात् भगवान् विष्णु का कौस्तुभ प्रतीक है जगत् के निर्लेप और शुद्ध आत्मा का, श्रीवत्स प्रतीक है प्रकृति का, गदा बुद्धि का, शख और शार्ङ्ग दो प्रकार के अहकारों का, चक्र मन का, वैजयन्ती माला तन्मात्राओं का, उनके बाण दश इन्द्रियों के, और तलवार ज्ञान का। इस प्रकार रूपरहित विष्णु लोककल्याण के लिये अस्त्र और भूषणों से युक्त मायामय शरीर धारण करता है।

विष्णु का वाहन गरुड़ कहा गया है, गरुड़ प्रतीक है काल की वेगवती गति का।

ब्रह्मा के चार मुख उसकी सर्वतोमुखी बुद्धि और चारों वेदों के ज्ञान के प्रतीक हैं। ब्रह्मा का वाहन हस है, क्योंकि उसको सदा यह ज्ञान रहता है कि वह ब्रह्म ही है—सोऽह, अहं स, हंस। हस प्रतीक है विवेक का, क्योंकि यह कहा जाता है कि वह पानी से दूध को अलग करके पी लेता है।

ईश्वर परमात्मा रुद्र रूप हो कर पुरानी वस्तुओं को नष्ट करता है। इसी वास्ते उसको रुद्र कहा गया है। वह रुलाने वाला है और भयकर है। इसी कारण शिवजी का रूप भयकर भी बनाया गया है। उनका वास श्मशान मे दिखाया गया है। शिव केवल सहारकर्त्ता ही नहीं हैं, वरन् कल्याणकर्त्ता भी हैं। इसी वास्ते उनकी जटा मे गगा बहती रहती है। शिवजी का तीसरा नेत्र उनके आन्तरिक ज्ञान का प्रतीक है। शिव का एक प्रतीक लिंग भी है। लिंग ज्योति की एक प्रतिमा है। लिंग और योनि, जिसमे यह स्थापित किया जाता है, प्रतीक हैं सृष्टि के नाद और बिंदु के और उसकी शक्ति के। शिव का वाहन है नन्दी। नन्दी प्रतीक है शिव की कृपा का। योगी लोग नन्दी को प्रसन्न करके शिव जी को प्राप्त करते हैं, अतएव पहले उसकी ही पूजा होती है।

विष्णु की शक्ति लक्ष्मी के रूप में व्यक्त की गई है, क्योंकि अन्ततोगत्वा ससार की समस्त सपत्ति और विभूति भगवान् के ही अधीन है, वे ही उसके स्वामी हैं।

'ईशावास्यमिद सर्वं यत्किंचिज्जगत्या जगत्'
यह ईशोपनिषद् मे कहा गया है।

ब्रह्मा की शक्ति सरस्वती के रूप मे व्यक्त की गयी है जो ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है। वह ज्ञान, विज्ञान और कलाओं की मूर्ति है। उसके एक हाथ में वीणा सब कलाओं की प्रतीक, दूसरे हाथ मे पुस्तक सब ज्ञान विज्ञानों की प्रतीक और उसके श्वेत वस्त्र शुद्ध आचार व्यवहार के प्रतीक हैं।

शिव जो जगत् के सहार करने वाले हैं, उनकी शक्ति की प्रतीक दुर्गा है। दुर्गा का अर्थ हा कठोर है। वह काली है, अर्थात् भयंकर है। पार्वती है, अर्थात् पत्थर जैसे हृदय वाली है। उसके अनेक हाथों मे अस्त्र-शस्त्र हैं। उसका वाहन सिंह है, जिसको दूर से देख कर ही प्राणी डर जाते हैं।

विष्णु के अवतार भी प्रतीकात्मक हैं। उनके द्वारा पुराण लेखकों ने सृष्टि के युगों की सभ्यता और सस्कृति के विकास के क्रम का वर्णन किया है। मत्स्य—जल में रहने वाले, कूर्म—जल और थल दोनों पर रहने वाले, वाराह—पृथ्वी पर रहने वाले, नृसिंह—आधा पशु और आधा मनुष्य, परशुराम—जगली मनुष्य, राम—मर्यादापुरुष, कृष्ण—पुरुषोत्तम, बुद्ध—ज्ञानी और कल्कि—कलियुग का अन्त करने वाला महापुरुष। क्या ये युगों के विकास के प्रतीक नहीं हैं?

—इलाहाबाद से प्रसारित

सूर्य का जीवन
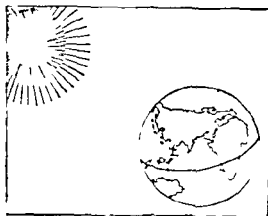
चन्द्रमा के कलंक से तो हम परिचित ही हैं। इनमें से कुछ धब्बे तो ५०,००० मील व्यास के हैं और भूमि के व्यास से भी ६ गुना अधिक बड़े हैं। सूर्य की अन्य चमकती हुई गैसों की अपेक्षा ही ये काले कहे जा सकते हैं, अन्यथा इस पृथ्वी पर जितनी सफ़ेद चीजें हैं, उनसे कहीं अधिक सफेद हैं। इन कलंकों की सहायता से हम सूर्य की गति का अनुमान कर सकते हैं। सूर्य अपनी कीली पर घूमता है। इसका मध्यभाग २६ दिन में १ चक्कर पूरा कर लेता है, पर ध्रुव भाग ३४ दिन में एक चक्कर पूरा करता है। सूर्य के इन कलंकों के प्रभाव से पृथ्वी पर चुम्बकीय तूफान उठते हैं और मेरु ज्योतियों की सृष्टि होती है, एव पृथ्वी की वर्षा पर भी इन कलंको का प्रभाव पड़ता है। सूर्य में न केवल कलंक ही है, बल्कि इसके किनारों के पास सफेद धब्बे भी हैं, जैसे कोढ़ के दाग।

आप यह जानना चाहेंगे कि हमारा यह सूर्य कितनी आयु का है। कहा जाता है कि हमारी यह पृथ्वी २ अरब वर्ष पुरानी है। पृथ्वी के पृष्ठ पर जो पपड़ी बनी है वह आजकल की गणना के हिसाब से १ अरब ६० करोड वर्ष की है। हमारा सूर्य २ अरब वर्ष पहले भी लगभग इतनी ही गर्मी रखता था, जितनी कि आज। सूर्य से जितना ताप हमें आज मिल रहा है उसका यदि आधा ही मिले तो ससार के सभी समुद्रों, नदियों और नालों का पानी बर्फ बन जायगा। यदि यह ताप चौगुना हो जाय तो समुद्रों का पानी उबलने लगेगा और जीवन असम्भव हो जायगा। यदि सूर्य के ताप में थोड़ा सा भी अतर आ जाय तो पृथ्वी के पृष्ठ से वनस्पतियां नष्ट हो जाएगी और प्राणियों की भी प्रलय हो जायगी। हमारे सौर मडल में ग्रहों और तारों का निर्माण लगभग २ अरब वर्ष पूर्व हुआ होगा और हमारा सूर्य कम से कम इतना पुराना तो होगा ही। सूर्य से छिटक कर जब पृथ्वी अलग हुई, उस समय सूर्य का नव यौवन काल रहा होगा।

सूर्य से प्रति वर्ष १२× १०³¹ अर्ग गर्मी निकल रही है। प्रश्न यह है कि आखिर सूर्य में कौन सी चीज जल रही है। यदि सूर्य कोयले का दहकता पिंड होता तो कब का जलकर राख हो गया होता। यदि गधक का होता तब भी यही बात होती। सूर्य के पृष्ठ पर ६०००° के तापक्रम में तो कोई भी रासायनिक यौगिक स्थिर ही नहीं रह सकता। अत सूर्य में केवल तत्वों के मिश्रण के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

हेल्महोल्ट्ज नामक विचारवेत्ता ने एक बार कल्पना की थी कि सूर्य अपनी नव शिशु अवस्था में किसी ठंडी गैस का भीमकाय गोला था। उस समय का यह गोला आजकल के सूर्य से कहीं अधिक बड़ा था। बाद को यह गोला धीरे-धीरे सिकुड़ने लगा। इस संकोच के कारण ही इसमें गर्मी पैदा हुई, जैसे कि मोटर साइकिल में हवा घनी करने पर गर्मी पैदा होती है। हेल्महोल्ट्ज का यह सिद्धान्त बड़ा मान्य है। पर आज के दो अरब से अधिक आयु के सूर्य में गर्मी अन्य प्रकारों से भी उत्पन्न हो रही है, ऐसा मानना पड़ेगा।

आज हम एटम बम के आविष्कार से परिचित हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के बमों में रासायनिक प्रतिक्रियाओं के आधार पर उद्भूत शक्ति के कारण विस्फोट होता था, पर आज के परमाणु बम में परमाणुओं के प्रभजन के कारण विस्फोट होता है। जब परमाणुओं का प्रभजन यथोचित विधि से होता है तो इन परमाणुओं के द्रव्य का अंश विलुप्त हो जाता है। यह विलुप्त द्रव्य ही शक्ति में परिणत हो जाता है। आज से ४८ वर्ष पूर्व आइन्स्टाइन ने यह सभावना सिद्धान्त रूप से हमारे सामने रखी थी कि द्रव्य भी शक्ति में रूपान्तरित हो सकता है, और इस प्रकार के रूपान्तर में एक निश्चित गणित का सम्बन्ध है। परमाणु प्रभजन के आधार पर वैज्ञानिकों ने शक्ति के एक नए अगाध स्रोत का पता लगा लिया है। जब परमाणु बम का विस्फोट होता है तो ऐसा आभास होता है मानो कोई शिशु सूर्य विस्फुटित हो रहा हो।

कवि-सम्मेलन और मुशायरे

रघुपतिसहाय 'फिराक़'

छापेख़ानों ने करोडो आदमियों के लिए यह मुमकिन बना दिया है कि नस्र और नज़्म तनहाई में चुपचाप पढते रहें, लेकिन अदब का एक ख़ास असर उस वक्त भी पडता है जब कई लोग, जिनकी तादाद सैंकडों से हज़ारों तक पहुँच जाती है, एक जगह आकर मिल बैठें और अदब को बजाय चुपचाप अकेले पढ़ने के अदीब के मुँह से उसे सुनें। इस तरह पूरे मजमे में एक फ़िज़ा पैदा हो जाती है और एक समाँ बँध जाता है। इसीलिए हमारी समाजी ज़िन्दगी में अदबी कल्चर को फैलाने और सँवारने में मुशायरों और कवि-सम्मेलनों का बहुत बड़ा हिस्सा रहा है। चुपचाप कविता, ग़ज़ल या नज़्म पढ़ लेने के मुक़ाबले में उसे कानों से सुनने और आवाज़ के चढ़ाव उतार या लबो लहजा को देखने और सुनने की बात ही और है। इस तरह जीती-जागती सूरत में हमें शायरी का दर्शन होता है। अदब उस हद तक लिखे या छपे हुये काग़ज़ पर आँख से देखने की चीज़ नहीं है, जिस हद तक कान से सुनने की चीज़ है। अल्फ़ाज़ को आवाज़ से अदा करके अदब का जादू जगा दिया जाता है।

मुशायरे अदब को एक ज़िन्दा शक्ल में पेश करते हैं। वह ज़िन्दा अमल हज़ारहा दिलों की धड़कनें और हज़ारहा लोगों की रगों में खून की गरदिश बढा देता है। अगर किसी शेर में जान हुई तो वह सुनते ही हज़ारहा आदमियों के दिलों में उतर जाता है और बरसों बल्कि कभी-कभी ज़िन्दगी भर उनकी चेतना में गूंजा करता है और उनके दिलो दिमाग पर मँडराता रहता है। मुशायरा ख़त्म होते होते सैंकड़ो आदमियों को मुशायरे के बहुत से अशआर हमेशा के लिए

मुशायरे के इतने लतीफ़े जमा हो गये हैं कि पूरी एक किताब मुरत्तब की जा सकती है। मुशायरों की कहानी एक बातचीत में ख़त्म नहीं हो सकती। बात में बात और बात से बात पैदा होने का तमाशा मुशायरों में नज़र आता है। मैं दो वाक़ये सुनाता हूँ।

एक शायर इतना मस्त हो जाता था कि पूरा शेर पढ़ना भूल जाता था। शेर था—'तू वोह बुलबुल है कि हर गुल तेरा दीवाना है। आँख जिस फूल पै पड़ जाय वह पैमाना है॥' 'भई, तू वह बुलबुल है कि हर गुल तेरा दीवाना है। आँख जिस फूल पै पड़ जाय ही ही ही '। एक साहब दाद का सलामो-शुक्रिया भी शेर में अदा कर देते थे। शेर यूँ पढ़ते थे—'जामो सुबू का जिक्र क्या बहता फिरे ख़ुद मैकदा। ऐ अब्रे रहमत टूट कर ऐसा बरस इतना बरस आदाबअर्ज़ ॥' एक शायर साहब अपने पढ़ने को ड्रामा बना देते थे। शेर था—'दूर जाकर देखते नज़दीक आकर देखते, हमसे हो सकता तो हम उनको बराबर देखते।' इसे यूँ अदा करते थे—'दूर जाकर देखते नज़दीक आकर देखते, हमसे हो सकता तो हम उनको क्या कहते हैं।' कभी-कभी मुशायरे ही में बहुत अच्छी इस्लाह सूझ जाती है। मेरे एक निहायत अच्छा कहने वाले दोस्त का मतला था—'तुझको शबे फ़िराक़ पुकारा कभी कभी, इसाँ हूँ, ढूँढता हूँ सहारा कभी-कभी।' मैंने पास बैठे हुए दोस्तों से कहा कि यूँ कहा होता तो यह अच्छा मतला और भी चमक जाता—'तुझको भी शामे हिज्र पुकारा कभी-कभी, इसान ढूँढता है सहारा कभी-कभी।' उस्तादों के शेर पर बच्चों से इस्लाह हो गई है। ख़्वाजा वज़ीर का मशहूर शेर है—'इसी बाइस तो क़त्ले आशिक़ाँ से मना करते थे, अकेले फिर रहे हो यूसुफ़े बेकारवाँ होकर।' एक लड़के ने इसी 'बाइस' को बदल कर यूँ पढ़ा—'इसी दिन को तो क़त्ले आशिक़ाँ से मना करते थे, अकेले फिर रहे हो यूसुफ़े बेकारवाँ होकर।' अमीर मीनाई ने कहा था—'अच्छे अच्छे ख़्वाब देखे सबने तावीरें कहाँ, वस्ल की बनती हैं इन बातों से तदबीरें कहाँ।' हसरत मोहानी ने दूसरे मिसरे को पहला मिसरा करके इलहामी मतला कर दिया,—'वस्ल की होती हैं इन बातों से तदबीरें कहीं, आरज़ूओं से फिरा करती हैं तक़दीरें कहीं।'

अब आइये कवि-सम्मेलनों की तरफ़। हमारा सूबा उत्तर प्रदेश इस मामले में बहुत ख़ुशनसीब है कि जहाँ उसने सूरदास, तुलसीदास, कबीर पैदा किये वहाँ उसने मीर, ग़ालिब, नज़ीर, अनीस, आतश, चकबस्त भी पैदा किये। उर्दू-हिन्दी हमारे कलेवर को और हमारी ज़िन्दगी को गंगा जमुना की तरह सींच रही हैं। कल्चर का यह दौर हमारी ज़िन्दगी को ज़रख़ेज़ बना रहा है। अब चूँकि हिन्दी शायरी खड़ी बोली या पश्चिमी हिन्दी में हो रही है, इससे उर्दू-हिन्दी शायरी का एक नया संगम बहुत जल्द बन जायगा। हमारी ज़िन्दगी बहुत बड़ी ज़िन्दगी है, अगर्चे इस वक़्त वह मुसीबतों में घिरी हुई है। इस विराट-जीवन में अनगिनत पहलू हैं जिनमें कई ऐसे हैं जिनकी झलकियाँ हिन्दी के शायर दिखायेंगे। हिन्दी कवि-सम्मेलनों में अभी आहिस्ता आहिस्ता ज़िन्दगी पैदा होगी। कवि-सम्मेलनों में फ़िज़ा अक्सर गम्भीर ज़रूर होती है, लेकिन इसका भारीपन दूर होना लाज़िमी है। हिन्दी शायरी आवाज़ों की एक नयी दुनिया बना रही है, शायरी के नये साँचे तैयार कर रही है, ज़िन्दगी के नये ख़्वाब देख रही है। ज़बानो बयान के बने बनाये साँचे नयी हिन्दी के शायरों के पास नहीं हैं। इन शायरों की नई पौद मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला की ज़ुबान में जिस इस्लाह की ज़रूरत थी, जिस तब्दीली की ज़रूरत थी, उस तरफ मायल हो रही है और हिन्दी शायरी की ज़मीन को निरा रही है। कुछ दिनों में इस ज़मीन में एक नया सोंधापन, सलोनापन, सुहावनापन पैदा हो जायगा। इधर पिछले आठ-नौ बरस के कवि-सम्मेलनों में इस तब्दीली के आसार साफ़ दिखाई देने लगे हैं। नयी हिन्दी शायरी का एक हिस्सा हमारे घरेलू जीवन, देहाती जीवन, बच्चों

और औरतों के जीवन और हमारे भोले-भाले लहजे, हमारी बोलचाल की सादगी और बेतकल्लुफ़ी, हमारी ज़िन्दगी के वे भाव और रस जो सदियों पुराने हैं या जो भी ख़ालिस हिन्दुस्तानी हैं, इन तमाम चीज़ों के लिये ज़बान ढूँढ रहा है और पा भी रहा है। नयी हिन्दी शायरी कभी-कभी जब कामयाब हो जाती है तो उर्दू शायरी से कुछ मुख़्तलिफ़ होते हुये भी मन को मोह लेती है और एक नयी आवाज़ की लहरें फ़िज़ा में पैदा कर देती है। आज उर्दू और हिन्दी दोनों हमारी ज़िन्दगी और कल्चर को मालामाल कर रही हैं। दोनों में फ़र्क़ सिर्फ़ इस्टाइल का है। चूँकि नयी हिन्दी शायरी आहिस्ता-आहिस्ता बन रही है, इसलिए कवि-सम्मेलनों में ज़िन्दगी भी आहिस्ता आहिस्ता आ रही है। नये हिन्दी शायरों को इसका एहसास हो चला है कि उर्दू के वे बहुत कुछ पास के हैं। वह दिन भी दूर नहीं कि उर्दू शायरी भी हिन्दी शायरी की तहरीक से मुतास्सिर होने लगे। मुझे तो कवि-सम्मेलनों में कभी-कभी जब अच्छी शायरी सुनने को मिल जाती है तो ऐसा मालूम होता है कि हमारी ज़िन्दगी एक नये पानी से सींची जा रही है। एक नयी उमंग, एक नया अन्दाज़े-एहसास, चेतना का नया रूप, नई रूपरेखा की तलाश कुछ नौजवान हिन्दी शायरों की कविता में मिलती है। शायद पन्द्रह-बीस बरस के अन्दर हिन्दी और उर्दू शायर एक ही सभा में अपनी-अपनी ख़ुशनवाई फ़रमायें। उस वक़्त हमारी अदबी ज़िन्दगी अशोक, विक्रमादित्य, अकबर के दरबारों और जन-साधारण की ज़िन्दगी में जो इन्क़लाब आ रहा है, सबकी शानदार झलकियाँ दिखायेगी।

—इलाहाबाद से प्रसारित

अंधड़

अज्ञेय

झरने दो
साँस साँस में भरने दो
धूल।
धूसरित करने दो
तन को, जो दूध की धुली तो नहीं।
सिहरने दो।
भरने दो।

तिरने दो
पौन के हिंडोलों में पत्तियों को गिरने दो
टूटने दो टहनियाँ, फूटने दो
शूल।
फिर वायु मंडल को घिरने दो
निथुरे समीर पर बिथुरे सुवास, अरे
फूल।
मधु है, सुमिरने दो।
तिरने दो।

रसने दो
आकाश का विदग्ध उर
उमसने दो, कसने दो
घुमडने उमडने दो
दुर्निवार मेघ को
रसधार बरसने दो।
स्नेह की बौछार तले धरती को
पागल सी हँसने दो
मेरा मुग्ध मानस विकसने दो
रसने दो।

आने दो
हहराती इस लहर को काट कर गिराने दो
कूल।
उसी के वक्ष पर फिर पछाड खाने दो
सुध बिसराने दो
गल कर वत्सल हो जाने दो।
आने दो।

—दिल्ली से प्रसारित
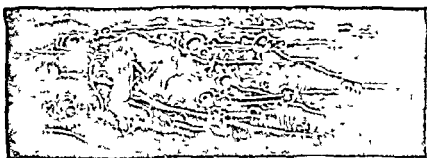
संस्कृत के महाकाव्य

समय यह ग्रन्थ अवश्य जनप्रिय रहा होगा। 'सौन्दरानन्द' में १८ सर्ग हैं।

अश्वघोष की शैली कालिदास की तरह वैदर्भी थी, जो सरसता, स्वाभाविकता, सरलता एवं प्रवाह के लिए प्रख्यात है। ग्रन्थ में बौद्धधर्म के दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन विस्तार से किया गया है। परन्तु इससे कवित्व की क्षति नहीं होने पाई। अपनी सरलता एवं सरसता के कारण अश्वघोष कालिदास के अत्यन्त निकट पहुंच जाते हैं।

भट्टि कवि कृत 'भट्टिकाव्य' अथवा 'रावण-वध' संस्कृत में अपने ढंग का एक अद्भुत काव्य है। इसकी गणना शास्त्रकाव्यों में की गई है। इसमें रामचरित एवं रावण के वध का कविता में वर्णन है, पर विशेष बात यह है कि उक्त वर्णन में व्याकरण सिखाने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। व्याकरण के सभी प्रकरण ग्रन्थ में आ जाते हैं और साहित्य के मिठास में पगने से व्याकरण की कटुता दूर हो जाती है। फिर भी व्याकरण का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, जिसके कारण रूक्षता एवं क्लिष्टता का आना स्वाभाविक है। इसमें २० सर्ग तथा लगभग २५०० श्लोक हैं।

'हरविजय' आकार एवं गुणों की दृष्टि से संस्कृत काव्यों में विशेष स्थान का अधिकारी है। इसके लेखक कश्मीर के रत्नाकर कवि हैं। ये ईस्वीय नवम शताब्दी के कश्मीरनरेश जयापीड के सभापण्डित थे। इस काव्य में ५० सर्ग हैं।

कश्मीर के क्षेमेन्द्र संस्कृत के एक ख्याति-प्राप्त लेखक थे। उन्होंने कई काव्यों की रचना की। उनमें 'रामायणमंजरी', 'भारतमंजरी' एवं 'बृहत्कथामंजरी' इनके बड़े काव्य हैं, तथा 'दशावतारचरित', 'बोधिसत्त्वावदानकल्पलता' 'कलाविलास' आदि आठ छोटे ग्रन्थ हैं। इनकी भाषा में मिठास, सरलता, प्रवाह एवं स्वाभाविकता है। इनकी नीति सम्बन्धी उक्तियाँ चुभने वाली हैं।

मंखक कवि ने 'श्रीकंठचरित' की रचना की थी, जिसमें २५ सर्ग हैं। ये भी कश्मीर के थे और अपने काल के प्रसिद्ध कवि थे।

ईस्वीय छठी शताब्दी के कुमारदास द्वारा रचित 'जानकीहरणम्' में २० सर्गों में सीता की कथा है।

इन महाकाव्यों के अतिरिक्त कतिपय महा-काव्य जैन कवियों के बनाए हुए हैं और कुछ ऐतिहासिक महाकाव्य हैं। पिछले महाकाव्यों में बिल्हण का 'विक्रमाङ्कदेवचरित' एवं कल्हण की 'राजतरंगिणी' प्रसिद्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग दो सहस्र वर्ष तक संस्कृत में महाकाव्यों की रचना होती रही। इस काल में संस्कृत के महाकवियों ने अपनी रचनाओं से देववाणी की शोभा को बढ़ाया और उसके भंडार को ऐसे अनुपम और अमूल्य रत्न दिए, जिनके कारण वह संसार की अधिक से अधिक समृद्ध भाषाओं में गिनी जाती है।

—लखनऊ से प्रसारित

❀ ❀ ❀

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

अर्थ—आओ, अपना निश्चय एक बनाओ। आओ, अपने हृदयों को एक करो। तुम्हारा मन (आपस में) एक हो, जिससे (तुम्हारा आपस का) पक्का मेल-जोल बना रहे।

—ऋग्वेद

रशीद अहमद सिद्दीक़ी

एक साहब पिटते भी जा रहे थे और हँसते भी जा रहे थे और जिस क़दर बेतहाशा पिटते थे उसी क़दर बेतहाशा हँसते थे। दर्याफ़्त हाल करने पर मालूम हुआ कि मालूम न था कि पीटनेवाला ग़लत आदमी को पीट रहा था। इसलिये उसकी हिमाक़त से लुत्फ़ अन्दोज़ हो रहे थे! तो हज़रत यह तो रहा पिटने का सलीक़ा।

अब रहा जीने का सलीक़ा। इसका लतीफ़ा भी सुन लीजिए। दो आदमी एक ही कोठरी में बन्द थे। रात बड़ी तारीक और भयानक थी और तूफ़ान शिद्दत पर था। तूफ़ान थमा तो दोनों कोठरी के दरवाज़े पर आए और सन्नाटों से झाँकने लगे। एक यह कहता हुआ वापस गया—'उफ़ किस बला की तारीकी है।' दूसरा वहीं खड़ा रहा और अपने साथी से बोला—'देखना एक तारा भी चमक रहा है।' लतीफ़ा तो ख़त्म हो गया, लेकिन कहने वाले कहते हैं कि बात ख़त्म नहीं हुई, बल्कि इसमें जीने का एक सलीक़ा छुपा हुआ है। अगर इस लतीफ़े को आप पा न सकें या उसके क़ायल न हों तो मारिये गोली इस सारे क़िस्से को।

किसी काम को ख़ूबी और ख़ूबसूरती से करना सलीक़ा है। यूँ भी कह लीजिये तो कोई मुज़ायक़ा नहीं कि किसी बात को इस तरह कहना या करना कि उसका हक़ अदा हो जाये सलीक़ा है। इस बिना पर मैं कुछ ऐसा समझता हूँ कि धर्म, इख़लाक़, आर्ट, उलूम सब

का बहुत कुछ मदार सलीक़े और शाइस्तगी पर है। आपकी इस दिल्ली के एक मशहूर ख़ान्दानी तबीब का लतीफ़ा मशहूर है जिन से एक साहब ने दर्याफ़्त किया कि हकीम साहब, आपके इलाज से भी लोग मरते हैं और अनाड़ी अनाड़ी के इलाज से भी मरते हैं, फिर आप दोनों में फ़र्क़ क्या रहा? हकीम साहब ने फ़रमाया— कोई फ़र्क़ नहीं। बात सिर्फ़ इतनी है कि वह मरीज़ बेक़ायदा जान लेता है, मैं क़ायदे से जान लेता हूँ। यह क़ायदा भी सलीक़े ही का दूसरा नाम है।

मैं समझता रहा और समझता हूँ कि मैं दुनिया में एक महदूद हल्के में, एक महदूद ज़माने तक, एक महदूद ख़िदमत के लिये पैदा किया गया हूँ। इसलिये अल्लाह ने मुझे इतनी ही अक़्ल, इतना ही हौसला और इसी क़िस्म की शक्ल सूरत दी है कि मैं अपना काम चलाता रहूँ और किसी ऐसे चक्कर में न पड़ूँ जो मेरे बूते का न हो। चुनाँचे अगर किसी की बीवी अपने शौहर के दोनों कान पकड़ कर सुबह शाम झँझोड़ देती हो तो मेरे कान पर जूँ न रेंगेगी, बशर्ते कि वह शौहर मैं ही न होऊँ।

ख़िदमत करने का मेरा तसव्वुर बहुत ही मामूली और मुख़्तसर है। वह इसलिये कि मेरी बिसात और इतनी ही बिसात है। चुनाँचे जितना बड़ा अपने नज़दीक हूँ उस से बड़ा बनने के लिये मारा-मारा फिरने, जेलख़ाने जाने, लोगों पर आफ़ियत हराम करने या शहादत पा

जाने के फेर में कभी नहीं पड़ा। मैं ख़िदमत करने को एक ऐसा कर्ज़ उतारने के मुतरादिफ (समान) समझता हूँ जो बग़ैर लिये भी लोगों पर आयद रहता है। चुनाचे मरने के बाद इस दुनिया में कोई मेमोरियल बनवाने या बहिश्त में क़सरेज़मुर्रदीं हासिल करने की तमन्ना मैंने कभी नहीं की। बहिश्त की तमन्ना मैंने अक्सर ऐसे ही लोगों को करते पाया जो दुनिया में दूसरों की ज़िन्दगी जहन्नुम बना चुके होते हैं।

मेरी राय है कि जब वाल्दैन बूढ़े और औलाद जवान हो जाए, तो वाल्दैन को मैदान छोड़ देना चाहिये। यह मैदान चाहे ख़ान्दान का हो, चाहे इल्मो अदब का, चाहे हिकमतो फन का, चाहे इख़लाक़ो मज़हब का। बूढ़ों का नई नस्ल से अपने मनवाने की हवस में मुब्तला रहना मेरे नज़दीक ठीक नहीं है। और बूढ़ों का यह ख़याल सही नहीं कि नौजवानों को उनके हाथ पर छोड़ दिया जाएगा तो दुनिया तबाह हो जाएगी। मेरी इस राय को तक़वियत पहुँचती है हिन्दुओं की इस क़दीम रिवायत से कि गृहस्थ आश्रम को ख़त्म करके दुनियाबी कारोबार से किनाराकश हो जाना चाहिये। अलबत्ता मेरे पास इस बात का कोई जवाब नहीं कि एक गृहस्थ आश्रम को ख़त्म करने की बजाय कोई शख्स दूसरा गृहस्थ आश्रम शुरू कर दे। बहर हाल यह शेर अपनी जगह पर मुसल्लम है :—

रहरव राहे मुहब्बत (या ज़ईफी) का ख़ुदा हाफ़िज़ है।
इसमें दो चार सख्त मुक़ाम आते हैं।

—दिल्ली से प्रसारित

सोच रहा कुछ, गा न रहा मैं

रामधारीसिंह 'दिनकर'

सोच रहा कुछ, गा न रहा मैं!
निज सागर को थाह रहा हूँ,
खोज गीत म राह रहा हूँ,
पर यह तो सब कुछ अपन हित, औरों को समझा न रहा मैं!!
ग्रन्थि हृदय की खोल रहा हूँ,
उन्मन सा कुछ बोल रहा हूँ,
मन का अलस खेल यह गुनगुन, सचमुच गीत बना न रहा मैं!!
चरण चरण साधन का श्रम है,
गीत पथिक की शान्ति परम है,
ये मेरे सबल जीवन के, जग का मन बहला न रहा मैं!!

—दिल्ली से प्रसारित

मेरा बाप

अमृतराय

प्रेमचन्द का संस्मरण मैं क्या दूँ ? मैं जान ही कितना पाया उस आदमी को ? मेरी उम्र मुश्किल से पन्द्रह की रही होगा जब वह आदमी हम से अलग हो गया। मैं तब इंटरमीजिएट के पहले साल में था। सन ३६ को अब सत्रह बरस होते हैं, बड़ी कच्ची उम्र थी। ईमानदारी की ही बात है कि मेरे पास वैसे कोई संस्मरण नहीं हैं जो शायद आप मुझसे सुनना चाहते हैं।

छोटे रूप में कहूँ तो यही कहना होगा कि मैंने एक पिता के रूप में ही देख पाया उन्हें। और जितनी कुछ समझ थी उतना एक व्यक्ति के रूप में भी देखने की कोशिश की, यानी अब करता हूँ, स्मृतियों के सहारे।

प्रेमचन्द बहुत सीधे-सादे, बेलौस, मुहब्बती आदमी थे। जो भी लोग उनके सम्पर्क में आये उनको प्रेमचन्द का यही रूप देखने को मिला होगा। घर में भी उनका यही रूप था। घर के बाहर और घर के भीतर, अपने बाहर और अपने भीतर कहीं भी उनमें कोई दुरंगापन नहीं था। सब जगह वह एक था, झील के नीले पानी की तरह साफ़, पारदर्शक। यही उस आदमी की सबसे बड़ी महानता थी कि वह किसी तरह से महान् नहीं था। न कपड़े-लत्ते में, न तौर तरीके में, न बोलचाल में, न रहन-सहन में। हर ओर से वह आदमी एक साधारण निम्न मध्य वर्ग का आदमी था—बाल-बच्चेदार, गृहस्थ, बाल-बच्चों में रमा हुआ। क्या तो उनका हुलिया था—घुटनों से ज़रा ही नीचे तक पहुँचने वाली मिल की धोती, उसके ऊपर गाढ़े का कुर्ता और पैर में बन्ददार जूता। यानी कुल मिला कर आप उसे देहक़ान ही कहते, गवँइया भुच्च जो अभी गाँव से चला आ रहा है, जिसे कपड़ा पहिनने की भी तमीज़ नहीं, जिसे यह भी नहीं मालूम कि धोती कुर्ते पर चप्पल पहनी जाती है या पम्प। आप शायद उन्हें प्रेमचन्द कहकर पहचानने से भी इन्कार कर देते। लेकिन तब भी वही प्रेमचन्द था, क्योंकि वही हिन्दुस्तान है। मुझे अच्छी तरह याद है कि बरसों उन्होंने सस्ते के ख़याल से किरमिच का जूता पहना और रँगरोगन की झंझट न रहे, रोज़-रोज़ उस पर सफ़ेदी पोतने की मुसीबत से नजात मिले, इसलिए वह किरमिच का जूता ब्राउन रंग का होता था जिसे आजकल तो शायद रिक्शेवाला भी नहीं पहनता और शौक़ से तो नहीं ही पहनता। और मुझे उनके दोनों पैरों की कन्नी उंगली की अच्छी तरह याद है जो जूते को चीर कर बाहर निकली रहती थी। सादगी इससे आगे नहीं जा सकती। अपने

ऊपर कम से कम खर्च, यह उनकी ज़िन्दगी का साधारण नियम था। घर के बाक़ी लोग भी कोई मख़मल नहीं पहनते थे, मगर उनसे सभी अच्छे थे। यों तो ख़ैर कभी इतने पैसे ही नहीं हुए कि कोई बड़ी ऐशो इशरत से रहता और मसल भी मशहूर है कि ख़ुदा गंजे को नाख़ून नहीं देता। लेकिन जहाँ तक मैं समझता हूँ उस आदमी को ऐशो-इशरत की भूख या हविस भी नहीं थी। उनकी ज़िन्दगी में ऐसे मौक़े आये जबकि ऐशो इशरत की राह उनके लिए खुली हुई थी। दो एक राजाओं ने भी उनको अपने यहाँ बुलाकर रखना चाहा और कुद्रदानी के ख़याल से ही ऐसा किया—मगर वह राह प्रेमचन्द की नहीं थी। उन्हें ऐशो इशरत पसन्द होती तो जहाँ अन्तःकरण को बेचकर बहुत से लोग बम्बई की फ़िल्मी दुनिया में पड़े रहते हैं, वहाँ प्रेमचन्द भी अपने अन्तःकरण का थोड़ा बहुत सौदा करके पड़े ही रह सकते थे और बीस बरस पहले एक हज़ार रुपया महीना तो पा ही रहे थे और भी ज़्यादा पाने के, बनाने के, सिलसिले निकाल सकते थे—लेकिन नहीं, ऐशो इशरत की सैकड़ों सुनहरा गली उनके लिए नहीं थी। उनके लिए खुली हवा का राजमार्ग ही बेहतर था, जहाँ वे एक बड़ के तले, कुएँ के पास आराम से अपनी ज़िंदगी गुज़ार सकते थे। वहाँ खुली हवा तो है, ताज़ा, ठंडा, मीठा पानी तो है, नीला आसमान तो दिखाई देता है, राह चलते किसी आदमी का बिरहा तो सुनाई दे जाता है, आदमी आदमी के दुख दर्द की तो एकाध बात कर लेता है। सोने की उस *मायानगरी* में तो यह सब कुछ भी नहीं, वहाँ तो इंसानियत भी नहीं, वहाँ तो आदमी आदमी को रौंदकर आगे बढ़ता है। वहाँ कहाँ ठंडा पानी और कहाँ ताज़ी हवा।

लिहाज़ा शुरू से ही उन्होंने उस मायानगरी की गलियाँ झाँकने का ख़याल ही छोड़ दिया और किसी क्षणिक आवेश में आकर नहीं, जीवन के एक स्वयन, गंभीर, सौम्य, दृढ़ निश्चय के रूप में। दुनियावी मुक़ाबले से कोई चाहे तो उन्हें बेवकूफ़ भी कह सकता है और वे शायद थे भी, वर्ना अगर उनमें भी दग़ा-फ़रेब की अक़्ल होती, बहुरूपिया बनने की कला होती, गिरगिट की तरह रंग बदलना आता, अभिनेता की तरह समाज के रंगमंच का उपयोग करने की कला आती, तो निश्चय ही उन्होंने भी अपने झंडे गाड़ दिये होते, दस, बीस, पचास लाख की जायदाद कर ली होती और अख़बार में उनकी भी छींक का ख़ुलासा निकला करता—लिहाज़ा इसमें क्या शक कि वे बेवकूफ़ तो थे ही, जो दुनिया में दुनियावालों की तरह बरतना उन्होंने नहीं सीखा, अपनी आदर्शवादी, सपनों की दुनिया में रहते रहे, ज़िन्दगी भर पैसे की तंगी के शिकार रहे और मरते वक्त अपना इलाज भी ढंग से नहीं करवा सके। मेरी आँखों के सामने बनारस में रामकटोरा बाग का वह घर घूम रहा है और उस घर की वह कोनेवाली कोठरी और उस कोठरी में वही चारपाई और उस पर पीली कुम्हलाई हुई पिंजराशेष आकृति, वे हड्डी हड्डी बाहें, पेशानी की वे मोटी-मोटी झुर्रियाँ और वे पैनी, चमकती हुई, गहरी-गहरी आँखें जिनकी चमक आख़िरी वक्त तक बुझी नहीं, मगर जितना ही वह तसवीर मेरी आँखों के सामने नुमायाँ होती है उतना ही दर्द होता है और उतना ही गुस्सा मेरे अंदर जागता है कि उस दुनिया को नेस्तोनाबूद कर देना चाहिये जिसमें इंसान की इंसानियत की क़द्र नहीं, जिसमें सिर्फ़ चोर और गिरहकट और भड़ुए और दपोर शख पनपते हैं। यह बात हज़ार मुँहों से भी कही जाय तो थोड़ी है कि प्रेमचन्द से बेहतर इन्सान मुश्किल से ही मिलेंगे। घर में, उनसे अधिक प्रेमी पति और वत्सल पिता भी कम ही मिलेंगे। शुरू से ही उन्होंने हम लोगों के साथ दोस्त का सा बर्ताव किया। मैं अपनी बात कहता हूँ वे मेरे सबसे प्यारे दोस्त थे। मुझे याद ही नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी किसी बात पर एक भी कड़ा शब्द मुझे कहा हो, मारने का तो ख़ैर ज़िक्र ही बेकार है। यहाँ तक कि

पढ़ने के लिए भी उन्होंने कभी एक बार भी नहीं कहा। हाँ, अगर इस सिलसिले की कोई बात मुझे याद है तो यही कि एक बार जब मैं छुट्टी का दिन भर गुल्ली-गपाड़ी में गँवाकर शाम को कमरे में बैठा भूगोल का होमवर्क कर रहा था, जो कि अगले रोज़ मास्टर साहब को दिखलाना था, तो उन्होंने डाँट कर मुझे कमरे से बाहर किया था और कहा था जाओ खेलना, शाम को कभी घर में मत रहा करो। यह सही बात है कि हम उनको अपनी बराबरी का और अपना सबसे बड़ा दोस्त समझते थे, सबसे प्यारा दोस्त। मुझको अच्छी तरह याद है कि हम लोग पिता के संग खाना खाने के लिये तरसते थे और किसी भी दिन उनके बग़ैर नहीं खाते थे। सुबह को तो ख़ैर खाना खाकर स्कूल भागना रहता था, मगर रात के खाने के लिए तो हम लोग दस दस बजे रात तक उनका इंतज़ार करते थे। नींद में आँखें झँपी आती थीं, कभी कभी तो सो भी जाते थे, मगर तब भी उनके संग खाना खाने का लोभ संवरण न कर पाते थे। यह बात देखने में छोटी मालूम पड़ती है मगर इतनी छोटी नहीं है। बाप बेटे में इतनी सहज गहरी मैत्री, बराबर के दोस्त की जैसी, कम ही देखने में आती है। हर छोटी बड़ी बात में यही मैत्री दिखाई देती थी। मुझे याद आता है, सन् ३५ के दिनों की बात है। मैंने तब साल डेढ़ साल पहले से लिखना शुरू ही किया था। मैं तब इलाहाबाद में रहता था, हाइस्कूल में पढ़ता था और प्रेमचन्द बम्बई से लौटकर बनारस आ गये थे। मैंने अपनी एक कहानी पिताजी के पास उनकी राय और इस्लाह के लिये भेजी। वह कहानी कुछ ऐसी थी जिसमें करुणरस की स्रोतस्विनी बहाने के उद्देश्य से मैंने अपने सभी प्रधान पात्रों को मौत के घाट उतार दिया था। मृत्यु से अधिक करुण तो कोई चीज होती नहीं, अगर करुणरस का पूर्ण परिपाक करना है तो कहानी में दो चार मृत्युएं तो होनी ही चाहियें। लिहाज़ा नायक नायिका सब मर गये। पिताजी ने कहानी पढ़कर बड़े दोस्ताना अंदाज़ में मुझे लिखा कि कहानी तो अच्छी है, बस एक बात है कि इतनी मौतें न हों तो अच्छा, क्योंकि ऐसी कहानियाँ कमज़ोर मानी जाती हैं जिनमें ज़्यादा मौतें होती हैं। बाक़ी सब बहुत ठीक है। बाक़ी उसमें था ही क्या, निरी बचकानी कोशिश थी। लेकिन मैंने बहुत 'सुपीरियर' अंदाज़ में उनको जवाब लिखा कि हाँ, जो बात तुम लिखते हो—हम लोग पिताजी को 'तुम' कहते थे, 'आप' नहीं, आप में पता नहीं कितनी दूरी का आभास था—हाँ तो, जो बात तुम लिखते हो, वह आम तौर पर सही हो सकती है, लेकिन जहाँ तक इस ख़ास कहानी का ताल्लुक़ है इसमें तो इन मृत्युओं का होना अनिवार्य है, क्योंकि कहानी का यही तर्क है। इसी क़िस्म की कोई बात मैंने लिख दी जिसके बाद वे चुप हो रहे। बेचारे और करते भी क्या?

इस घटना का उल्लेख मैंने यह बतलाने के लिए नहीं किया कि मैं कितना गधा था या हूँ, बल्कि इसलिए कि आपको मालूम हो कि छोटे से छोटे लेखक से भी वे बराबरी की सतह पर उतर कर बात करते थे। हिमालय की ऊँचाई से बात करने की महान् अभिजात कला उनके लिए बंद अध्याय ही रही। ऊँचाई से बात करना उन्हें आता ही नहीं था। वे तो आपके होकर घुल मिल कर ही आपसे बात कर सकते थे। इसीलिए छोटे से छोटे आदमी को भी उनसे बराबरी से बात करने की जुरअत हो जाती थी और जब यह स्थिति होती है तभी आदमी सीखता भी है। भले आज उन्हीं की परिपाटी हो, *मगर आशीर्वादों और प्रवचनों से कभी किसी* नये लेखक को कुछ नहीं मिला। प्रेमचन्द एक गहरे दोस्त की तरह, साथी की तरह नये लेखक के हाथ में हाथ देकर उसे अच्छा लिखना, आगे बढ़ना सिखलाते थे और मुक्त हृदय से नये लेखक की प्रशंसा करते थे जिससे उसका उत्साह बढ़ता था। मेरे जीवन का तो यह कठोरतम दुर्भाग्य है कि जब मैं उनसे कुछ

सीखने के क़ाबिल हुआ तभी वे मुझ से अलग हो गये। लेकिन आज हिन्दी में जैनेन्द्र, अज्ञेय, राधाकृष्ण, जनार्दनराय नागर, जनार्दन झा, द्विज, गंगाप्रसाद मिश्र, वीरेश्वरसिंह, उपेन्द्रनाथ अश्क, वीरेन्द्रकुमार जैन, पहाड़ी जैसे अनगिनत लेखक है जिनको प्रेमचन्द ने अपने हाथ से संवारा है, जिनकी नई प्रतिभा को उन्होंने पहचाना और उजागर किया और प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया। अभी उस रोज महादेवी जी बतला रही थीं कि अपनी पहली या दूसरी कविता पर उनको भी प्रेमचन्द का एक बहुत प्यारा सा कार्ड मिला था। वैसे ही सुभद्राकुमारी चौहान को 'बिखरे मोती' की कहानियों पर और पता नहीं, किन किनको। आज की तो यह सारी पीढ़ी ही उनके हाथ की गढ़ी हुई है। पता नहीं उस आदमी के पास स्फूर्ति का ऐसा कौनसा अक्षय स्रोत था, जो वह सबको हिन्दुस्तान के कोने कोने में, उसका दान कर सकता था और एक नया लेखक जिसने शायद दो ही चार कहानियाँ लिखी होंगी, प्रेमचन्द का ख़त जेब में डाले उसकी शराब में झूमता रहता था और साहित्य सृष्टि के लिए अपने में अजस्र शक्ति का उद्रेक होता अनुभव करता था। इस तरह पता नहीं कितनी प्रतिभाओं को मुकुलित होने का मौक़ा मिला, जो यों शायद मर जातीं। और इस सारी चीज़ की जड़ में है उनकी वह सरल निश्छल इंसानियत जो घर और बाहर सब जगह यकसा सोना बिखेरती रहती थी।

—नागपुर से प्रसारित

बुद्ध-वाणी

अनुपवादो अनुपघातो पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मि पतञ्च सयनासनं॥
अधिचित्ते च आयोगो एतं बुद्धानसासनं॥

अर्थात् निन्दा न करना, हिंसा न करना, आचार नियमों द्वारा अपने को संयत रखना, मित भोजन करना, एकान्त में वास करना और चित्त को सांसारिक विषय वासनाओं से अलिप्त रखना यही बुद्ध का अनुशासन है।

❀ ❀ ❀

एक दिन का सदाचार और ज्ञान पूर्वक जीना सौ वर्ष के शील रहित और असमाहित जीवन से अच्छा है।

❀ ❀ ❀

राग के समान कोई आग नहीं, द्वेष के समान कोई अमंगल नहीं, मोह के समान कोई जाल नहीं और तृष्णा के समान कोई नदी नहीं।

❀ ❀ ❀

दो ही चीज़ें मैं सिखाता हूँ "दुःख और दुःख से मुक्ति"

—इलाहाबाद से प्रसारित

दिल और पेट

जगदम्बाप्रसाद दीक्षित

तुम्हें प्यार और मुहब्बत की कहानियाँ पसन्द आती हैं। तुम कहते हो कि मैं ऐसी कहानियाँ नहीं लिखता जिनमें जवानी का स्पन्दन हो, जीवन की रंगीनियाँ अँगड़ाई लेती हों, जिनमें कोई किसी का हो जाता हो। इसलिये आज मैं जो कहानी तुम्हें सुना रहा हूँ उसका आरम्भ दिल से हो रहा है, जवानी से हो रहा है। लेकिन इस कहानी की ट्रेजडी यही है कि यह दिल से शुरू होकर पेट में खत्म हो जाती है। मैं नहीं जानता कि यह तुम्हें कितना गुदगुदा सकेगी। मुझे यह भी नहीं मालूम कि इसमें जीवन की रंगीनियाँ अँगड़ाई लेती हैं या नहीं। लेकिन इतना कह सकता हूँ कि इसमें जवानी का स्पन्दन जरूर है। शायद तुम सुन सको।

गनपत को तुम नहीं जानते, उसे मैं ही जानता हूँ। यह नहीं कि तुमने उसे देखा नहीं। बहुत बार तुमने उसे देखा है, पर तुम्हारे लिये उसमें कोई दिलचस्पी नहीं। ठीक भी है, क्योंकि न उसमें जीवन की रंगीनियाँ ही अँगड़ाई लेती हैं और न उसमें जवानी का स्पन्दन ही दिखाई देता है। वह भी तुम्हारी तरह अपना बीसवाँ पार कर रहा है, पर उसके पास न तुम जैसा लम्बा कद है, न ही खुलता हुआ रंग। तुम्हारे पास सुन्दर छरहरा शरीर है, पर उसका शरीर पतला और काला है। तुम्हारी हड्डियों पर गोश्त की मोटी परतें उभरती हैं, पर उसकी हड्डियों पर फूली हुई नीली काली नसें। वह रिक्शा चलाता है और तुम उस पर बैठते हो। तुम्हारी जवानी जब रिक्शे पर बैठकर अपने कालेज की रंगीनियों की मधुर कल्पनाओं में खो जाती है, तब उसकी जवानी उसकी पतली टाँगों में बस कर पैडिल पर जोर जोर से उछलती है, ताकि तुम ठीक वक्त पर कालेज पहुँच सको। तब उसकी सूखी पिंडलियों पर उभरती हुई नसों को देखते हुए भी तुम्हारी नजरें नहीं देख पातीं।

और ! जब तुम्हारी रगों में जवानी का खून दौड़ा तो उसकी नसों में भी कुछ गरमाहट हुई। जब तुम किन्हीं रंगीन ख्यालों में खोये तो वह भी कहीं दूर उड़ गया। फर्क इतना ही था कि तुम्हारे पास केवल दिल ही दिल था, पर उसके पास पेट भी था। तुम्हारे पास भरा-पूरा घर, महकता हुआ बाग और चमकता हुआ कालेज था पर उसके पास उसके साथ हँसने-रोनेवाला, उसके दुख-दर्द और आँसुओं में सहानुभूति की दुम हिलानेवाला था केवल एक कुत्ता। फर्क इतना ही था कि रात के बारह बजे जब तुम अपने नरम गुदगुदे बिस्तर पर दिन की मधुर कल्पनाओं को स्वप्नों में साकार करते, तब वह सेकेंड शो की अलसायी सवारियों को अपनी सूखी पिंडलियों पर उठाये उनके डेरों पर पहुँचाता। जीवन के सूनेपन और एकान्त की जलन से ऊबकर जब तुम लीना, डोरा या फ्लोरा से मिलने चल पड़ते हो, तब वह शहर की सबसे घिनौनी और घनी बस्ती के बीच अपनी अँधेरी कोठरी में अपने उसी साथी कुत्ते को पुचकारता है। तुम्हारा सूनापन डोरा और फ्लोरा के बीच खो जाता है, पर गनपत को जैसे वह खा जाना चाहता है। उसके पास कोई नहीं है जो उसकी एकान्तता को बटा सके। और जब कभी उसके दिल में कहीं इस

एकान्तता की पीड़ा का आवेग ज़ोर से हिलोरें मारता है, तब वह अपने मोती को खींच लेता है, उसे चूमता है, पुचकारता है, उसके मैले शरीर को प्रेम से थपथपाता है और कभी कभी उसकी पीठ पर सिर रखकर रोने लगता है। तुम हँसोगे कि वह कुत्ते को प्यार करता है। ठीक भी है, यह तो निरा पागलपन है। पर उसने भी महसूस कर लिया है कि मोती उसके सूनेपन को दूर नहीं कर सकता। वह नहीं समझ पाता कि ऐसा क्यों हो रहा है। फिर भी वह मोती को बहुत प्यार करता है, क्योंकि वही इस इतनी बड़ी दुनियाँ में उसका साथी है। वह जब तक उसे नहीं खिला देता, खुद नहीं खाता। और मोती भी बड़ी रात बीते तक उसके लौटने की प्रतीक्षा में जागता रहता है। दिन भर की ठोकरों और उपेक्षाओं के मारे ये दोनों प्राणी जब तक रात में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति और स्नेह का मूक आदान प्रदान नहीं कर लेते, उन्हें नींद नहीं आती।

एक दिन रात को जब तुम लीना के साथ सेकेंड शो देखकर लौटे तो गनपत ने तुम्हें अपने रिक्शे पर बिठा लिया। उसने नज़रें चुरा कर लीना को भी देखा और वह उसे बड़ी अच्छी लगी।

जब गनपत बार-बार रिक्शे के पैडिलों पर उछल रहा था, तब तुम लीना के साथ ऐसी हरकतें कर रहे थे जिन्हें तुम्हारी भाषा में 'रोमान्टिक' कहा जाता है। गनपत ने सब कुछ समझा। लीना कह रही थी, 'हटिए भी!'

गनपत की फूली नसों में ख़ून की रफ्तार तेज़ हो गई। हैन्डिल पर जमी काली पतली कलाइयों में कम्पन होने लगा। उसने महसूस किया कि तुम्हारा हाथ लीना की कमर पर है और लीना का सिर तुम्हारे सीने पर। उसकी साँस ज़ोरों से चलने लगी।

तुमने लीना से एक नशीली उन्मुक्त आवाज़ में कहा, 'हटकर कहाँ जाओगी?' रिक्शे में हलकी सी हलचल हुई और गनपत को लगा कि जैसे कोई घूम रहा हो और कोई चूमा जा रहा हो। उसके हाथ काँपने लगे और शरीर के हज़ारों छेदों से जैसे एक साथ पसीना बहने लगा।

इस कम्पन और पसीने के बीच गनपत मोड़ की उस ओर से आती हुई मोटर का न हॉर्न सुन सका और न ही उसका प्रकाश देख सका। मोटर की तेज़ रोशनी से चौंधियाने के बाद जब उसकी आँखें खुलीं तो मोटर रिक्शे को ठोकर मार चुकी थी।

लीना को चोट आई, तुम्हें भी कुछ आई। लीना को चोट लगने से तुमने कुछ गनपत को पीटा। तुम्हें अब याद नहीं कि तुमने गनपत को कितना पीटा था। गनपत भी नहीं बता सकता, क्योंकि तुम्हारे ठीक बाद ही उस मोटरवाले ने भी गनपत को मारा। मोटरवाले को भी याद नहीं कि उसने गनपत को कितना मारा। ठीक भी था। गलती गनपत की थी। उसके दिल को इतना बदना नहीं चाहिए था। उसकी जवानी को इस तरह उभरने की हिम्मत नहीं होनी चाहिए थी।

उस रात को कोई डेढ़ दो बजे अपने चकनाचूर रिक्शे को रख कर जब गनपत अपनी अँधेरी कोठरी में पहुँचा तो उस समय दो मज़बूत जवानों की मार से उसका शरीर बहुत कुछ बदल गया था। उसकी कमीज़ पर ख़ून था, बालों पर ख़ून था, और गालों पर भी ख़ून बह रहा था। लेकिन जाने दो, उसकी इस हालत का चित्र खींचूगा तो तुम कहोगे कि फिर वही रोना।

दरवाज़े पर उसका कुत्ता अपने मालिक की बिगड़ी हुई हालत देखकर शायद आश्चर्य से दुम हिला रहा था। उस रात गनपत अपने मोती को भींच बड़ी देर तक सिसकता रहा। मैं नहीं कह सकता कि वह चोटों के दर्द से रो रहा था या उसे और कोई पीड़ा थी।

अगले दो दिनों तक गनपत अपनी कोठरी से बाहर नहीं निकला। उस रात को जब वह सोया तो उसका अंग-अंग जैसे टूट रहा था। अगले दिन बहुत दिन चढ़े लीना के साथ

बितायी रात की उनींदी अलसायी याद लिये जब तुम्हारी आँखें खुलीं तो तुम्हारे शरीर में हलका मीठा दर्द था। किन्तु जब गनपत की आँखें खुलीं तो उसे बहुत तेज बुखार था। उसकी आँखें जल रही थीं और सारा बदन तप रहा था।

इस तरह सारा दिन बीत गया। मोती कई बार बाहर जाकर लौट आया और आज उसे आश्चर्य हो रहा था कि उसका मालिक अब तक कैसे सोया है। शाम को गनपत की तबियत जब कुछ हल्की हुई तो न जाने क्यों उसकी आँखें फिर भर आयीं। वह बड़ा देर तक अपने जलते हुए हाथों से मोती का थपथपाता और पुचकारता रहा। फिर चादर याद कर करवट बदल कर सो गया। दूसरे दिन बुखार और तेज़ रहा, किन्तु शाम को फिर जरा उतर गया। तुम उस वक्त डोरा के साथ शहर के सब से शानदार होटल में डिनर के बाद लौट रहे थे, जब दो दिनों के भूखे गनपत के लिये और अधिक भूखा रहना कठिन हो गया था। उस वक्त रात काफ़ी हो चुकी थी और बाहर दिसम्बर महीने की सर्द हवाएँ चल रही थीं।

जब पेट में कुलबुलाती हुई अन्तड़ियों ने लेटे रहना मुश्किल कर दिया तो वह अपने काँपते क़दमों पर किसी तरह खड़ा हुआ। मैली चादर ओढ़कर जब वह बुखार की कमजोरी से लड़खड़ाता हुआ कोठरी के दरवाजे को पार कर रहा था, तो उसका मोती भी उसके साथ था। उसके दुख-दर्द का साथी मोती उसकी भूख का भी साथी था और उसे भी पिछले दो दिनों से शायद कुछ नहीं मिला था।

ठंडी हवा में बाहर निकलना लोगों को पसन्द नहीं, शायद इसीलिये सड़क पर कुछ रिक्शेवालों को छोड़ कर और कोई नहीं था। चौराहे के उस पारवाला होटल अब बन्द होने जा रहा था। वहीं का बैरा गनपत को जानता है। गनपत ने जब उससे अपनी भूख का हाल कहा तो वह दो रोटियाँ और थोड़ी तरकारी लाने के लिये तैयार हो गया, क्योंकि इतनी रात गये अब होटल में कुछ भी बाक़ी नहीं बचा था।

दो दिन के भूखे गनपत के लिये रोटियाँ क्या चीज़ थीं मैं नहीं कह सकता। इतना जरूर कह सकता हूँ कि रोटियों को तुमने कभी उस नज़र से नहीं देखा, जिस नजर से उस दिन गनपत देख रहा था। ईश्वर न करे तुम पर कभी ऐसा मौक़ा आए।

जब तक बैरा नहीं लौटा, गनपत का आँखें होटल के उस पिछले दरवाज़े पर सफेद सुन्दर रोटियाँ लिये बैरे की तसवीर बनाती रहीं। जब बैरा लौटा तो सचमुच उसके हाथों पर दो सफेद सुन्दर रोटियाँ रखी हुई थीं और उन पर खुशबूदार गोश्त का कुछ बोटियाँ थीं। गनपत ने जब उन्हें लिया तो उसके कमज़ोर हाथ काँप रहे थे लेकिन, ठीक नहीं कह सकता कि पहाड़ पर से बहकर आयी हुई सर्दी के कारण या भूख की वजह से। गनपत की पतली कलाइयाँ एक बार ज़ोर से काँप उठीं और रोटियाँ गोश्त की बोटियों सहित ज़मीन पर आ गिरीं।

जब वे सफेद रोटियाँ धरती पर गिरीं, तब सितारे मुस्करा रहे थे, चाँद हँस रहा था, सर्द हवाएं पैनी हो गयी थीं, सड़क सुनसान थी, होटल बन्द हो चुका था और तुम डोरा के साथ शाम के डिनर की तारीफ कर रहे थे। ख़ैर! अगर रोटियाँ ज़मीन पर गिर कर ही रह जातीं तो शायद यह कहानी मैं तुम्हें न सुनाता। लेकिन इसके बाद तो कुत्ते ने आगे बढ़ कर मालिक को ढकेल दिया, पशु ने आगे बढ़कर मनुष्य को पीछे ढकेल दिया, पेट ने आगे बढ़कर दिल को पीछे ढकेल दिया।

जब रोटियाँ ज़मीन पर गिरीं तो कहीं ठंड से दुबके हुये मोती को भूख की गरमी ने झट-कने पर मजबूर कर दिया। प्रेम और स्नेह के खेल ख़त्म हो गये। और जब तक गनपत आगे बढ़कर उसे रोकता, एक रोटी मोती के पेट में जा चुकी थी और दूसरी का आधा हिस्सा भी ख़त्म हो चुका था।

पल भर में सब कुछ बदल गया। गनपत की अन्तड़ियों की आग को तेज कर वे रोटियाँ मोती के पेट में चली गयी थीं। लेकिन दूसरे ही क्षण अन्तड़ियों की आग जैसे गनपत की रग रग में फैल गई और आखों से निकलने लगी। तुम उस स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकते। जब गनपत ने पास ही पड़ा हुआ पत्थर मोती के सिर पर दे मारा, तो कुत्ते की दर्दनाक चाखें उस सर्द रात में गूँज उठीं।

मोती बड़ी देर तक रोता रहा और गनपत उसे देखता रहा, जैसे वह खुद भी नहीं समझ पा रहा था कि क्या हो गया। इसके बाद धीरे-धीरे मोती की आवाज़ धीमी होती गयी और एक बार ज़ोर से चीख़ कर वह सदा के लिये चल बसा। गनपत का बरस बरस का साथी चला गया। इतनी बड़ी दुनिया में केवल एक ही साथी था, वह भी चला गया।

गनपत बड़ी देर तक खड़ा रहा। और जब वह अपने इस सुख-दुःख के साथी की लाश पर झुका तो उसकी आँखों से पानी बह रहा था। उस वक्त बरफ़ीली हवाओं के झोंक तेज़ हो गये थे, सड़क बिल्कुल सूनी थी और तुम डोरा के साथ गर्म लिहाफ में लिपटे हुए थे।

—नागपुर से प्रसारित

आदि ही अवसान भी है

बालकृष्ण राव

आदि ही अवसान भी है।
अरुण में अंकुर दिवस के
पर निशा-निर्वाण भी है !!!

वह जगे क्यों, नींद ही
जिसकी सजग, सुन्दर सजीली ?
स्वप्न में स्मृति की प्रतिध्वनि
कल्पना का गान भी है !!!

लक्ष्य से है कौन परिचित ?
मार्ग की ही खोज जीवन,
विफलता ही शक्ति श्रम की
शाप ही वरदान भी है !!!

नियति के आदेश को लग
मान कर ही जान पाया,
विफलता के क्षीण मुख पर
शान्ति की मुसकान भी है !!!

—दिल्ली से प्रसारित

हिन्दी का सिद्धपीठ : काशी

कृष्णदेवप्रसाद गौड

धर्म की दृष्टि से काशी का माहात्म्य बहुत अधिक है। किन्तु हिन्दी साहित्य के निर्माण की दृष्टि से भी काशी की महत्ता अपरिमित है। जिसने यहा साहित्य की साधना की, महादेव की कृपा से महान् हो गया। जननी जाह्नवी के जल से जिस साहित्य स्रष्टा ने अपनी जिह्वा धोयी उसकी जीभ पर सरस्वती बैठ गईं। कविता, कहानी, रहस्यवाद, छायावाद, आलोचना, गगा की बालुका के कण हैं।

पहली ललकार हम कबीर की सुनते हैं। दिन भर ताना बाना बुनते हैं, सध्या को गीतों में ढोंगियों को फटकारते हैं। पढ़े लिखे कुछ भी नहीं, किन्तु इस नगरी की मिट्टी का प्रभाव था कि उन्होंने नई धारा बहा दी। रैदास भी बैठे-बैठे जूते सिया करते थे और भगवान् के प्रेम मे भजन बनाते रहते थे। अपनी साधना मे वे यहाँ तक पक्के थे कि कह दिया, 'मन चगा तो कठौती मे गगा'। राजपुर और सोरो, अयोध्या और चित्रकूट घूमते घूमते गोस्वामी तुलसीदास ने काशी को ही अपना साधनास्थल बनाया। गोपाल मदिर मे आज भी वह कमरा मौजूद है जिसमे बैठ कर उन्होने विनयपत्रिका लिखी और अस्सीघाट पर बैठ कर रामचरित मानस। तुलसीदास ने काशी मे बैठ कर अपनी अमर लेखनी से रामचरितमानस का सर्जन कर काशी को हिन्दी साहित्य के लिये सिद्ध पीठ बना दिया। जिसने यहाँ साहित्य-साधना की, कुछ न कुछ दे गया।

तुलसी के बाद भी काशी की गिरा मौन नहीं हुई। निरन्तर साहित्य की माला मे मणि जोडती रही। कितने ही साहित्यकार सरस्वती की आराधना करते रहे और तब भारतेन्दु ने यहाँ के मच पर प्रवेश किया। भारतेन्दु के पहले एक कवि के सम्बन्ध में कुछ जान लीजिये। आज कल लोग उन्हें भूल गये हैं। ये थे बाबा दीन-दयाल गिरि। ये फक्कड साधु थे। किसी को कुछ समझते न थे। कभी किसी मठ में, कभी किसी मन्दिर मे पडे रहते थे। कोई रईस उधर आया, बोल दिया—रख दे दुशाला। उसने रख दिया। दो चार दिन ओढ़ा, कोई दीन आया उसे

दे दिया। एक बार ये काशी के एक प्रसिद्ध धनी के यहाँ पहुचे। उसने धीरे से अपने मुनीम से कहा—एक सूका लाकर दे दो। सूका चवन्नी को कहते हैं। दीनदयाल गिरि ने कहा—हम सूका न लेंगे। सेठजी ने कहा—आप को कैसे मालूम कि सूका दिया जा रहा है। उन्होंने उत्तर दिया—वह मने उसी समय जाना जब तुम्हारा मुँह सुअरसा बना। दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ हिन्दी साहित्य की अनुपम देन हैं।

भारतेन्दु ने नवयुग मे नया संदेश दिया। धनी परिवार मे जनमे थे, किन्तु धन एकत्र करने के लिये नहीं, वितरित करने के लिये। दो एक सज्जन अब भी काशी में जीवित हैं, जिन्होंने लड़कपन मे उन्हे देखा था। रत्नाकर जी तथा हरिऔधजी उनकी बहुत चर्चा किया करते थे। भारतेन्दु स्वय कविता करते थे और उनके यहाँ पडितों तथा कवियो का जमघट लगा रहता था। हरिऔधजी ने एक घटना बताई। एक बार राजा शहजादा बाबा सुमेरसिंह के यहाँ हरिऔधजी बैठे थे। भारतेन्दुजी वहाँ आये। एक कवि महोदय कविता सुना रहे थे। बाबा जी ने प्रसन्न होकर एक दुशाला कविजी को अर्पित किया। भारतेन्दु जी के पास जेब मे उस समय कुछ न था। उन्होने अपने हाथ से अगूठी उतार कर दे दी। रत्नाकर जी कहते थे कि एक बार भारतेन्दु जी ने गगा जी पर बजडे पर तीन दिन तक अखण्ड कवि-सम्मेलन किया था। वहीं भोजन-पानी की व्यवस्था थी। उनका सारा समय साहित्य की रसमयी चर्चा मे ही बीतता था। हिन्दी नाटक क वे सूत्रधार थे। स्वय अभिनय भी करते थे। कवि लोग एकत्र होते थे, समस्याएँ दी जाती थी और वे उनकी पूर्ति करते थे। भारतेन्दु के इस समाज मे प्राय सभी रसिकजन एकत्र होते थे। उन्होंने ऐसा जीवन इसे प्रदान किया था कि उनके बाद बहुत दिनो तक यह प्रथा चलती रही। और प० अम्बिकादत्त व्यास, सेवक आदि कवि इस परिपाटी का निर्वाह करते रहे। काशी के महाराज ईश्वरीनारायणसिंह कवियों के प्रेमी थे। उनके दरबार मे अनेक कवि आश्रित थे। उनमें मुख्य सरदार कवि थे जिनकी रचनाएँ आज भी लोग चाव से पढते हैं।

बहुत से साहित्यकार जनमे दूसरे स्थान पर, किन्तु काशी के जलवायु को साहित्य शक्ति का प्रदाता समझ कर यहीं बसे और यहीं उनका साहित्यिक कार्य-क्षेत्र रहा। इन्हीं मे हरिऔधजी थे। इनका जन्म निजामाबाद, आजमगढ में हुआ, किन्तु लगभग २५ साल काशी में रहकर इन्होंने साहित्य-सेवा की। भारतेन्दु की सगति का सौभाग्य भी इन्हें हुआ था। इनका नियम था नित्य सवेरे डैस्क पर बैठ जाना। एक चौकी थी, उस पर छोटी सी डैस्क रखते थे। उसी पर लिखते थे। इनका नियम था कि नित्य कुछ न कुछ लिखेंगे, और न कुछ तो दस दोहे ही सही। इस नियम का निर्वाह मृत्यु से कुछ पहले तक इन्होंने किया। इसी से बहुत लिखा। प्रियप्रवास के रूप मे खड़ी बोली के प्रबन्ध-काव्य के वे अग्रदूत थे।

इसी समय इस नगरी में एक और नक्षत्र उदय हुआ जिसने सरल भाषा में मनोरंजन कथा साहित्य की किरण फैलाई। ये थे देवकीनन्दन खत्री। चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता सन्तति, भूतनाथ जिन्होने पढ़ा है वे ही उसकी महिमा जानते होंगे। चन्द्रकान्ता का आकर्षण इतना था कि कितने लोगों ने इसी के पढने के लिये हिन्दी सीखी। कथा के आकर्षण के लिये इससे बढकर दूसरी पुस्तक न मिलेगी। अश्लीलता का नाम नहीं। तिलिस्म और ऐयारी ही मुख्य कथा वस्तु है। यह भी नहीं कि पहले से कोई योजना बनी हो। पृष्ठ पर पृष्ठ लिखते जा रहे हैं और प्रेस में भेजते जा रहे हैं। देवकीनन्दन जी बाग में बैठे हैं, प्रेस से आदमी आता है कि फर्मे मे दो पेज की कमी है। आपने लेखनी उठाई और लिख दिया। हिन्दी ससार काशी की इस देन का भी ऋणी है।

हिन्दी के पढने पढाने का भी काशा ने नेतृत्व किया है। विश्वविद्यालय में प्रातःस्मरणीय मालवीयजी के प्रयत्न से हिन्दी पढ़ने

यहीं हुई। इन दिनों भगवानदीन यहाँ अध्यापक थे। फिर हिन्दी-शब्दसागर का सम्पादन करने लगे। फिर विश्वविद्यालय में ७१ रुपये मासिक पर प्रोफेसर हुये। उन्हें हिन्दी के प्रचार की बड़ी धुन थी। नित्य साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ पढ़ाते रहे। उत्तरप्रदेश के अनेक विद्यालयों में उनके विद्यार्थी प्रोफेसर हैं। उनके ऐसा हिन्दी क्लासिक्स का पढ़ाने वाला सम्भवत: नहीं हुआ। घर पर गुड़ गुड़ी पिया करते थे और बैठे-बैठे दुरूह पुस्तकों की टीका लिखा करते थे। कवि भी थे। पढ़ाने में लीन हो जाते थे। कभी अवकाश नहीं लिया। मरने के पहले एक दिन उन्होंने कहा—तुम लोग व्यर्थ दवा करते हो, एक वृहत् कवि-सम्मेलन कराओ, कविताएँ सुनूँगा, नीरोग हो जाऊँगा। उनकी टीकाओं के बिना आज अनेक पुस्तकों का पढ़ाना कठिन हो जाता। आज का हिन्दी संसार उनका ऋणी है। वे अकेले ही संस्था थे।

ब्रजभाषा के अन्तिम महान् कवि रत्नाकर जी इसी नगरी की विभूति थे। विद्वान् तो थे ही, रसिकता में भी बेजोड़ थे। पायजामा और उस पर कुरता, यह उनका साधारण वेष था। आँखों में सुरमा सदा लगाते थे। स्वभाव इतना सरल था कि जब कविसम्मेलन हो, बुला लाइये। न कभी बनते, न बहाना करते। टकसाली ब्रजभाषा लिखी है उन्होंने। उनकी सभी बातों से अमीरी टपकती थी।

प्रेमचन्द का नाम तो भारत में विदित है। बड़ी निर्धनता में पले थे। शिक्षा विभाग में कुछ दिनों काम किया। फिर साहित्य क्षेत्र में आये। काशी के ही निकट एक गाँव के रहने वाले थे। सादगी उनके जीवन का मूलमन्त्र था—रहने में, बात में, भोजन में—किन्तु थे आदर्शवादी। प्रातःकाल नित्य वे, प्रसादजी, इन पंक्तियों का लेखक तथा दो और मित्र सदा बेनिया बाग में टहलने जाया करते थे। हँसी की बातों पर बड़े ज़ोर से अट्टहास करते थे। पहले नागरी लिपि नहीं आती थी। कहानियाँ या उपन्यास फारसी लिपि में लिखते थे। फिर नागरी लिपि में उतारा जाता था। पीछे नागरी लिपि में लिखने लगे। काशी की इस प्रतिभा की बराबरी करने वाला अभी नहीं जनमा।

जयशंकरप्रसाद की प्रतिभा हिन्दी जगत् में विख्यात है। काशी की जो विशेषता, मस्ती है, यह उनमें कूट-कूट कर भरी थी। गोरा चिट्टा शरीर, बढ़िया महीन कुरता पहन कर, धोती ढीले, दुपल्ली टोपी लगाये, मुँह में गिलौरी, हाथ में छड़ी लिये वे सध्या को चौक की ओर टहलने के लिये निकलते थे। घर पर नंगे बदन कमर में एक अँगोछा लपेटे बैठे रहते थे। जब मिलिये गप के लिये प्रस्तुत। रात दिन जब भी अवसर मिलता था, लिखते थे। जो कुछ लिखते, मित्रों को सुना दिया करते थे। जीवन में व्यावहारिकता और साहित्य में आदर्श इनका ध्येय था। छायावाद की रूपरेखा निखारने का कार्य इन्हीं के हाथों काशी में सम्पन्न हुआ। दर्शन और साहित्य का सामञ्जस्य इन्होंने कामायनी में कर दिखाया।

समालोचना के विस्तृत क्षेत्र में भी काशी का नेतृत्व रहा है। रामचन्द्र शुक्ल की लेखनी का लोहा सभी मानते हैं। बहुत सीधी प्रकृति, भाँग के प्रेमी थे। लेटे लेटे पढ़ने में जो आनन्द आता, बैठकर लिखने में नहीं। हिन्दी साहित्य का इतिहास श्यामसुन्दरदास ने जाकर लिखाया। जब मौज आई तब लिखा, किन्तु जो लिखा वह पूर्ण और पक्का। श्यामसुन्दरदास हिन्दी के शेर थे। विद्वानों को एकत्र करना, उनसे काम लेना उनका विशेष गुण था। उन्होंने हिन्दी की सर्वमान्य संस्था, नागरी प्रचारिणी सभा स्थापित की तथा अनेक पुस्तकें लिखी और लिखाईं।

शिवप्रसाद गुप्त हिन्दी के उन सेवकों में थे जिन्होंने तन मन धन हिन्दी के लिये दे दिया। 'आज' समाचारपत्र निकाल कर उन्होंने एक आदर्श स्थापित किया। पराड़कर जी ने अपनी लेखनी द्वारा उसे हिन्दी पत्रों का सिरमौर बनाया। पत्रकारिता में भी काशी अग्रणी है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य की तीन चौथाई देन काशी की है।

—इलाहाबाद से प्रसारित

वैदिक और पौराणिक संगीत

शिवशरण

अनेक देशों के इतिहासकार अति प्राचीन समय से यह बतलाते आ रहे हैं कि संगीत कला भारत ही से अन्य देशों में फैली है। ईसा के जन्म से कई शताब्दियों पूर्व यूनान के विद्वान् लोग कहा करते थे कि 'डायोनिसोस' ने, जिनका दूसरा नाम भगवान् शिव है, अपने ही देश भारत में अवतार लेकर मनुष्य जाति को नृत्य एवं संगीत कला सिखाई।

यह बात अवश्य विलक्षण है कि सभी अति प्राचीन विदेशी इतिहासकारों ने शिव को ही संगीत एवं नृत्य का रचयिता बतलाया है। सामगान एवं वैदिक ऋषियों के नाम नहीं लिये जाते। सिकन्दर के बीस साल बाद भारत में आये 'मेगस्थनीज़' ने लिखा है कि भारतीयों के हिसाब के अनुसार ६ हज़ार वर्ष बीत गये थे जब कि शिव भगवान् ने स्वयं पृथ्वीनिवासी मनुष्य जाति को संगीत की उन्नत विद्या सिखाई। पुराणों के अनुसार भी ठीक यही समय मिलता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह कल्पना अनुचित न होगी कि प्राचीन भारतवर्ष में दो ही भिन्न मुख्य परम्परायें मिलती हैं—एक गान्धर्व वेद या वैदिक सगीत, दूसरा प्राचीन शैव संगीत। संगीत विषयक सस्कृत साहित्य के अध्ययन से एवं आधुनिक लोक संगीत के अन्वेषण से भी यही बात स्पष्ट होती है।

गान्धर्व संगीत एवं सामगान आर्य जाति में विशेष रूप से प्रचलित थे। शैव संगीत की परम्परा द्रविड़ या कर्नाटक संगीत में अधिक मिलती है। भारत की इन दोनों प्रधान जातियों की भिन्न संस्कृतियों की देन गान्धर्व सगीत एवं शैव सगीत विदित होती है। कुछ विदेशी संस्कृत विद्वानों का मत है कि साम संगीत पर देशी संगीत का किसी समय में अवश्य प्रभाव पड़ गया होगा। श्री बर्नेल ने लिखा है कि साम वेद के मन्त्र जिस स्वर से गाये जाते हैं, वे स्वर किसी दूसरे गान विशेष के लिये रचित हुये थे। बर्नेल का कहना है कि साम स्वर साम मन्त्रों पर ठीक नहीं बैठता, इसलिये मन्त्रों में इधर-उधर आ, उ, आदि लगाना पड़ता है। उनकी कल्पना है कि वैदिक आर्य लोग बाहर से आकर पंजाब में बस गये थे और वहाँ प्राचीन शैव द्रविड़ लोगों से लड़ते-लड़ते उनकी उच्च संस्कृति से प्रभावित हुये, और ऋग्वेद के मन्त्रों को शैव संगीत के स्वरों में गाने लगे। यही साम सामगान बना। यह सब कथन हिन्दुओं को मान्य

नहीं हो सकता। इतना ही मान लिया जा सकता है कि यह ऐतिहासिक समस्या है। खोज करने से एक समय आयेगा, जब इन प्रश्नों का उत्तर प्राय मिल सकेगा।

आज का वैदिक उच्चारण एव सामगान ससार की सबसे प्राचीन प्राप्य गायन-विधि है। वेदगायन आज वैसा ही है जैसे चार या पाँच हजार वर्ष पहले रहा होगा। इस गायन के स्वरूप रक्षण के लिए जो अद्भुत विधि बनी थी वह विकृति के नाम से प्रसिद्ध है। इस विधि मे एक एक शब्द के एक एक अक्षर का गायन अनेक क्रमो से किया जाता है। इन क्रमों की कठिनाई इतनी ही होती है कि स्वर, शब्द, लय या दीर्घ ह्रस्व के रूप मे अन्तर या अशुद्धि किसी तरह से नहीं हो सकती।

हर एक वेद अलग तरह से गाया जाता है। हर एक मे स्वर की सख्या भिन्न है। ऋग्वेद के गायन मे तीन स्वर हैं जो कि उदात्त, अनुदात्त, स्वरित कहे जाते हैं। यजुर्वेद में भी तीन स्वर हैं, पर सामवेद में सात स्वर हैं जिनके नाम प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, क्रुष्ट, मन्द्र, अतिस्वर्य हैं। वेद की हर एक शाखा के लिये भिन्न उच्चारण और गायन के नियम हैं। शतपथ ब्राह्मण मे स्वरित स्वर नहीं है। यह सिर्फ उदात्त और अनुदात्त स्वरों से गाया जाता है।

वैदिक शिक्षा मे लिखा है कि ऋग्वेद का गायन एक स्वर से होता है। यह आर्चिक के नाम से प्रसिद्ध है। यजुर्वेद का गायन दो स्वरों से होता है, उसको गाथिक कहा जाता है। सामवेद का गायन तीन स्वरो से होता है जो सामिक कहा जाता है। यहाँ एक स्वर गायन का अर्थ स्वर की तीन अवस्थायें लेना पड़ता है अर्थात् उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित। आधुनिक हिसाब से ऋग्वेद तीन स्वरों, यजुर्वेद पाँच स्वरो, एव सामवेद सात स्वरो से गाया जाता है।

वैदिक सगीत का उत्तम रूप साम गायन मे दिखाई पड़ता है। इसके विभिन्न स्वरूप हैं जो शाखा के नाम से प्रसिद्ध हैं। आजकल कौथुमी शाखा एव राणायनी शाखा प्राप्य है, अन्य शाखायें लुप्त मानी जाती है।

साम-गान धर्म सगीत का प्रधान स्वरूप है। इसके साथ शुद्ध मार्ग-सगीत एव अनेक रूप के देशी सगीत भी रहे है। वेदो मे कई वाद्यो के नाम मिलते है। नारदीय शिक्षा मे वेद के स्वरो एव बाँसुरी के स्वरो का पारस्परिक रूप बतलाया गया है। इससे उस समय के सगीत की एक विशेषता स्पष्ट है कि ग्राम-मूर्च्छनादि ऊँचे षड्ज से शुरू करके नीचे की ओर गाये जाते थे, न कि आज की तरह नीचे से ऊपर की ओर। आजकल इस तरह के सगीत बहुत कम मिलते है, फिर भी हिमालय प्रदेश के अति दूरवर्ती गाँवो मे कुछ ऐसे लोग मिलते हैं जो आज भी वैदिक काल की विधि से वशी बजाते है। आर्यावर्त मे भी कुछ परम्पराप्राप्त लोकगीत मिलते हैं जिनमें अवरोह प्रधान है। बनारस मे अर्वाचीन तुलसीकृत रामायण अति प्राचीन अवरोह स्वरो से गाई जाती है।

भारतवर्ष मे अनेक प्राचीन जातियाँ मिलती हैं जो पौराणिक समय से अपने धर्म, सस्कृति आदि के स्वरूप को आज तक सुरक्षित रख सकी हैं। पुराण, इतिहास आदि में प्रसिद्ध प्राचीन आभीर लोग आजकल अहीर के नाम से पुकारे जाते हैं। उन लोगो का गीत एव नृत्य आज भी प्राचीन यूनान मे प्रसिद्ध भारतीय नृत्य-सगीत से बिल्कुल मिलता है। आज के अहीरो मे प्रचलित बिरहा आदि गीत एव नृत्य भारत के पौराणिक काल मे प्रचलित गायन एव नृत्य शैली का कहा जा सकता है, गीतों के शब्दमात्र अर्वाचीन हैं।

—दिल्ली से प्रसारित

रवीन्द्रनाथ का मानव प्रेम

त्रिभुवननाथ

रवीन्द्रनाथ ने कला की सामाजिक जिम्मेदारी को कभी अस्वीकार नहीं किया। सामाजिक उद्देश्य से हीन कला को उन्होंने सदा हेय समझा। 'बँगला भाषा परिचय' में उन्होंने कला के प्रति अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है कि जिस कला के मूल में सामाजिक कल्याण की भावना नहीं, वह निरर्थक है, निष्प्राण है, और उसके मोहक रूप के प्रति जिनकी आसक्ति है, वे, उन्हीं के शब्दों में, 'मानवता के शत्रु' हैं। ऐसी कला की उपमा उन्होंने पतझड के पत्तों से दी है, जिनमे चटकीले रगों का आकर्षण हो सकता है, लेकिन जिन्हे मौत की ठण्डी हवा लग चुकी है और जो झरने ही वाले हैं।

अपनी 'रोमाटिक' शीर्षक कविता मे उन्होंने लिखा है —

> लोग मुझे रोमाटिक कहते ह,
> ठीक है, मै उनकी बात को मानता हूँ,
> लेकिन इस वास्तव जगत् के सारे रास्ते
> मेरे जाने पहचाने हैं।
> मैं उसके ऋण का शोध करता हूँ,
> उसके आह्वान को मानता हूँ।
> जहाँ दुख है, व्याधि है कदर्यता है,
> जहाँ नारी भीत और त्रस्त है
> वहाँ मै रोमास की रगीन चादर फेंक देता हूँ
> और लोह कवच धारण करता हूँ।
>
> —नवजातक

'रोमाटिक' सन् १६२० के लगभग लिखा गया था, लेकिन उनकी कविता मे यथार्थ का यह स्वर कोई नया नहीं है, यद्यपि यह ठीक है कि उनकी परवर्ती कविता में यह स्वर अधिक उभर कर आया है। सन् १८८६ की ही लिखी 'मरीचिका' की कुछ पंक्तियाँ देखिए —

> यह तुम बैठी बैठी सपने कब तक चुनती रहोगी?
> अपनी कुसुम शय्या को छोड कर धरती पर उतरो।
>
> तुम्हारे पैरो के नीचे सख्त मिट्टी बज उठे,
> वह देखो, दूर, आँधी उठ रही है,
> तुम्हारा स्वप्न-राज्य आँसुओं की तेज धार में बह जायगा।

बिजली की तेज, लपकती ज्वाला में
तुम्हारी यह मीठी नींद भस्म हो जायगी।
आओ, हम मानवों के बीच चलें,
जहाँ वे सुख और दुख में
अपनी इमारत बना रहे हैं।
आओ, हम हाथ से हाथ देकर
उनके हास्य और रुदन में
उनका साथ दें।

उनका यह गम्भीर मानव प्रेम उनके काव्य में सर्वत्र व्याप्त है। यही उनकी प्रेरणा का मूल तत्व है। इस धरती से उन्हें असीम प्यार था। ज़िन्दगी, अपने सुख और दुख, हँसी और आँसुओं समेत, उन्हें प्यारी थी। और अपनी कला का प्रयोजन उन्होंने यही समझा कि उसके द्वारा मनुष्य के दुख का बोझ कुछ हल्का हो जाय, उसकी ख़ुशी बढ़ जाय।

इस पराधीन देश की जनता के दारुण दुख ने उनके मर्म को स्पर्श किया था और उनके संवेदनशील हृदय को आलोडित किया था। उन्होंने अपने काव्य में इस दुख को भाषा दी है। वे कहते हैं —

कवि उठो, आओ,
बड़ा दुख है, बड़ी व्यथा है
सामने कष्टों का संसार है।
धन अन्न चाहिए, प्राण चाहिए,
प्रकाश चाहिए, उन्मुक्त वायु चाहिए
साहस से तना हुआ सीना चाहिए।

जिस विदेशी शक्ति ने और जिस व्यवस्था ने हमारे देश को एक कठोर आधड़ में जकड़ रखा था, उसके विकास को अवरुद्ध कर रखा था, अपने राष्ट्रीय गीतों में उन्होंने उसके प्रति एक गहरे प्रतिवाद का भाव व्यक्त किया है। इन गीतों में अपने देश के लिए एक नये भविष्य की कल्पना मुखर हो उठी है। अफ्रीका पर लिखी उनकी कविता उनकी व्यापक साम्राज्यवाद-विरोधी भावना का एक मर्मस्पर्शी चित्र है। अफ्रीका की एक नारी के रूप में कल्पना करते हुए उन्होंने लिखा है —

जब तुम्हारा सहज मानवीय रूप
उपेक्षा की मलिन दृष्टि से अपरिचित था,
वे लौह शृंखलायें लेकर आये।
हमने उनके बर्बर लोभ
और उनकी निर्लज्ज पशुता के
नग्न रूप को देखा।
तुम्हारी भाषा के क्रन्दन से व्याकुल
अरण्य पथ की धूल
तुम्हारे रक्त और आँसुओं से मिल कर
पंकिल हो गई
और दस्यु के लौह-बूट
तुम्हारे अपमानित इतिहास पर
अपने वीभत्स चिह्न अंकित करते चले गए।

रवीन्द्रनाथ के काव्य पर उनके समकालीन समाज की गहरी छाप है। 'दो बीघा ज़मीन' में उन्होंने एक गरीब किसान की ज़िन्दगी की तसवीर खींची है, जिसकी ज़मीन को मालिक बेईमानी से हड़प लेता है और उसे दर दर भटकने पर मजबूर करता है, और जब सालों बाद वह लौटता है तब अपने ही पेड़ के दो टपके हुए फलों को उठा लेने के कारण उस पर बेतरह डाँट फटकार पड़ती है। उनकी अनेक कविताओं में बंगाली मध्य वर्ग का जीवन जैसे बोल उठा है—नागरिक की कविता 'ए पारे ओ पारे' मध्यवर्गीय समाज का एक Cross Section ही है—घनी बस्ती, एक दूसरे से रगड़ खाते मकान, बेकार की बकवास, गाली-गलौज, गन्दे मज़ाक, पुरानी झूठी खबरों को लेकर बहसें, सिनेमा की सुन्दरियों की रूप-तुलना, फेरीवाला से झगड़ा, ग्रामोफोन की मदद से थियेटर का गाना सीखने की कोशिश, मेज पर माथा पटक कर बच्चे का रोना और माँ की तेज़ धमकी। उनके गद्य काव्य 'पुनश्च' में इस किस्म के अनेक रेखा चित्र हैं। 'साधारण मेये' में एक साधारण बंगाली लड़की की तसवीर है, जो फ्रेंच-जर्मन नहीं जानती, रोना जानती है। 'एक जन लोक' में आप एक अधेड़

हिन्दुस्तानी को देखते हैं—हाथ में टूटी हुई लाठी, बदन मे मिर्जई और पाँवों में चमरौधा जूता। उसकी वह शिथिल, क्लान्त गति आँखों के सामने जैसे नाच उठती है। उनकी 'बोशि' शीर्षक कविता मे एक क्लर्क का जीवन अंकित है, जो पच्चीस रुपये माहवार पाता है। एक बच्चे को पढ़ा कर दोनों जून का खाना पा लेता है। तेल बचाने की गरज से शाम स्टेशन पर काट देता है। जहाँ वह रहता है, दीवालो मे नोना लगा है, ईंटें खिसक रही हैं, पलस्तर कट रहा है, दरवाज़े पर मारकीन के एक थान से निकाली हुई गणेश जी की एक तसवीर चिपकाई हुई है। साथ मे एक और किरायेदार है—उसी भाड़े में—एक छिपकली। दोनो मे फर्क इतना है कि छिपकली को अंडो का अभाव नहीं है।

कवि अपने पात्रो के सामाजिक परिवेश के वास्तविक चित्रण के विषय मे इतना सजग और निष्ठुर है कि वह गली-कोनों मे पड़े, सड़ते हुए कटहल और आम के छिलको और गुठलियो, मछली के डैने और बिल्ली के मरे हुए बच्चे का वर्णन करने मे भी नहीं हिचकता। इन कविताओं में व्यंग्य का पुट है। भाषा साधारण बोलचाल की है। छन्द का कोई बन्धन नहीं है। उपमायें और रूपक सब नये हैं। उदाहरण के तौर पर, दोपहर के भारी, थमे हुए दिन की उपमा बैंडेज बँधे लँगड़े पैर से दी गई है।

रवीन्द्रनाथ के काव्य में उनकी युद्ध विरोधी कविताओं का एक विशेष स्थान है। उन्होंने अपने जीवन में हिंसा का अत्यन्त भीषण ताडव देखा था, अन्न की खेती को अस्त्र-शस्त्र के कार्तो से बिंधते देखा था, मानव आत्मा को बदी होते देखा था, और उन्होने अपनी पूरी ताकत से युद्ध के ख़िलाफ़ और सामाजिक अन्याय के खिलाफ अपनी आवाज़ उठाई। जिस वीरों की शान्ति (heroic peace) की कामना उन्होंने की है, वह तभी सम्भव हो सकती है, जब यह व्यवस्था बदले। वह शास्त्रों के मन्त्र पढ़ने अथवा गिर्जाघर में प्रार्थना करने से नहीं मिलेगी।

उनकी एक कविता है 'बुद्ध भक्ति' जिसमें उन्होंने उन जापानी सैनिकों की अच्छी खबर ली है, 'जो शक्ति के बाण से चीन को मारते हैं, और भक्ति के बाण से बुद्ध को।' इतना तीखा व्यंग्य शायद ही आपको कहीं मिले। कविता लीजिए —

मृत्यु का खाद्य संग्रह करने को
युद्ध के नगाड़े बज रहे हैं,
और वे युद्ध लोलुप पशु
भयकर रूप धारण कर
अपने दांत किटकिटाते हैं।
हिंसा के उन्माद से अधीर
वे करुणानिधि से
सफलता का वर चाहते हैं।

वे आत्मीय बधनो को छिन्न भिन्न कर देंगे,
और नगरो-ग्रामो को भस्म कर देंगे।
आकाश से उल्कापात होगा,
और शिक्षालय धूल में मिल जाएग।
वे छाती तान कर
दयामय बुद्ध के समीप जाते हैं।
युद्ध की भेरी बजती है
और नगाड़ गड़गड़ाते हैं,
और धरा त्रास से थर-थर काँपती है।

रवीन्द्रनाथ ने युद्ध के बर्बर और विध्वसकारी रूप का ही चित्रण नहीं किया, उन्होंने युद्ध-लोलुप शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान भी किया। एक कविता में उन्होंने लिखा है —

तरुण जातियो, तुम सब आओ,
अपनी दर्पपूर्ण वाणी में
मुक्ति संग्राम की घोषणा करो,
अजेय विश्वास का केतु फहराओ।

आज जब फिर दुनिया की शान्ति खतरे में है, हमें रवीन्द्रनाथ की इन कविताओं को याद करने की ज़रूरत है। इतिहास की एक अत्यन्त संकटपूर्ण घड़ी में, जब पूरा यूरोप

फ़ासिज्म से आतंकित था, जब कितने ही लेखकों और कलाकारों का जीवन में विश्वास टूट रहा था, रवीन्द्रनाथ ने मानवता में अपना विश्वास अक्षुण्ण रखा। युद्ध की बर्बरता और हिंसा ने उनकी दृष्टि को मलिन नहीं किया। १९३९ ई० के अन्त में लिखी 'जयध्वनि' शीर्षक कविता में उन्होंने कहा था :—

'जब मेरे जाने का समय आयेगा मैं मानव का जयगान करके जाऊंगा, यही मेरी शेष वाणी होगी। जो रुग्ण हैं, नग्न हैं, पंक में सने हैं, बार-बार की हार से जिनका मेरुदंड झुक गया है, उन्हें मैं अस्वीकार नहीं करता। विकृति के इन सहस्रों लक्षणों को देखकर भी मैंने चिरतन मानव की महिमा का उपहास नहीं किया।'

रवीन्द्रनाथ का यह चिरंतन मानव वास्तव में निरंतर कर्मरत, अजेय और अमर्त्य जनता ही है। मृत्यु के थोड़े ही दिनों पहले लिखी कविता 'ओरा काज करे' में उन्होंने इस जनता का गीत गाया और उसे अपना अर्घ्य अर्पित किया। वे कहते हैं :—

'हमारे सुदीर्घ इतिहास में, विजेताओं के दल के दल आये और चले गये। आज उनका निशान तक बाकी नहीं है। मैं जानता हूँ, काल इसी तरह इन अंगरेज़ों को भी बहा ले जायगा और देश भर में फैला उनके साम्राज्य का जाल कहीं दिखायी तक न देगा; उनकी सेना का नाम-निशान तक न रह जायगा। मैं आँखें खोलकर देखता हूँ। यह विपुल जनता ही युगयुगान्तर से जीवन और मृत्यु की दैनंदिन आवश्यकताओं को लेकर अनेक पथों से और अनेक दलों में चलती आ रही है। वे डाँड खींचते हैं, हल चलाते हैं, खेतों में बीज बोते हैं, और पका हुआ धान काटते हैं। वे काम करते हैं। शत-शत साम्राज्यों के नष्ट हो जाने के बाद भी काम करते हैं। वे अमर्त्य हैं।'

रवीन्द्रनाथ ने इस अमर्त्य जनता को अपनी गहरी सहानुभूति दी और अपने को उसके निकट लाने की कोशिश की। फिर भी उनके काव्य में एक दूरी रह ही जाती है। उन्होंने जनता के जीवन को भीतर से नहीं, बाहर से ही देखा था। निश्चय ही उनके दृष्टिकोण की एक अपनी सीमा थी।

'ऐक्य तान' में रवीन्द्रनाथ ने स्वयं अपने स्वर की अपूर्णता की बात कही है और स्वीकार किया है कि वे जनता के जीवन के भीतर पैठ नहीं सके।

एक नये लोक-कवि का उद्बोधन करते हुए वे कहते हैं :—

जो किसानों के जीवन में सम्मिलित है,
जिसने कर्म और वचन से उनकी आत्मीयता
पाई है,
जो धरती के निकट है—
उस कवि की वाणी के लिये मैं कान लगाये
बैठा हूँ।

—इलाहाबाद से प्रसारित

सिनेमा और स्टेज

बलराज साहनी

एक ऐसे व्यक्ति के लिये जो सिनेमा और स्टेज दोनों में दिलचस्पी रखता हो, यह बताना बड़ा मुश्किल है कि वह दोनों में से कौन सा काम ज्यादा पसन्द करता है, स्टेज का या फिल्म का। सच तो यह है कि इन्सान को अपने हर काम म आनन्द आता है, बशर्ते कि वह काम पूरी मेहनत से, पूरी आज़ादी से, इस एहसास से किया जाय कि इससे समाज को लाभ पहुँचेगा। कोई ऐसा काम नहीं जिसमें प्रवीण होकर इन्सान कलाकार न कहला सके, चाहे वह कविता लिखने का काम हो चाहे एक्टिंग का, चाहे कपड़े धोने का, चाहे हजामत बनाने का। बल्कि हमारे पुरखाओं ने तो यहाँ तक कहा है कि जाना भी कला है और मरना उससे भी बड़ी कला है, अगर इन्सान गाँधी या भगतसिंह की तरह मर सके। आर्ट जीवन से अलग, सातवें आसमान से उतरने वाली चीज़ नहीं।

जब मैं कोई ऐसा पार्ट खेलता हूँ जो मेरी भावनाओं को पूरी ताक़त से बाहर खींचता है और मुझे एहसास होता है कि इसको देखकर दर्शक मेरी क़द्र करेंगे तो मेरी आत्मा को सच्चा आनन्द मिलता है—चाहे वह फिल्म का पार्ट हो, चाहे स्टेज का।

मैं अक्सर लोगों के मुँह से सुनता हूँ कि सिनेमा ने थियेटर को ख़त्म कर दिया है। शायद बिजनेस के नुक्ता निगाह से यह बात ठीक ही है। व्यापारी दृष्टिकोण से देखा जाये तो वाक़ई नाटक और फिल्म की आपस में बड़ी दुश्मनी है। पर अगर रचनात्मक ढंग से देखें तो इन में एकता और मित्रता दिखाई पड़ेगी, ठीक वही जिसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने Creative Unity अर्थात् कलात्मक एकता कहा है।

मैं यह नहीं कहता कि सिनेमा और नाटक अलग अलग कलाएँ नहीं हैं। ज़रूर ये अलग अलग कलाएँ हैं। पर इनके विशेष गुणों को हम तभी परख सकेंगे जब हम इनका एक दूसरे से और सामाजिक जीवन से रिश्ता जोड़ दें।

मैं इस बात को ज़रा और साफ करना चाहता हूं। फिल्म-कला को आपरेशन टेबुल पर रखिए और उसकी चीर फाड कीजिये। पता चलेगा कि फ़िल्म-कला दरअसल एक कला का नाम नहीं अनगिनत कलाओं के समूह का नाम है। देखिए एक फिल्म के बनाने में कौन-कौन सी कलाएँ साथ देती हैं—

(१) कथानक अर्थात् साहित्य (२) गीत अर्थात् कविता (३) संगीत (४) एक्टिंग अर्थात् नाट्य (५) डांस अर्थात् नृत्य कला (६) आर्ट डाइरेक्शन अर्थात् शिल्पकला (७) डेकोरेशन अर्थात् चित्र एवं मूर्तिकला (८) मेक अप

(९) लाइटिंग, (१०) फोटोग्राफ़ी, (११) साउंड रिकार्डिंग, (१२) निर्देशन आदि।

और अगर इन के साथ-साथ उन तमाम मशीनों के बनाने की कला को भी शामिल कर लिया जाय जो फिल्मों के लिये ज़रूरी है, तो ज़ाहिर होगा कि ललित कलाओं के साथ-साथ मज़ार का शायद कोई भी छोटा बड़ा काम नहीं जो फिल्म बनाने में सहायक न होता हो। अर्थात् फ़िल्म एक सामूहिक कला है जिसमें मुख्तलिफ़ तरह के कलाकार शरीक होते हैं।

इसी तरह नाटक भी एक सामूहिक कला है जिसमें कवि से लेकर दरज़ी, धोबी और नाई तक शरीक होते हैं।

फ़िल्म और नाटक दोनों की कामयाबी का राज़ यह है कि किस हद तक कलाकारों ने मिलकर खुशी से और भ्रातृभाव से कन्धे से कन्धा मिलाकर काम किया है।

ज़ाहिरा तौर पर थियेटर में पर्दा खींचने और गिराने वाला आदमी एक मामूली हैसियत रखता है। लेकिन अगर किसी सीन के अन्त पर पर्दा दो सेकिण्ड पहले या दो सेकिण्ड देर से गिरे तो किस क़दर कोफ़्त होती है। गोया पर्दा गिरानेवाले के हाथ में सिर्फ एक रस्सी नहीं बल्कि दर्शकों की समूची भावना का सूत्र उसके हाथ में है। अर्थात् थियेटर में पर्दा खींचने वाला भी एक कलाकार है।

इन मिसालों से ज़ाहिर हुआ होगा कि फ़िल्म कम्पनियाँ और नाटक मंडल बज़ाते खुद एक बिरादरी होते हैं। जितनी यह बिरादरी मज़बूत होगी, जितनी वह अपनी सामूहिक रचना और अपनी सामाजिक ज़वाबदेही को महसूस करेगी, उतना ही उसका काम सफल होगा।

काफी हाउस में या अपने क्लब में बैठे हुए आपने कई बार सुना होगा, 'भाई फ़ला फिल्म की कहानी तो वाह वाह है, अगर स्क्रीन प्ले अच्छा होता तो चार चाँद लग जाते', या फिल्म की फोटोग्राफी तो बड़ी शानदार है, मगर एक्टिंग बड़ा ज़ोगस है, और गाने भी कितने घटिया हैं। यानी, हमारी फिल्मों के बारे में आम शिकायत यह होती है कि उनकी कोई न कोई चूल हमेशा ढीली रह जाती है।

यही हाल नाटक का है। लोग कहते हैं—'यार, नाटक तो बुरा नहीं था, मगर उसे ढंग से खेला नहीं गया। हालां न, एक्टिंग तो कहीं-कहीं बहुत अच्छा था, पर लाइटिंग कितनी खराब थी।'

मुझे बहुत सी नाटक मंडलियों का अनुभव है, और मैंने देखा है कि उनकी सब से बड़ी कमज़ोरी यही रह जाती है कि उनके कारकुन अपने मंडल की सामूहिक रचना और उसके क़ानून को नहीं समझते। जिन लोगों को अच्छे अच्छे पार्ट मिल जाते हैं, वे अपने आप को दूसरों से ऊँचा और अलग थलग समझने लगते हैं। बहुत से नौजवान तो इन मंडलियों में सिर्फ़ इस ख्याल से शरीक होते हैं कि स्टेज पर खड़े होकर दर्शकों के आगे अपनी नुमाइश कर सकें। मंडल के सामूहिक जीवन में दूसरे छोटे छोटे कामों में वे लापरवाही करते हैं। मेकअप, ड्रेस, लाइटिंग और दूसरे इन्तज़ामी कामों को 'निचले दर्जे' का काम समझ कर दूसरों पर छोड़ देते हैं। इससे बिरादरी का वातावरण रचनात्मक नहीं रहता।

इसके मुक़ाबिले, मैंने इंगलिस्तान की अमेच्यर और पेशेवर मंडलियों का वातावरण कहीं ज़्यादा रचनात्मक पाया। उसमें भावुकता कम और वैज्ञानिकता ज़्यादा नज़र आई। वहाँ इस सामूहिक कला के मामूली से मामूली पहलू को बड़ी अहतियात और मेहनत से निभाया जाता है, हर काम को कलात्मक समझा जाता है, उसकी इज़्ज़त की जाती है, और नाटक को सर्वांग सुन्दर बनाने की पूरी कोशिश की जाती है।

इसलिये इंगलिस्तान में और दूसरे अनेक देशों में भी फिल्में थियेटर को भारी चोट नहीं लगा सकीं। इतना ही नहीं, फ़िल्मी दुनिया

अच्छे एक्टरों के लिए और अच्छे कथानकों के लिए अक्सर थिएटर की मुँहताज रहती है।

इस बात से मुझे हरगिज इन्कार नहीं कि फिल्मों के आने से हमारे देश के पेशेवर थिएटर को काफी से ज्यादा नुकसान पहुँचा है। पर इस हक़ीक़त को भी साथ ही तसलीम करना पड़ेगा कि उस थिएटर में ऐसी कोई बात भी नहीं थी जो उसे ज़्यादा देर तक जिन्दा रख सकती। नाटकों में कोई ऐसी विशेषता नहीं थी जिसके आधार पर उन्हें कलात्मक रचनाएँ कहा जा सके। इन कम्पनियों का सामूहिक जीवन अन्दर से खोखला था और बाहर के सामाजिक जीवन से भी उनका गहरा सम्बन्ध न था। जिस जिस प्रदेश में नाटक कम्पनियों ने अपने बुनियादी मक़सद को समझने की कोशिश की—मसलन् बंगाल या महाराष्ट्र में—वहाँ थिएटर अब भी जी रहा है।

आजकल की हिन्दी फिल्में अधिकतर उसी पुराने दक़ियानूसी नाटक का ही रूपान्तर हैं, और इसीलिए दीर्घजीवी होने पर भी लोगों को शुबा होने लगा है। इन फिल्मों की कहानियाँ वही अलिफ लैला के किस्से हैं, जिनका जीवन की असलियतों से कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिए अगर आज वे व्यापारिक दृष्टिकोण से भी निष्फल हो रही हैं, तो इसमें हैरान होने की कोई बात नहीं। कई प्रोड्यूसर यह सोचकर अपने आप को तसल्ली दे लेते हैं कि आर्थिक संकट के कारण लोगों के पास पैसा नहीं है, फ़िल्में इसलिए फेल होती हैं। मगर यह उनकी भूल है। जैसा मैं पहले कह आया हूँ, कला की बीमारियों की तशख़ीस व्यापारी दृष्टिकोण से नहीं की जा सकती।

अब मैं आपका ध्यान शेक्सपियर की लिखी कुछ पंक्तियों की तरफ़ आकर्षित करना चाहता हूँ, जो आज से पूरे साढ़े तीन सौ वर्ष पहले लिखी गई थीं। हेमलेट नाटक के तीसरे एक्ट में नाटक का हीरो कुछ एक्टरों को उपदेश करता है, जो बादशाह के दरबार में नाटक पेश करने वाले थे। हैमलेट उनसे कहता है—

'देखो, स्टेज पर खड़े होकर इस तरह बोलो कि तुम्हारे शब्दों का सुनने वालों को रस आये, यह नहीं कि उनके कान फट जायें। तुम एक्टर हो, ढंढोरची नहीं हो। और देखो, हाथ को कुल्हाड़े की तरह मार-मार कर हवा को मत चीरना। एक्टर को चाहिए कि वह अपने मन को हमेशा काबू में रखे, चाहे उसके अन्दर भावनाओं के तूफान क्यों न उठ रहे हों। जो एक्टर अपनी भावनाओं को क़ाबू में रखकर उन्हें संयम से व्यक्त नहीं कर सकते, उन्हें चौराहे पर खड़ा करके चाबुकें मारनी चाहिए।'

फिर वह कहता है—'और देखो, फीके भी मत पड़ जाना। अंडर एक्टिंग करना भी अच्छा नहीं होता। खुद अपनी सूझ-बूझ को अपना उस्ताद बनाओ और उसी के अनुकूल चलो। अपनी चाल ढाल को, अपने संकेतों और इशारों को शब्दों के मुताबिक़ बनाओ और शब्दों को इशारों के मुताबिक़। और बराबर ख़याल रखो कि कहीं भी वास्तविकता और असलियत पर अत्याचार न हो। अगर कहीं भी मुबालिगे से काम लिया, तो नाटक का सारा मक़सद ही ख़त्म हो जायेगा। याद रखो, सैकड़ों वर्षों से नाटक का मक़सद सिर्फ़ एक ही रहा है और भविष्य में भी रहेगा। वह मक्सद है असलियत के सामने आइना रख देना, जिसमें अच्छाई अपना रूप देख सके, बुराई अपना। यही नहीं, समाज और जमाने के सारे उतार-चढ़ाव भी इस आइने में साफ दिखाई दें।'

शेक्सपियर के शब्दों का अनुवाद करना आसान काम नहीं है। इसलिए अन्त में कुछ शब्दों को मैं अंग्रेजी में भी दुहरा देता हूँ—

"For anything so overdone is from the purpose of playing, whose end, both at the first and now, was and is, to hold, as 'twere, the mirror up to nature, to show virtue her own feature, scorn her own image, and the very age and body of the time his form and pressure."

ज़रा इन पंक्तियों को कसौटी पर आप अपने देखे हुए नाटकों और फ़िल्मों को परखिए और देखिये कितनी पूरी उतरती हैं। जिस दिन हमारे नाटक और हमारी फ़िल्में वास्तविकता की सची राह पर आ जायेंगी, उसी दिन मालूम हो जायेगा कि नाटक और फ़िल्म का भाई-बहिन का रिश्ता है और दोनों के दरमियान बहुत कुछ साझा है। इनकी असल में कोई दुश्मनी नहीं। इतने पर भी हैं दोनों कलाएं अलग अलग ही। दोनों की अपनी अपनी टेकनीक है, अपना-अपना इतिहास है। न हर नाटक को फिल्माया जा सकता है और न हर फिल्म नाटक के रूप में पेश की जा सकती है। एक एक्टर की हैसियत से मेरा अनुभव है कि स्टेज का अभिनय फिल्म से बहुत मुख़्तलिफ़ है। स्टेज एक्टर का फिल्मों में काम करने के लिये, और फिल्म एक्टर को स्टेज पर काम करने के लिये अपने आपको एक नये साँचे में ढालना पड़ता है, जो हमेशा आसान नहीं होता। और यही हाल लेखक का है और डायरेक्टर का भी। लेकिन ऐसा करने से किसी की कलात्मक वृत्तियों पर अत्याचार नहीं होता।

मसलन्, सिनेमावालों के पास एक ऐसा हथियार है जो थिएटर को मुयस्सर नहीं, और वह है Close up। यह हथियार बाज़ई सिनेमा को ज़बरदस्त ताक़त बख़्श देता है। स्टेज एक्टर को अपनी भावनाओं का दूर बैठे हुए दर्शकों पर असर डालने के लिए बहुत कुछ करना पड़ता है, जो एक सिनेमा के 'क्लोज़ अप' में बिलकुल ग़ैर ज़रूरी है, क्योंकि क्लोज़ अप सिनेमा एक्टर के चेहरे को तीन सौ गुना बढ़ाकर उसे दर्शकों पर जैसे बिछा देता है। यहाँ एक हल्की सी मुसकराहट या आँखों में तैरता हुआ ज़रा सा पानी दर्शकों पर बिजलियाँ गिरा सकता है।

इसके अलावा सिनेमा की कला में एक तरह की व्यापकता है, जो उसे करोड़ों इन्सानों के पास ले जाती है, और बहुत आसानी से। और उसे वह शोहरत मिलती है जो उसके दिमाग को बड़ी आसानी से फेर सकती है। लेकिन इसके साथ ही एक्टर को विशेष लाभ भी है, वह यह कि अपने काम को स्वयं देखकर आलोचना कर सकता है।

सिनेमा के इस व्यापक असर को हर कोई महसूस करता है। ज़ाहिर है कि अगर ऐसी शक्तिशाली कला को केवल व्यापारिक ढंग से इस्तेमाल किया जाय, और समाज का उस पर अंकुश न हो, तो बड़े ख़तरनाक नतीजे निकल सकते हैं। दूसरी तरफ समाज को यह भी लाज़िम है कि नाटक के रास्ते में जो रुकावटें और असुविधाएं हैं, उन्हें हटाए और इस कला को सिनेमा की होड़ से बचाने का प्रयत्न करे। हर आज़ाद और प्रगतिशील देश में नाटक को विशेष सुविधाएं दी जाती हैं। हमारे देश में स्टेज से सम्बन्ध रखने वाला प्रत्येक कलाकार इस बात को बड़ी शिद्दत से महसूस करता है कि हर शहर और क़स्बे में स्थानीय नाटक मंडलियों को पुनर्जागृत होने की सुविधाएं दी जायें, और उनके द्वारा जनता की रचनात्मक वृत्तियों का विकास किया जाये।

—बम्बई से प्रसारित

विक्रमशिला

सुमन वात्स्यायन

संसार का प्राचीनतम विश्वविद्यालय तक्षशिला भारत मे ही था। पुरानी शिक्षण संस्थाओं में बिहार का नालदा विश्वविद्यालय सांस्कृतिक दृष्टि से सबसे उन्नत था। किन्तु आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक जो महत्त्व विक्रमशिला विश्वविद्यालय को मिला, वह किसी को नहीं।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय के स्थान निरूपण मे विभिन्न विद्वानो के भिन्न भिन्न मत रहे हैं। तिब्बत मे जितने भारतीय धर्मप्रचारक विक्रमशिला से गए उतने अन्य किसी जगह से नहीं। इसलिये, तिब्बती साहित्य मे इस संस्था का अधिक उल्लेख होना स्वाभाविक ही है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बती साहित्य के आधार पर लिखा है कि सहोर भारत से पूर्व दिशा की ओर था। उसका दूसरा नाम भगल या भगल था। उसकी राजधानी विक्रमपुरी थी। राजधानी से थोड़ी दूर पर, उत्तर की तरफ विक्रमशिला विहार था। यह गगा के किनारे एक पहाड़ी पर अवस्थित था। तिब्बती का भगलपुर ही वर्तमान भागलपुर है। अब अधिकाश विद्वान् मानते हैं कि यह विश्वविद्यालय भागलपुर ज़िलान्तर्गत कहलगाव रेलवे स्टेशन के समीप पत्थर घाट नामक जगह पर अवस्थित था। पुरातत्त्व विभाग की ओर से इस स्थान की खुदाई होने पर सम्भव है बहुत सी बातों का पता लगे।

ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वविद्यालय के रूप का ग्रहण करने से पूर्व भी वहाँ कोई विहार रहा होगा। महाराज धर्मपाल ने आठवी शताब्दी में उसी विहार को विश्वविद्यालय के रूप मे परिणत कर दिया। प्रारम्भ मे, यहाँ चार प्रवेश द्वार थे, किन्तु महाराजा जयपाल के शासन काल में छ द्वार पंडित नियुक्त थे।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय मे १०८ मुख्य अध्यापक और सैकड़ों सहायक अध्यापक एव लगभग आठ हज़ार देशी विदेशी छात्र थे। द्वार पंडित का पद बड़ा महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। यहाँ के आचार्यों मे प्रमुख थे तथागत रक्षित, दीपकर श्रीज्ञान, वैरोचन रक्षित, बुद्ध ज्ञानपाद, जेतारि, रत्नवज्र आदि। देश विदेश से आनेवाले प्रवेशार्थी छात्रो के लिये आवश्यक था कि वे द्वार पंडितों को अपने विभिन्न विषयों के ज्ञान से सतुष्ट करें, क्योकि द्वार पंडितो की सिफारिश से ही कोई छात्र विश्वविद्यालय मे प्रवेश पा सकता था।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय मे शिक्षा का आधार धार्मिक था, पर उसमे कट्टरता नहीं बरती जाती थी। बौद्ध धर्म और

संस्कृति का प्रमुख केन्द्र होने पर भी वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का माध्यम संस्कृत भाषा थी। प्रवेशार्थी के लिये संस्कृत का अच्छा ज्ञान होना आवश्यक था। सातवीं आठवीं शताब्दी तक भारतीय समाज में तन्त्र-मन्त्र का काफी प्रचार हो चुका था। विक्रमशिला तान्त्रिक बौद्धधर्म का एक प्रमुख केन्द्र मानी जाती थी।

इतिहासकार तारानाथ के अनुसार महाराज धर्मपाल ने विक्रमशिला विश्वविद्यालय को एक आदर्श शिक्षण संस्था बनाने के लिये कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा था। अध्यापक एवं छात्रों के निवास, भोजन तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये राज्य की ओर से सुन्दर व्यवस्था थी। शिक्षण कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये प्रमुख विद्वानों की एक समिति बनी थी। विश्वविद्यालय के अन्दर कुल १०८ मन्दिर थे।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय में काफी संख्या में विदेशी छात्र भी विद्याध्ययन के लिये आते थे। इसलिये यहाँ विदेशी भाषाओं के जानने वाले पंडितों की भी कमी नहीं थी। यहां पढ़ने वाले विदेशी छात्रों में सब से अधिक संख्या थी तिब्बत निवासियों की। इसलिये स्थायी दुभाषियों के अतिरिक्त अनेक भारतीय आचार्य भी तिब्बती भाषा के अच्छे पंडित थे। आज हम तिब्बती भाषा में सैकड़ों ऐसे ग्रन्थों के अनुवाद देख सकते हैं जो मूल संस्कृत में लुप्त हो चुके हैं।

विक्रमशिला एक आवासिक विश्वविद्यालय था। यहाँ का शिक्षण अ आ इ ई से नहीं प्रारम्भ होता था। तक्षशिला और नालंदा विश्वविद्यालयों की तरह यहाँ भी प्रवेशिका के बाद की पढ़ाई की व्यवस्था थी। इसलिये स्वभावतः ही इसके पास-पड़ोस में अनेक छोटे बड़े विद्यालय थे, जहाँ रह कर छात्र प्रवेशिका तक की शिक्षा पूरी करते थे। द्वार पंडित इसी प्रारम्भिक शिक्षण की जाँच-पड़ताल के लिये नियुक्त थे। भारतीय शिक्षा प्रारम्भ से ही संगठित और बहुमुखी रही है। शिक्षण का आधार धर्म होते हुए भी विज्ञान की ओर काफी ध्यान रहा है। विक्रमशिला में भी धार्मिक और लौकिक विषयों के शिक्षण की व्यवस्था थी।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय ने भारतीय सांस्कृतिक जीवन को तो प्रभावित किया ही, उसने भारत के बाहर भी भारतीय संस्कृति, साहित्य, कला और ज्ञान विज्ञान के प्रसार में तक्षशिला और नालंदा की परम्परा को बनाए रखा। भारतीय धर्म प्रचारक ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी में ही चीन पहुँच चुके थे। लंका, बर्मा, इन्डोनेशिया, मलाया, स्याम, हिन्दचीन आदि देशों में तो ईसा के सैकड़ों वर्ष पूर्व ही आर्य धर्म का प्रवेश हो चुका था। किन्तु भारत का पड़ोसी तिब्बत अभी तक भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव से दूर था। इसका मुख्य कारण हिमालय का दुर्गम मार्ग और तिब्बत का कठिन जीवन था। किन्तु तिब्बत जैसे पिछड़े देश में सभ्यता और ज्ञान विज्ञान के प्रसार का अधिकांश श्रेय विक्रमशिला विश्वविद्यालय को ही है। भारतीय आचार्यों ने तिब्बत को धर्म और साहित्य के साथ-साथ लिपि भी दी। आज भी तिब्बती लिपि की वर्णमाला नागरी ही है।

अब हम विक्रमशिला विश्वविद्यालय के उन दो चार आचार्यों से भी परिचित होते चलें, जिन्होंने हमारे बौद्धिक विकास को चरम सीमा तक पहुचाने में अपना अमूल्य जीवन उत्सर्ग कर दिया।

विक्रमशिला के अध्यापकों में वैरोचन रक्षित का स्थान महत्त्वपूर्ण है। तिब्बती साहित्य में महापंडित' और 'महाचार्य' उपाधि के साथ इनका उल्लेख किया गया है। तिब्बत की यात्रा आज भी कठिनतम यात्रा मानी जाती है। किन्तु वैरोचन रक्षित आठवीं शताब्दी में भारतीय संस्कृति और धर्म के प्रचारार्थ तिब्बत गए। वे तिब्बती भाषा के भी अच्छे जानकार थे। उन्होंने अपनी अनेक संस्कृत रचनाओं का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया।

दूसरे उल्लेखनीय आचार्य हैं जेतारि। ये बड़े ही प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। इनका शिक्षा विक्रमशिला विश्वविद्यालय में ही हुआ था। इन्होंने संस्कृत में एक सौ ग्रन्थों की रचना की थी। आज भी इनकी बीस से ऊपर पुस्तकें तिब्बती अनुवाद के रूप में सुरक्षित हैं।

विक्रमशिला के आचार्यों में रत्नवज्र का नाम भी स्मरणीय है। ये विक्रमशिला विश्वविद्यालय के मध्य द्वार के द्वार पंडित थे। इनका जन्म कश्मीर में हुआ था। तीस वर्ष की आयु तक रत्नवज्र कश्मीर में ही रह कर अध्ययन करते रहे। कश्मीर से ये बुद्ध गया चले आये और विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। पर इनकी ज्ञान पिपासा यहाँ भी शान्त नहीं हुई। इसलिये गया से विक्रमशिला चले आये।

रत्नवज्र ने थोड़े ही समय में विक्रमशिला की पढ़ाई समाप्त कर ली। राजा की ओर से इन्हें 'पंडित' की उपाधि प्रदान की गई। इनकी योग्यता और व्यापक ज्ञान से प्रभावित होकर विश्वविद्यालय ने इन्हें द्वार पंडित नियुक्त किया। ये अच्छे वक्ता और शास्त्रार्थ में प्रत्युत्पन्न मति थे। एक जगह रहना इन्हें भाता नहीं था। इसलिये कुछ ही वर्षों के बाद ये कश्मीर लौट गए। फिर कश्मीर से मध्य एशिया की ओर निकल पड़े। उधर की यात्रा समाप्त कर रत्नवज्र तिब्बत पहुँचे। जीवन का शेष भाग इन्होंने वहीं गुज़ारा। ये तिब्बती भाषा के अच्छे पंडित थे। तिब्बत में भारतीय साहित्य और संस्कृति के प्रारम्भिक प्रचारकों में आचार्य रत्नवज्र का नाम अमर रहेगा।

विक्रमशिला में अन्तिम प्रमुख आचार्य थे दीपंकर श्रीज्ञान। आप का जन्म भागलपुर ज़िले में ही सहोर नामक स्थान पर वहाँ के राज्य-परिवार में ९८२ ई० में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा आचार्य जेतारि की देखरेख में हुई थी। यद्यपि इनका जन्म एक राजपरिवार में हुआ था, फिर भी बुद्ध की तरह ही इन्होंने भी सांसारिक सुख का त्याग कर दिया था।

आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान भारतीय ज्ञान विज्ञान के महान् आचार्यों में से एक थे। भारत के सांस्कृतिक विकास के लिये आने वाले अन्धकारमय युग के शायद वे अन्तिम दीपक थे। उन्होंने अपने जीवन का सर्वोत्तम समय विदेशों में भारतीय संस्कृति और धर्म के प्रचार में लगा दिया। जावा में बारह वर्ष तक रहने के बाद वे लंका द्वीप गए। कुछ समय वहां बिताकर फिर भारत लौट आए।

तिब्बत में इस समय तक बौद्धधर्म का प्रचार तो खूब हो चुका था, पर समय के साथ कुछ शिथिलता भी आ गई थी। इसे दूर करने के ख़्याल से वहाँ के राजा ने भारत से किसी अच्छे आचार्य को बुलाने के लिये एक दूत-मंडल भेजा। दूत-मंडल ने विक्रमशिला पहुँच कर आचार्य दीपंकर से तिब्बत चलने का आग्रह किया। उन्होंने उत्तर दिया—"मैं अब वृद्ध हो चुका हूं। मेरे पर अनेक मठों की ज़िम्मेवारी है। अनेक काम अपूर्ण पड़े हैं। ऐसी हालत में तिब्बत कैसे जा सकता हूँ ?" पर दूत ने अपना आग्रह जारी रखा। अन्त में दीपंकर राज़ी हुए। इस तरह साठ वर्ष की आयु में अपनी मातृभूमि और प्यारी संस्था को सदा के लिये छोड़ १०४० ई० में दीपंकर तिब्बत पहुँचे। तेरह वर्ष तक तिब्बतवासियों को भारत का संदेश सुनाते रहे। १०५३ ई० में तिहत्तर साल की आयु में मातृभूमि से हजारों मील दूर आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान ने शरीर-त्याग किया। तिब्बती भाषा में दीपंकर के कई जीवन चरित्र हैं, जिन से विक्रमशिला विश्वविद्यालय के विषय में काफ़ी जानकारी मिलती है।

१२०३ ई० में बख़्तियार ख़िलजी ने मगध पर हमला किया और उसी हमले के फलस्वरूप नालंदा, उदन्तपुरी और विक्रमशिला विश्वविद्यालय सदा के लिए नष्ट हो गए। विक्रमशिला का महान् पुस्तकालय जल कर राख का ढेर हो गया।

—पटना से प्रसारित

भावी शिक्षा की रूप-रेखा

मौलाना अबुलकलाम आज़ाद

मुल्क की आज़ादी के बाद जिन मसलों पर हमें ख़ास तौर पर सोच-विचार करना पड़ा है उनमें एक बड़ा मसला क़ौमी तालीम और उसके निज़ाम का है। मैंने निज़ाम का लफ़्ज़ उस माने में बोला है जिसमें अंग्रेज़ी का लफ़्ज़ 'सिस्टम' बोला जाता है। आज हर तरफ़ से यह आवाज़ उठ रही है कि मुल्क का तालीमी निज़ाम ठीक नहीं है। वह हमारी हालतों और ज़रूरतों का साथ नहीं दे सकता। इसका सुधार होना चाहिये। लेकिन अगर पूछा जाये कि इस तालीमी निज़ाम की असली ख़राबी क्या है, और अगर उसकी दुरुस्तगी की जाये तो किन बातों में की जाये, तो मैं ख़याल करता हूँ कि बहुत कम आदमी ऐसे होंगे जो इसका जवाब दे सकेंगे।

हमारे तालीमी निज़ाम में एक खुली ख़राबी जो आज हर शख़्स को दिखाई देती है यह है कि आम आदमियों को उनकी हालत और ज़रूरत के मुताबिक़ तालीम नहीं मिलती और ख़ास-ख़ास आदमियों को यूनिवर्सिटियों की जो आला तालीम मिल रही है, वह उन्हें काम पर नहीं लगा सकती। नतीजा यह है कि हर साल हज़ारों आदमी यूनिवर्सिटियों से डिग्री लेकर निकलते हैं, लेकिन उनकी बड़ी तादाद अपने लिये कोई काम नहीं पाती और बेकारी की ज़िन्दगी बसर करने पर मजबूर हो रही है। मुल्क की तमाम यूनिवर्सिटियों में आजकल तीन से लेकर साढ़े तीन लाख तक विद्यार्थी तालीम पाते हैं। एक ऐसे मुल्क के लिये जिसमें ३१ करोड़ लोग बसते हैं यह कोई बड़ी तादाद नहीं है। ताहम हमारे तालीमी निज़ाम में कोई ऐसी ख़राबी पैदा हो गई है कि इतनी तादाद भी मुल्क में खप नहीं सकती और इसका बड़ा हिस्सा बेकारी की ज़िन्दगी बसर कर रहा है।

तालीम का सबसे बड़ा मक़सद, जो इब्तदा से लोगों के सामने आया है, सरकारी नौकरी है। जो भी आदमी यूनिवर्सिटी में क़दम रखता है इसी मक़सद के लिये रखता है। लेकिन सरकारी नौकरी सब को मिल नहीं सकती। नतीजा यह है कि हमारी तालीम ने एक अजीब तरह का रूप पैदा कर लिया है। तालीम का मक़सद यह था कि लोगों को समाज का एक कारामद फ़र्द बनाये, लेकिन हमारी तालीम लोगों को बेमसरफ़ का आदमी बना रही है। वे अगर तालीम न पाते तो मेहनत-मज़दूरी करके अपना पेट पाल लेते। अब वे इस काम

के भी न रहे।

तालीम की दो क़िस्में हैं। एक क़िस्म वह है जो मुल्क के हर बाशिन्दे को मिलनी चाहिये और हुकूमत का फ़र्ज़ है कि वह सब के लिये इसका इन्तज़ाम कर ले। दूसरी क़िस्म वह है जिसे हर आदमी हासिल नहीं कर सकता और हर आदमी को हासिल करना भी नहीं चाहिये। वह सिर्फ़ एक महदूद तादाद ही हासिल कर सकती है। पहली क़िस्म की तालीम के लिये इस तरह का सवाल पैदा ही नहीं हो सकता कि समाज को अपने कामों के लिये इसकी जरूरत है *या नहीं? इस तालीम का मक़सद* यह होता है कि मुल्क का हर बाशिन्दा अपनी दिमाग़ी कुव्वतों को ठीक तरीक़े पर उभार सके और एक अच्छी ज़िन्दगी बसर कर सके। इस क़िस्म की तालीम किस दर्जे की तालीम हो सकती है? मेरी राय यह है कि इसे दस दर्जे की तालीम होना चाहिये जिसे हम 'सैकेंड्री' दर्जे के नाम से पुकारते हैं। हम इसका इन्तज़ाम सब के लिये फ़ौरन नहीं कर सकते। हम अभी तक इब्तदाई तालीम को भी आम और जबरी नहीं कर सके। लेकिन यह ज़रूर है कि हमारा रुख़ इसी तरफ़ है। हमें क़ौमी तालीम का जो नया नक्शा बनाना चाहिये वह यह बात सामने रख कर बनाना चाहिये।

सैकेंड्री तालीम के तीन दर्जे हैं—इब्तदाई, दरमियानी और आख़ीरी। इब्तदाई और दरमियानी दर्जा निहायत अहम है, क्योंकि क़ौमी तालीम की पूरी इमारत की बुनियादी ईंटें इन्हीं दर्जों के अन्दर रखी जाती हैं। यह बुनियाद *अगर गलत हुई तो पूरी इमारत गलत होगी। हमने इन दर्जों के लिये 'बुनियादी तालीम' यानी* 'बेसिक एजूकेशन' का ढंग अख़्त्यार किया है। यह ढंग हमारी क़ौमी तालीम के लिये बहुत बड़ी अहमियत रखता है।

तालीम की दूसरी क़िस्म वह है जिसे आला तालीम या यूनिवर्सिटी एजूकेशन कहते हैं। यह तालीम हर शख़्स के लिये नहीं हो सकती। यह सिर्फ़ उतने ही आदमियों को मिलनी चाहिये जितनों की समाज को ज़रूरत हो। जिस तरह बाज़ार के हर माल के लिये यह बात देखनी पड़ती है कि 'माँग' और 'तैयारी' में यानी डिमांड और सप्लाई में मुनासिबत रहे। इसी तरह यहाँ भी डिमांड और सप्लाई में मुनासिबत होनी चाहिये। सरकारी नौकरियों के लिये यूनिवर्सिटियों की डिग्रियों की शर्त रखी गई है, इस लिये हर आदमी *डिग्री के पीछे दौड़ता है।* लेकिन जब डिग्री उसे मिल जाती है और नौकरी की ढूँढ़ में निकलता है तो उसे मालूम होता है कि जिस बात के पीछे उसने अपनी ज़िन्दगी और रुपया लगाया था, उसकी बाज़ार में कोई माँग नहीं।

अगर हम चाहते हैं कि इस ख़राबी की इस्लाह हो तो हमें तालीम का निज़ाम इस तरह का बनाना चाहिये कि तालीम पाने वालों की बड़ी तादाद सैकेंड्री दर्जा तक की तालीम पाकर मुख़्तलिफ़ पेशों, दस्तकारियों, इन्डस्ट्रियों और हुनरों में लग जाये और एक छोटी तादाद वक्त की हालत और माँग के मुताबिक यूनिवर्सिटी में रह जाये। यह ज़ाहिर है कि हम लोगों को यूनिवर्सिटी में दाख़िल होने से जबरन रोक नहीं सकते, लेकिन हम ऐसी हालत पैदा कर सकते हैं जिसके बाद ख़ुदबख़ुद लोगों का रुख़ बदल जाये और यह जो आजकल हर आदमी बेसमझे-बूझे यूनिवर्सिटी की डिग्री के पीछे दौड़ रहा है, यह हालत बाक़ी न रहे।

इस सिलसिले में एक दूसरा सवाल भी हमारे सामने आ जाता है जिस पर हमें गौर करना है। हर तरह की सरकारी नौकरी के लिये जिस तरह की और जिस दर्जे की यूनिवर्सिटी डिग्री पर ज़ोर दिया गया है, *क्या वह ठीक है?* मौजूदा हालत यह है कि सरकारी नौकरियों के लिये बुनियादी शर्त डिग्री की रखी गई है। अगर कोई उम्मीदवार डिग्री न रखता हो तो वह ख्वाह कितना ही क़ाबिल क्यों न हो, उसे सर्विस कमीशन बातचीत करने के लिये भी नहीं बुलायेगा। इस सूरतहाल का लाज़मी नतीजा

यह निकला कि यूनिवर्सिटी की डिग्री सरकारी नौकरी के लिये पासपोर्ट बन गई।

दूसरे मुल्कों में हम देखते हैं कि सरकारी नौकरियों के लिए यह तरीक़ा अख़्त्यार नहीं किया गया। मसलन्, इंगलैंड को लीजिये। वहाँ उन नौकरियों के लिये तो डिग्री की शर्त रखी गई है जो प्रोफेशनल क़िस्म की हैं—जैसे डाक्टर, इंजीनियर और प्रोफेसर की जगहें। लेकिन आम नौकरियों के लिये डिग्री पर ज़ोर नहीं दिया गया। सिर्फ़ उम्र और काम की क़ाबिलियत की शर्तें रखी गई हैं।

हमें गौर करना चाहिये कि क्यों न हम भी ऐसा ही तरीक़ा अख़्त्यार कर लें? क्यों यूनिवर्सिटी की डिग्री को सरकारी नौकरी का पासपोर्ट बनाया जाये? शर्त लियाक़त की होनी चाहिये न कि डिग्री की। मसलन् जिन नौकरियों के लिये आजकल यह बुनियादी शर्त रखी गई है कि बी० ए० की डिग्री हो, अगर उसकी जगह यह कर दिया जाये कि उम्मीदवार की आम इल्मी लियाक़त ऐसी होनी चाहिये जो एक ग्रेजुएट की होती है, तो जहाँ तक क़ाबिलियत का ताल्लुक़ है, कोई तब्दीली नहीं होगा। लेकिन जो गलत ज़ोर डिग्री पर पड गया है वह बाक़ी नहीं रहेगा। तमाम ज़ोर क़ाबिलियत पर आ जायेगा। और सिर्फ़ इतनी सी बात से पढ़नेवालों की ज़हनियत पर बहुत गहरा असर पडेगा।

यह बात याद रखनी चाहिये कि जहाँ तक प्रोफ़ेशनल कामों का ताल्लुक़ है यूनिवर्सिटी की डिग्री की शर्त रखे बगैर काम नहीं चल सकता। हमें इसमें कोई तब्दीली नहीं करनी चाहिए। जिस तब्दीली पर मैं गौर कर रहा हूँ, उसका ताल्लुक़ आम क़िस्म की नौकरियों से है। इसमें कोई शुबा नहीं कि इस तब्दीली की वजह से सर्विस कमीशनों का काम बहुत बढ़ जायेगा।

तालीम के निज़ाम के बारे में मैंने जो कुछ कहा है अब मुख़्तसर लफ़्ज़ों में उसका खुलासा सुन लीजिये

१ हमें अपना तालीमी निज़ाम नये सिरे से ढालना चाहिये। नया निज़ाम ऐसा हो जो पढ़ने वालों की बडी तादाद को सेकेंड्री दर्जे तक की तालीम देकर मुख़्तलिफ पेशों, इंडस्ट्रियों, दस्तकारियों, हुनरों में लगा सके और एक छोटी तादाद को आला तालीम के लिये यूनिवर्सिटियों में भेजे। यह छोटी तादाद ऐसी होनी चाहिये जो वक़्त की माँग का साथ दे सके।

२ इस सिलसिले में बडी तब्दीली सैकेंड्री दर्जे की तालीम में होनी चाहिए। हमारी मौजूदा सकेंड्री तालीम का नक़्शा इस ख़याल से बनाया गया था कि वह यूनिवर्सिटी में जाने वालों के लिये एक ज़रिये का काम देगा। मगर अब हमें ऐसा नक़्शा बनाना चाहिये जो सिर्फ़ "ज़रिया" ही न हो बल्कि बहुतों के लिये तालीम का मक़सद यानी आख़िरी हद हो।

३ हमने इब्तदाई और दरमियानी दर्जे के लिये जो बेसिक तालीम का ढंग अख़्त्यार किया है, उसका मक़सद यह है कि तालीम महज़ किताब ही के ज़रिये न हो, बल्कि उसका एक बड़ा हिस्सा काम काज के ज़रिये हो।

४ सैकेंड्री तालीम में ऐसी लचक होनी चाहिए कि वह मुख़्तलिफ लोगों की मुख़्तलिफ हालतों और ज़रूरतों का साथ दे सके। सैकेंड्री एजूकेशन कमीशन ने इस सिलसिले में निहायत अहम सिफ़ारिशें की हैं।

५ इस बात पर भी हमें गौर करना चाहिए कि सरकारी नौकरियों के लिए आम तौर पर जो यूनिवर्सिटियों की डिग्रियों की शर्त रखी गई है, उसे आयन्दा भी इसी तरह रहने दिया जाये या उसमें तब्दीली होनी चाहिए।

यूनिवर्सिटी की तालीम की इस्लाह का मसला भी अपनी जगह एक बडा मसला है, लेकिन मैं उसे इस वक़्त नहीं छेड सकता।

— दिल्ली से प्रसारित

जॉर्ज अरुंडेल

हरिभाऊ उपाध्याय

महात्माजी ने एक बार मुझसे कहा था कि अंग्रेज़ तो योगियों की सन्तान मालूम होते है। उनकी प्रबन्ध पटुता, नियमित और व्यव स्थित जीवन, कार्य दक्षता किसी योगी से कम नहीं। बस एक कसर है, कि उनका ज्यादा प्रयत्न दूसरों का शोषण करने के लिये होता है। दूसरे मायनों में मैं उनको कभी कभी रावण की सन्तान कहा करता हूँ। रावण भी बड़ा विद्वान् और तपस्वी था, अच्छा शासक और संगठन-कर्त्ता था, परन्तु वह रावण इसलिये कहलाया कि दूसरों को सताता था। फिर भी अंग्रेजों के गुणों का मैं भक्त हूँ और उनके मुकाबिले में कई बार हिन्दुस्तानियों को घटिया पाता हूँ।

स्वर्गीय जॉर्ज अरंडेल का ख़याल आते ही महात्माजी के पूर्वोक्त वचन याद आ जाते हैं। फर्क इतना ही है कि अंग्रेजों में दूसरों का शोषण करने की जो वृत्ति पाई जाती है, उससे श्री अरंडेल बिलकुल बरी थे। विद्वान् तो थे ही, लेकिन उनकी दृष्टि में विद्वत्ता का दर्जा जीवन-शुद्धि और जीवन सिद्धि के मुक़ाबिले में कम था। उनकी इस विशेषता ने उन्हें कोरा विद्वान् न रहने देकर थियोसफी जैसी ब्रह्म विद्या सम्बन्धी सस्था का अधिष्ठाता बना दिया।

विद्वान् अक्सर भीरु होते हैं। उनका शास्त्र-ज्ञान उनके साहस को कई बार मन्द कर देता है। पर अरंडेल बड़े साहसी और निर्भीक व्यक्ति थे। १९११ की एक घटना मुझे याद आती है, जबकि वे बनारस के हिन्दू कालेज के प्रिंसिपल थे। मेरे भर्ती होने के कुछ दिन बाद ही एक घटना हुई जिसने श्री अरुंडेल के प्रति मेरी श्रद्धा बहुत बढ़ा दी। उन दिनों भारत में बम पार्टी का बड़ा जोर था। ग्वालियर में एक षड्यन्त्र केस हुआ था, जिसमें वहाँ के विक्टोरिया कालेज के प्रोफेसर हरिरामचन्द्र दिवेकर को शायद डेढ़ साल की सज़ा हुई थी। सजा काटकर वे बनारस आये और इस फ़िराक में थे कि किसी कालेज में भर्ती होकर एम० ए० कर लें। श्री दिवेकर जब और जगह से निराश होकर श्री अरंडेल के पास पहुँचे और अपना क़िस्सा बयान किया तो उन्होंने बड़ी सहानुभूति दिखाई और फौरन् भर्ती कर लेने का आश्वासन दिया। एक हिन्दुस्तानी तो यह साहस कर ही कैसे सकता था और यूरोपियन से ऐसी आशा हो नहीं सकती थी।

केवल इतना ही नहीं, अरंडेल उन महान् अंग्रेजों में से थे जिन्होंने भारत को ही अपनी मातृभूमि मानकर एकनिष्ठता से उसकी सेवा की थी। वे उन विद्वानों में से थे जिन्होंने अपनी विद्वत्ता भारत के अशिक्षित और पिछड़े हुए लोगों को शिक्षित और प्रगतिशील बनाने में लगा दी। वे मानवता के उन सच्चे उपासकों में से थे जिनकी दृष्टि में न तो रंग या धर्म कोई

अन्तर डाल पाया था, न ऊँच या नीच। वे उन दार्शनिकों में से थे जिन्होने धर्म और सम्प्रदाय के संकुचित घेरे से ऊपर उठकर समूची मानवजाति को एकता के सूत्र में बाँधने और उसे चिरन्तन शान्ति एवं आनन्द के पथ पर अग्रसर करने के लिये शक्ति भर प्रयत्न किया था।

उनके अदम्य उत्साह और श्रद्धा का परिचय मुझे हुआ १९११ या १९१२ में, जब थियासोफिकल कन्वेंशन बनारस में हुआ और श्री जे० कृष्णमूर्ति के अवतार होने की चर्चा फैल रही थी। मुझे जहाँ तक याद है, शायद बनारस में ही पहले पहल यह घोषणा की गई थी, और श्रीमती एनीबेसेन्ट से लगाकर बड़े-बड़े थियोसोफिस्ट श्री जे० कृष्णमूर्ति के प्रति बड़ी नम्रता प्रदर्शित करते थे। उस समय मैं भी उस कन्वेंशन में गया था। श्री जे० कृष्णमूर्ति को देख कर उस समय तो मेरे मन पर कोई खास असर नहीं हुआ। उनके छोटे भाई और उनके पिता स्व० श्री नारायणैया साथ थे। मुझे वह सब अजीब सा लगा। परन्तु थियोसोफिस्ट लोग और खासकर श्री अरुंडेल बड़ी श्रद्धा से उन्हें मानते थे। मुझे आज भी याद है कि जब कभी जे० कृष्णमूर्ति का नाम भाषण में आता तो उनका चेहरा श्रद्धा से खिल उठता और वह श्रद्धा और उत्साहमयी मूर्ति आज भी मेरी आँखो में नाच रही है।

यद्यपि श्री अरुंडेल का जन्म तथा शिक्षा-दीक्षा यूरोप में ही हुई थी तथापि वे अपनी युवावस्था से ही भारत के मामलों में बड़ी दिलचस्पी लेने लगे थे। वे भारत की समस्याओं को समझने का प्रयत्न करते और यहाँ की हलचलों को ध्यान से देखते थे। भारत के लिये उनके हृदय में जो प्रेम और महानुभूति की भावना थी वह निरन्तर बढ़ती गई, और एक समय आया जब उन्होंने सन् १९०३ में बनारस के सेण्ट्रल हिन्दू कालेज में इतिहास के अध्यापक का पद स्वीकार कर लिया। इस कालेज की स्थापना श्री एनीबेसेन्ट ने की थी। सेण्ट्रल हिन्दू कालेज में वे श्रीमती एनीबेसेन्ट के निकट सम्पर्क में आये और अपना काम इतनी तत्परता और लगन से करने लगे कि वे कालेज के प्रिंसिपल के पद पर पहुंच गये। इतना ही नहीं, धीरे-धीरे वे श्रीमती एनीबेसेन्ट के प्रमुख साथी और दाहिने हाथ बन गये।

श्रीमती एनीबेसेन्ट ने प्रारम्भ में धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यों तक ही अपने को सीमित रखा था। अत श्री अरुन्डेल भी शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में ही कार्य करते रहे। अपनी विद्वत्ता एव क्रियाशीलता के कारण समय-समय पर वे इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के फैलो, नेशनल यूनिवर्सिटी मद्रास के कालेज के प्रिंसिपल, होल्कर राज्य के शिक्षा मन्त्री तथा भारत के लिबरल कैथोलिक चर्च के रिजनरी बिशप जैसे उच्च पदो पर पहुंचे। लेकिन श्रीमती एनीबेसेन्ट राजनीति में आई, तो वे भी उनके साथ-साथ इस क्षेत्र में कूद पड़े।

यह बड़ा ही नाजुक समय था। भारत की पुकार पर इस समय न तो कोई ध्यान दे रहा था, न कोई ऐसा व्यक्ति ही था जो नेतृत्व का सूत्र अच्छी तरह संभाल सके। श्रीमती एनीबेसेन्ट मे विशाल विद्या-बुद्धि, अदम्य इच्छाशक्ति एव

श्रीमती एनीबेसेन्ट

अथक कार्यशीलता का बड़ा ही सुन्दर समन्वय था। वे जानती थीं कि अब प्रस्ताव पास करने से भारत की समस्या हल नहीं हो सकती। अब तो समूचे देश में एक जोरदार आन्दोलन करना पड़ेगा। अतः उन्होंने 'न्यू इंडिया' नामक एक दैनिक पत्र निकाला तथा 'कामन-वील' नामक एक साप्ताहिक। इन पत्रों ने भारत में एक सिरे से दूसरे सिरे तक तूफान मचा दिया। इन पत्रों के, ख़ासकर 'न्यू इंडिया' के सम्पादन का काम भी श्री अरुडेल ने किया और वे इस आन्दोलन में पूरी तरह उनके साथ रहे। श्रीमती एनीबेसेन्ट का यह आन्दोलन इतना व्यापक और उग्र बना कि सरकार के लिए चुपचाप बैठना असम्भव हो गया। उसने आन्दोलन को दबाना प्रारम्भ कर दिया और भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत श्रीमती एनीबेसेन्ट के साथ अरुडेल को भी उटकमण्ड में बन्द कर दिया। इस समाचार से सारे देश में उत्तेजना फैल गई और अरुडेल की प्रसिद्धि चारों ओर हो गई।

श्री अरुडेल यद्यपि होमरूल के आन्दोलन में आगे आ गये थे, तथापि उनका प्रिय कार्य तो सेवा का ही था। बड़े-बड़े आन्दोलनों के बजाय मूक सेवक की भाँति मानवता की सेवा में लगे रहना ही उन्हें प्रिय था। बालचर आन्दोलन इस दृष्टि से उन्हें बड़ा अच्छा लगा। बालकों में सेवा भावना भर कर उन्हें देशभक्त और सच्चे नागरिक बनाने का कार्य बड़ा पवित्र और उच्च कोटि का है। वे भारतीय बालचर आन्दोलन के डिप्टी चीफ स्काऊट बने और इस पद पर उन्होंने बड़ी तत्परता और लगन से कार्य किया।

बालचर आन्दोलन की भाँति मज़दूरों की उन्नति का आन्दोलन भी उनका बड़ा प्रिय कार्य था। यूरोप में मजदूरों की उन्नति का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था और वे अपना संगठन वहाँ मज़बूत कर रहे थे लेकिन भारत में तो इस प्रकार का कोई आन्दोलन था ही नहीं। अतः श्री

मैडम ब्लेवेत्स्की थियोसोफिकल सोसायटी की संस्थापिका

अरुडेल ने इस काम में भी बड़ी दिलचस्पी ली। उन्होंने मद्रास में यह कार्य प्रारम्भ किया और मद्रास लेबर यूनियन के ऑनरेरी प्रेसीडेंट के पद पर वे बहुत दिनों तक कार्य करते रहे। मद्रास की यह लेबर यूनियन भारत की सबसे पुरानी और बड़ी यूनियन मानी जाती है।

इस प्रकार श्री अरुडेल ने सेवा के कई क्षेत्रों में काम किया, लेकिन उनका सबसे अधिक प्रिय विषय था धर्म। वे एक साधक थे। श्रीमती एनीबेसेन्ट के प्रति उनके आकर्षण का यही एकमात्र कारण था। बचपन से ही वे थियोसोफिकल सोसायटी के निर्माताओं के सम्पर्क में रहे थे। यूरोप तथा दुनिया के अन्य भागों में इस आन्दोलन को गतिशील और सफल बनाने में उन्होंने बड़ा परिश्रम किया। श्रीमती एनीबेसेन्ट की मृत्यु के बाद वे थियोसोफिकल सोसायटी के उपाध्यक्ष नामजद किये गये और बाद में उसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

उनकी 'निर्वाण', 'माउन्ट एवरेस्ट', 'फ्रीडम ऐंड फ्रेंडशिप' बड़ी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं, जिनमें उनके दार्शनिक विचारों की भागीरथी का बड़ा ही सुन्दर प्रवाह है। श्रीमती रुक्मिणी देवी से विवाह करके

मानो वे पूरी तरह भारतीय बन गये थे। उनके विवाह की घटना उस समय तो मुझे बड़ी ही विचित्र लगी। रुक्मिणी देवी उनकी शिष्या थीं। विद्यादान के उपक्रम से दोनों के प्रणय का जन्म हुआ और वे विवाह-बन्धन में बँध गये। दोनों की अवस्था में भी बड़ा अन्तर था। उस समय के हिन्दू संस्कार को ऐसे विवाह से बड़ा आघात लगा था और श्री अरुडेल के प्रति मेरी श्रद्धा को भी एक धक्का लगा। एक काल तक उनके प्रति मन में उदासीनता आ गई। बाद में दोनों ने अपने जीवन को जिस प्रकार राष्ट्रीय सेवा और परोपकार में लगाया उससे मेरे मन का वह भार हलका हो गया और अब जब कि विवाह-व्यवस्था में ही क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं, उसका एक संस्कार मात्र ही मन पर रह गया है और उसकी आलोचना का भार नष्टप्राय हो गया है। उस समय सुधारकों ने अवश्य ही यह मान लिया था कि श्री अरुडेल और श्रीमती रुक्मिणी देवी ने इस विवाह के द्वारा पूर्व और पश्चिम में एक मधुर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

श्री अरुण्डेल के विचारों की उच्चता, व्यवहार की पवित्रता, सेवा-भावना की उत्कटता और साधना कई भारतीयों में स्फूर्ति और प्रेरणा का सचार कर चुकी है और करती रहेगी। उनका जीवन अनमोल गुणों की खान था। गुणों का स्मरण करने से मनुष्य स्वयं गुणी बन जाता है। हमारे लिए भी यही बात चरितार्थ हो।

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।

—दिल्ली से प्रसारित

भारतीय संस्कृति की खोज में विदेशियों का योग

बाबूराम सक्सेना

विदेशों से भारतवर्ष का सम्पर्क आदिकाल से रहा है। जिस समय का इतिहास नहीं भी मिलता, यथा वैदिक संहिता काल का उस समय भी इस देश का सम्बन्ध अन्य जातियों और देशों से रहा होगा। संहिताओं में कई ऐसे देशवाचक और जातिवाचक नाम आए हैं जो अभारतीय मालूम होते हैं। ईसा पूर्व १४वीं शती के बोगाजकोई लेख में मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्य आदि वैदिक देवों का उल्लेख है। ईरान, चीन आदि देशों से भी हमारा सम्बन्ध प्राचीन काल से रहा है। चीन और तिब्बत में हमारे साहित्य के उत्तमोत्तम ग्रन्थों का अनुवाद हुआ जिनमें से कुछेक का ज्ञान हमें अब इन अनूदित ग्रन्थों से ही मिलता है, मूल ग्रन्थ विनष्ट हो गए। यव द्वीप, मलय, थाईदेश आदि में भी हमारी संस्कृति के साथ-साथ हमारा साहित्य भी गया और उसका आदर हुआ, इस बात के यथेष्ट प्रमाण मौजूद हैं। आज भारतीय सांस्कृतिक खोज में विदेशियों की देन की चर्चा करते समय हम चीन आदि देशों के फाहियान, ह्यूनसांग और इत्सिंग आदि साहित्य प्रेमियों को भुला नहीं सकते, जिन्होंने हमारे साहित्य का अपने देशों में प्रचार कर हमें पूर्व-काल में गौरवान्वित किया था।

सुदूर पश्चिम से हमारे सम्पर्क का प्रथम प्रमाण सिकन्दर से भारत के नरेशों का संघर्ष था। जब सिकन्दर इस देश से वापस गया, तब वह भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर कुछ यूनानी सामन्त छोड़ गया। अशोक के शिला लेखों में न केवल समकालीन यूनानी शासकों का उल्लेख है, अपितु मिस्र आदि अन्य देशों के सहयोगी नरेशों की भी चर्चा है। अशोक ने अपने धर्म का सन्देश दूर-दूर तक पहुँचाया था। जो साहित्य यहाँ से उन देशों में पहुँचा उसका पता आज नहीं चलता, पर यह असम्भव है कि वस्तु और विचारों के आदान प्रदान के साथ-साथ भाषा और साहित्य का लेन देन न हुआ हो। अरब देशवासियों ने भारतीय संस्कृति से गणित-ज्योतिष चिकित्सा के तत्त्व न केवल स्वयं ग्रहण किए, अपितु उनका प्रचार यूरोप में भी किया।

ईस्वी १५वीं शती के अंत में जब वास्कोड गामा ने भारतवर्ष के दक्खिनी छोर पर पदार्पण किया, तब से यूरोप से यात्री, सौदागर और ईसाई प्रचारक बराबर हमारे देश में आते रहे हैं। हौलैंड देश के निवासी अब्राहम रोगर ने १६५१ में भारतीय साहित्य की ओर यूरोप का ध्यान आकृष्ट किया और भर्तृहरि के कुछ सुभाषितों का अनुवाद डच भाषा में प्रकाशित हुआ। इसी ग्रन्थ का जर्मन भाषानुवाद १६६३ ई० में प्रकाशित हुआ। मलाबार मिशन में काम करने वाले एक जेसुट पादरी ने १८वीं शती ई० के आरम्भ में संस्कृत भाषा का प्रथम व्याकरण लिखा, परन्तु वह छपा नहीं। मलाबार के समुद्र-तट पर उसने १७७६ से १७८६ तक प्रचार किया और संस्कृत व्याकरण के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य पर भी आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे।

ईस्वी १८वीं शती में अंग्रेज़ भी भारतीय भाषा और साहित्य की ओर ध्यान देने लगे। वारेन हेस्टिंग्स ने हिन्दुओं के मुकदमों का भार-

तीय धर्मशास्त्र के अनुकूल निर्णय करने के लिये पंडितों द्वारा विवादार्णव-सेतु नाम का ग्रन्थ तैयार कराया। इसका पहले फारसी में अनुवाद कराया गया और फिर १७७६ ई० में फारसी से अंग्रेज़ी में। उस समय संस्कृत जानने वाला कोई अंग्रेज नहीं था। थोड़े दिनों बाद चार्ल्स विल्किंस नामक अंग्रेज़ ने काशी के पंडितों से संस्कृत पढ़ी और भगवद्गीता का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। यह बात १७८५ की है। दो साल बाद उसने हितोपदेश का और १७९५ में महाभारत के शकुन्तला आख्यान का अनुवाद प्रकाशित किया।

भारतीय साहित्य की खोज करने वालों में १८वीं शती के सर विलियम जोन्स (१७४६-१७९४) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये फ़ोर्ट विलियम, कलकत्ता, में १७८३ में चीफ जस्टिस के पद पर आए। आने के बाद शीघ्र ही इन्होंने बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। इस सोसाइटी द्वारा संस्कृत, प्राकृत आदि के कितने ही ग्रन्थों के सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित हुए हैं। १७८९ में जोन्स ने कालिदास की शकुन्तला का अंग्रेज़ी में अनुवाद प्रकाशित किया। दो वर्ष उपरान्त इसका जर्मन अनुवाद हुआ, जिसने कालिदास की अद्वितीय प्रतिभा की ओर हर्डर और गेटे जैसे विद्वानों और प्रतिभाशाली कवियों का ध्यान ही आकृष्ट नहीं किया, उन्हें चमत्कृत भी कर दिया। जोन्स ने १७९२ में ऋतुसंहार का अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित किया। दो वर्ष बाद उसने मनुस्मृति का अनुवाद भी प्रकाशित कराया।

विलियम जोन्स से ही प्रेरणा पाकर हेनरी टॉमस कोलब्रुक ने संस्कृत भाषा और साहित्य की खोज की। ये १७८२ में कलकत्ते आए। इन्होंने १७९७-९८ में हिन्दू धर्मशास्त्र के व्यवहार और उत्तराधिकार (Contract And Succession) सम्बन्धी नियमों का अनुवाद छपाया। तब से ये बराबर भारतीय वाङ्मय के अध्ययन में लगे रहे। ललित साहित्य की ओर इनका ध्यान उतना नहीं गया जितना भारतीय धर्म, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष और गणित की ओर। इनके गवेषणात्मक लेख आज भी उपादेय समझे जाते हैं। इन्होंने १८०५ में वेदों पर लेख लिख कर यूरोप का ध्यान आर्य जाति के आदिम ग्रन्थ की ओर आकृष्ट किया। इन्होंने अमरकोष, पाणिनि-व्याकरण, हितोपदेश और किरातार्जुनीय के संस्करण प्रकाशित किये। ये बहुत सा रुपया खर्च कर बहुत सी हस्तलिखित पुस्तकें विलायत ले गए। यह बहुमूल्य निधि लन्दन में अब भी सुरक्षित है।

संस्कृत भाषा और साहित्य की खोज में जर्मनी के निवासी भ्रातृद्वय श्लेगेल में फ्रीड्रिश ने पेरिस में अलेग्ज़ेंडर हेमिल्टन नाम के अंग्रेज से संस्कृत सीखी। इन्होंने १८०८ में संस्कृत भाषा पर एक ग्रन्थ लिखा और उसके साथ रामायण, मनुस्मृति, भगवद्गीता आदि कई ग्रन्थों के उद्धरणों के अनुवाद भी प्रकाशित किये। इससे जर्मनी में भारतीय संस्कृति और साहित्य के लिये प्रेम और बन्धुत्व की भावना की एक ऐसी लहर पैदा हो गई जो आज भी किसी न किसी रूप में वहाँ दिखाई पड़ती है। ऑगुस्ट विल्हेल्म जर्मनी में संस्कृत के प्रथम प्रोफेसर नियुक्त हुए। ये १८१८ में बौन विश्वविद्यालय में इस पद पर काम करने लगे। १८२३ में 'इंडिशे बिब्लिओथेक' ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प प्रकाशित हुआ। यह प्रायः सर्वांग में ऑगुस्ट की ही कृति थी। इसी वर्ष इन्होंने लैटिन में भगवद्गीता का संस्करण निकाला। १८२९ से इन्होंने रामायण के स्वसम्पादित संस्करण का प्रथम भाग प्रकाशित किया।

श्लेगल के समकालीन फ्रान्स बॉप्प ने संस्कृत का लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया और इस प्रकार भाषा विज्ञान की नींव दृढ़ की। संस्कृत के सुसम्बद्ध अध्ययन के लिए इनका संस्कृत व्याकरण और संस्कृत शब्द-कोष दोनों बड़े काम की चीज़ें हैं। साहित्य के प्रचार के क्षेत्र में इनका लैटिन अनुवाद के साथ नलोपाख्यान का संस्करण अद्वितीय महत्त्व

रखता है। यूरोप के प्राय सारे विश्वविद्यालयों मे महाभारत से उद्धृत यह उपाख्यान संस्कृत के विद्यार्थियो का पाठ्य ग्रन्थ है। जर्मनी में संस्कृत के अध्ययन अध्यापन को आगे बढाने वालों मे विल्हेल्म फॉन हुम्बोल्ट तथा जर्मन कवि फ्राडिश रुकर्ट के नाम भी उल्लेखनीय है। हुम्बोल्ट ने भगवद्गीता के विषय मे कहा था कि शायद यह ससार की गम्भीरतम और उच्चतम वस्तु है। रुकर्ट अनुवाद करने मे सिद्धहस्त थे, इनके द्वारा संस्कृत साहित्य जर्मन जाति में लोकप्रिय बना।

१८३० ई० तक शकुन्तला गीता, मनुस्मृति आदि लौकिक संस्कृत के ग्रन्थ ही प्रचारित हो पाए थे। १८०५ में कोलब्रुक ने वेद का परिचय मात्र दिया। दाराशिकोह ने उपनिषदों का फारसी में १७वी शताब्दी के अनुसार अनुवाद किया था। इस फारसी ग्रन्थ का अनुवाद लैटिन भाषा मे फ्रासीसी विद्वान् ऑकेतील दु पेरों ने १८०१—४ में प्रकाशित किया। इस 'ओपनिग्वत' को देख कर प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहॉर चमत्कृत होकर बोल उठा था कि यह ग्रन्थ तो मानव बुद्धि का सर्वोच्च उत्कर्ष है। वैदिक संहिताओं का अध्ययन १८३८ में लन्दन मे फ्रीड्रिश रोज़न द्वारा ऋग्वेद के प्रथम अष्टक के प्रकाशन से आरम्भ हुआ। रोज़न की अकाल मृत्यु के उपरान्त वैदिक अनुसधान कार्य को प्रसिद्ध फ्रासीसी विद्वान् यूजैन ब्युर्नूफ ने उठाया। १८४०—५० के बीच ब्युर्नूफ और उनके उत्साही शिष्यों ने इस अनुसधान की नींव दृढ की। रोट ने वैदिक साहित्य और इतिहास पर १८४६ मे एक उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित किया। ब्युर्नूफ से ही प्रेरणा लेकर मैक्समूलर ने बडे अध्यवसाय से सायण भाष्य समेत ऋग्वेद का संस्करण १८४९—७५ मे प्रकाशित कराया। ऋग्वेद संहिता मात्र औफ्रेष्ट ने १८६१—६३ मे प्रकाशित की थी।

हम लोग ब्युर्नूफ के केवल वैदिक अनुसधान के लिये ही ऋणी नहीं हैं। इन्होंने १८२६ मे लासेन की मदद से पाली पर निबन्ध प्रकाशित किया, जिसने बौद्ध धर्म और दर्शन के अध्ययन के लिये नई सामग्री की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया। लासन ने १८४३–६२ ई० में जर्मन भाषा मे 'इडिशे ऑल्टेर ट्यूम्स्कुडे' नाम की एक ग्रन्थमाला भी चार जिल्दो में, प्रकाशित की जिसमें भारतीय तत्त्व की सारी सामग्री एकत्र है। भारतीय साहित्य के अध्ययन के लिये ओटो ब्यूटलिंग और रुडोल्फ रोट द्वारा सेंट पीटर्सबर्ग मे प्रकाशित संस्कृत कोष है। इसकी छपाई १८५२ मे आरम्भ हुई और १८७५ मे समाप्त हुई। यह कोष सात बड़ी बडी जिल्दो में है। वेबर ने १८५२ मे भारतीय साहित्य का इतिहास प्रकाशित किया। इसका दूसरा सशोधित संस्करण १८७६ में निकला। जो साहित्य पश्चिमी ससार को १८५१ तक अज्ञात था, जिसके केवल प्राय एक दर्जन ग्रन्थों का उल्लेख वेबर के इतिहास के प्रथम संस्करण में हुआ, उसकी तुलना उन हज़ारों संस्कृत ग्रन्थो की संख्या से कीजिए जिनका नामोल्लेख औफ्रेस्ट की "कैटालोगस कैटालोगरम" में है। इस सूची के तैयार करने में औफ्रेस्ट को चालीस साल लगे। इसका छपना १८८१ में आरम्भ हुआ और १९०३ मे समाप्त हो पाया। १९०३ के बाद संस्कृत के बहुतेरे अन्य ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त हुई है। इस सम्बन्ध मे सिल्वैं लेवी और विन्टरनित्स के नाम स्मरणीय हैं।

बौद्ध साहित्य के अनुसन्धान कार्य की सच्ची नींव पाली टैक्टस् सोसाइटी की स्थापना से पडी। इस सस्था को टी० डब्ल्यू० रीज़ डेविड्स ने १८८२ मे जन्म दिया। वे स्वय और उनकी विदुषी पत्नी दोनो पाली ग्रन्थो के प्रकाशन मे जीवन भर लगे रहे। प्राय त्रिपिटक के सारे ग्रन्थ तथा अन्यान्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला मे प्रकाशित हुए हैं। रीज़ डेविड्स दम्पती ने अंग्रेज़ी मे भी कई ग्रन्थों का अनुवाद करके उनको सुबोध बना दिया है। इसके पूर्व १८५५ में फ्राउसबोल ने छ जिल्दो मे पाली जातक प्रकाशित

किये थे। जातक मूल पाठ और अर्थकथा का यही रोमन संस्करण भारतीय विद्यार्थियों के काम में आता है, क्योंकि अन्य संस्करण सिंहली अथवा स्यामी लिपि में हैं।

लन्दन की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने भी भारतीय साहित्य के ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। इनमें मिलिन्दपन्हो नाम का पाली ग्रन्थ उल्लेखनीय है।

जैन ग्रन्थों के प्रकाशन में भी यूरोपीय विद्वानों का विशेष हाथ रहा है। वेबर ने १८८३-८४ में जैन धर्म ग्रन्थों की सामग्री के आधार पर ग्रन्थ प्रकाशित कर विद्वानों का विशेष ध्यान आकृष्ट किया। याकोबी ने आचारांग सूत्र और अपभ्रंश ग्रन्थ 'भविसयत्तकहा' के सुसम्पादित संस्करण निकाले। शूब्रिंग सम्पादित आचारांग सूत्र आज इस प्राचीन सूत्र का सर्वश्रेष्ठ संस्करण है। शार्पेंटियर का उत्तराध्ययन सूत्र भी बहुत अच्छा सम्पादित हुआ है।

व्याकरण और कोष के क्षेत्र में भी हम पश्चिमी विद्वानों के ऋणी हैं। संस्कृत के कई व्याकरण जर्मन और अंग्रेज विद्वानों ने उपस्थित किये। इनमें ह्विटनी का व्याकरण अधिक लोकप्रिय हुआ। वैदिक भाषा का व्याकरण जर्मन में वाकर्नागल का सर्वांगपूर्ण है। पिशेल का प्राकृत व्याकरण आज भी अद्वितीय समझा जाता है। पाली के कई व्याकरण पश्चिमी मनीषियों के बनाए हैं। इनमें गाइगर का सर्वश्रेष्ठ है। कोषों में सेंटपीटर्सबर्ग के वैदिक कोष का ऊपर उल्लेख हो चुका है। मोनियर विलियम्स का संस्कृत अंग्रेजी कोष बहुत लोकप्रिय साबित हुआ। पाली के दो कोष उल्लेखनीय हैं—चाइल्डर्स का तथा राज डेविड्स स्टैड का।

प्राकृत के लौकिक साहित्य के क्षेत्र में स्टेनकोनो और लैनमान के हार्वर्ड ओरियंटल सिरीज में प्रकाशित कर्पूरमंजरी के संस्करण विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारतीय साहित्य के अनेक ग्रन्थों को समझने के लिये मैक्समूलर द्वारा सम्पादित 'सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट' ग्रन्थमाला लन्दन से प्रकाशित हुई। यह ५० बड़ी जिल्दों में है, और बड़े काम की है। वेद का अनुवाद लुडविग ने जर्मन भाषा में किया और ग्रिफिथ ने अंग्रेजी में। बहुत से भारतीयों को भी वेद का समस्त ज्ञान इन्हीं अनूदित ग्रन्थों से हुआ है। अमेरिका की कोलंबिया संस्कृत सिरीज में डॉ॰ रॉस ने बड़े उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इनमें धनंजय के दशरूपक का अनुवाद उल्लेखनीय है। इस अनुवाद के साथ साथ नाट्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन भी है जो बड़े काम का है।

वर्तमान युग में भारतीय साहित्य से परिचय अब प्रायः तीन सौ वर्ष का है। इस काल में यूरोपीय विद्वानों ने साहित्य के सभी क्षेत्रों के ग्रन्थों के वैज्ञानिक रीति से सुसम्पादित संस्करण, सुपाठ्य अनुवाद तथा भाषा और साहित्य पर गवेषणात्मक निबन्ध और लेख प्रकाशित किये। यह सारी सामग्री उन्होंने मुख्य रूप से अपने देशवासियों के लिए उपस्थित की थी। पर यह सामग्री हम भारतीयों के भी विशेष काम की साबित हुई। भारत में प्राचीन साहित्य का अध्ययन सीमित पंडितवर्ग में ही बाकी रह गया था। अंग्रेजी शासन काल में बहुत से पश्चिमी विद्वान् यहाँ के कॉलेजों में उच्च पदों पर सुशोभित हुए और उन्होंने अनेक भारतीयों को यहां के प्राचीन साहित्य की ओर प्रेरित किया। यह प्रेरणा कम महत्त्व नहीं रखती। भारतीय विश्वविद्यालयों में आज भी संस्कृत पाली प्राकृत के अनेक विद्वान् इन्हीं पश्चिमी विद्वानों के शिष्य हैं, और अपने गौरवपूर्ण प्राचीन साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में दत्तचित्त हैं।

—इलाहाबाद से प्रसारित

☆

सेहत ख़राब है

कृष्णचन्द्र

ग़ालिब ने यह समझ लिया था कि दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना, लेकिन यह न समझा था कि अक्सर अवक़ात ख़ुद दवा जब हद से गुज़रती है तो दर्द बन जाती है, और कभी कभी न कोई दर्द होता है, न दवा होती है। महज़ एक ख़्याले ख़ाम होता है जो बढ़ते-बढ़ते मर्ज़ की सूरत अख़्तियार कर लेता है, इस हद तक कि अच्छे भले आदमी अपने तईं कहने लगते हैं कि यारो मेरी सेहत ख़राब है।

किसी दूसरे का ज़िक्र करने से पहले अपना ज़िक्र करना ज़रूरी है कि हर मर्ज़ की हदें यहीं से शुरू होती हैं। बचपन में मुझे थूकने की बहुत बुरी आदत थी, माँ बाप के मना करने पर भी मैंने इस आदत को तर्क नहीं किया। कहता था, भई हलक़ में थूक ज़्यादा है इसलिये थूकता हूँ। न हो तो कहाँ से थूकूँ। इस ज़िमन में बहुत से डाक्टरों से भी मशवरा किया लेकिन किसी को मेरे हलक़ में कोई ख़राबी नज़र न आई। होती तो भला नज़र न आती। यहाँ तो महज़ ख़्याले ख़ाम था जिसकी तशख़ीस मुमकिन न थी। नतीजा यह हुआ कि जो आदत थी वह मर्ज़ बन गई और बीस पचीस साल गुज़र गये, मुझे बार-बार कहना पड़ा, 'यारो मेरा हलक़ ख़राब है, हालाँकि शुरू में सिर्फ़ आदत ख़राब थी। आगे चलकर और क्या ख़राबियाँ नमूदार होंगी, यह मुस्तक़बिल के पर्दे में हैं और इनके जी में जाने कब क्या आये कि वह उरियाँ हो।

मैं इस हद तक तो गुस्ताख़ी नहीं करूगा कि बरमला कह दूं कि हर शख़्स अपनी ज़िन्दगी में एक ख़्याले ख़ाम पाल लेता है जो आगे चलके उसके जी का रोग बन जाता है और उसकी सेहत को ख़राब कर देता है। लेकिन यहाँ चन्द एक मिसालें ज़रूर पेश करूगा जिससे इस ख़्याले ख़ाम की निशानदिही हो सके जिसने बहुत से लोगों की सेहत ख़राब कर रखी है। फिर इस निशानदिही का एक फ़ायदा यह भी है कि सुननेवाला अपने दिल के ख़ाने में टटोल सकता है, मुबादा कोई ऐसा ही ख़्याले ख़ाम उसके किसी अँधेरे कोने में पड़ा हो जिसने मरीज़ की जिस्मानी या ज़िहनी सेहत ख़राब कर रखी हो।

मेरे एक दोस्त हैं, मैं नाम नहीं बताऊगा, मुमकिन है आपके भी दोस्त हों। सेहत देखिये बिलकुल अच्छी ख़ासी है। क़हक़हा भी ज़ोर का लगाते हैं। खाने पीने में बुख़्ल से काम नहीं लेते। उनसे जब मिलने जाइये, सो रहे होते हैं। इसके बाद भी जब आप उनसे पूछिये— कहिये मिज़ाज कैसा है? फ़ौरन जवाब देंगे— सेहत ख़राब है, सर में हल्का हल्का दर्द है, जिस्म टूट रहा है, हरारत भी महसूस हो रही है। मगर आइये बैठिये। आपके लिये क्या मगाऊँ, चाय या लस्सी?

इसके बाद मिज़ाजपुरसी हो चुकेगी तो आप एक प्याला चाय पियेंगे और वह चार प्याले चाय डकार जायेंगे और साथ में आध सेर दाल-मोठ भी हज़्म कर जाएंगे और क़हक़हा लगाते हुये आपको दिलचस्प लतीफ़े भी सुनाते जायेंगे, क्योंकि उनकी सेहत ख़राब है, सर में हल्का

दर्द है, जिस्म टूट रहा है, हरारत भी महसूस हो रही है।

सर में दर्द और पेट में दर्द ऐसी तकलीफ़ें हैं जिनकी तशख़ीस कोई डाक्टर नहीं कर सकता। कोई एक्स-रे इस दर्द की तस्वीर नहीं उतार सकता। इसी तरह जिस्म का टूटना है, किसी शाख़ का टूटना तो है नहीं कि आप अपनी आँखों से देख सकें। रहा जिस्म की हरारत का सवाल तो बन्दए ख़ुदा अगर जिस्म में हरारत भी महसूस न होगी तो आदमी ज़िन्दा कहाँ से रहेगा। मगर इन बातों से मेरे दोस्त पर कोई असर नहीं होता। वह संजीदारू होकर अपना हाथ आगे बढ़ाकर कहते हैं—देख लो बुख़ार है। और आप हाथ देखकर कहते हैं—तुम्हें तो ठंडा बुख़ार है। मालूम होता है वही तो है ठंडा बुख़ार, यानि ख़याले ख़ाम।

ठंडा बुख़ार बहुत से लोगों को होता है लेकिन इसका सबसे दिलचस्प तजुर्बा एक बैंक के मैनेजर को हुआ। एक क्लर्क उसके पास छुट्टी की दरख़्वास्त लेकर आया—क्योंकि सेहत ख़राब थी।

मैनेजर ने कहा—वैल मैन ! तुम्हें क्या ख़राबी है ?

क्लर्क ने जवाब दिया—साहब, मुझे बुख़ार चढ़ रहा है, और आगे हाथ बढ़ा दिया।

मैनेजर ने हाथ छुआ। हाथ बर्फ़ की तरह ठंडा था, बोला—वैल मैन ! तुमको कैसा बुख़ार है ? तुम्हारा हाथ तो बिल्कुल ठंडा है।

क्लर्क ने जवाब दिया—साहब ! ग़रीब आदमी हूँ, टेम्परेचर कम है।

मैनेजर को छुट्टी देते ही बनी, क्योंकि ख़याले ख़ाम का टेम्परेचर से क्या तअल्लुक़। टेम्परेचर ऊँचा हो या नीचा—कम हो या ज़्यादा, इससे ख़याले ख़ाम पर कोई असर नहीं पड़ता, और न ही इस ख़राब सेहत पर किसी दवा का असर होता है। मैंने ऐसे लोग देखे हैं जिनकी सेहत बारह महीने ख़राब रहती है। ऐसे आदमी मसूरी से नैनीताल—नैनीताल से उटकमंड—उटकमंड से श्रीनगर—श्रीनगर से शिमला का चक्कर लगाते ही रहते हैं, और शहर के हर डाक्टर को जानते हैं। उनकी तश-ख़ीस कभी किसी एक मर्ज़ पे नहीं हुई। उन्हें हर रोज़ अपने लिये एक नया मर्ज़ और अगर कोई नया मर्ज़ न मिल सके, तो उसका एक नया नाम चाहिये जो सुबह चाय बिस्कुट के साथ उन्हें मिलना चाहिये, वरना दिन भर उनका मिज़ाज बिगड़ा रहेगा। इस क़िस्म का ख़राबिये सेहत की शिकायत करने वाले लोग बिल्कुल हट्टे-कट्टे, मोटे-ताज़े, सुर्ख़ व सफ़ेद रंग के होते हैं। यह लोग हर रोज़ मुर्ग़ खाते हैं, टॉनिक पीते हैं, दो मील की सैर करते हैं और रोज़ रात के दस बजे बिला नाग़ा सो जाते हैं, क्योंकि सेहत ख़राब है।

इन लोगों में से जिनकी सेहत बहुत ख़राब होती है वह हिन्दुस्तान में भी नहीं रहते, बल्कि हिन्दुस्तान से बाहर जाते हैं। जिसकी सेहत जितनी ज़्यादा ख़राब होगी, वह उतना ही हिन्दुस्तान से दूर जायगा। मेरे एक दोस्त इसी ख़राबिये सेहत की बिना पर तहरान में अपनी ज़िन्दगी के दिन पूरे कर रहे हैं। दूसरे एक दोस्त इसी वजह से ग्यारह साल से पेरिस में मुक़ीम हैं। एक और साहब हैं जिन्हें स्विटज़रलैंड के सिवा और किसी जगह की हवा रास नहीं आती। एक दोस्त पिछले १२ साल से होनोलूलू में बिस्तर मर्ग पर पड़े हैं। हर ख़त में लिखते हैं, बस यह मेरा आख़िरी ख़त है, अलविदा ! इस १५ साल के तवील अर्से में उनके बहुत से अच्छे ख़ासे तनोमंद दोस्त जिन्हें कोई बीमारी न थी, अगले जहान को सिधार गये, मगर यह मेरे दोस्त अभी तक होनोलूलू में डटे हुये हैं, क्योंकि उनकी सेहत ख़राब है।

यह लोग अपने वतन से दूर रहकर अपनी सेहत ठीक करने में लगे रहते हैं और इस काम के सिवा दिन भर उन्हें कोई काम नहीं होता। सिवाय के

तौर पर मेरा जो दोस्त पेरिस मे मुक़ीम है उस बेचारे का दिन भर का प्रोग्राम कुछ इस तरह का होता है—

सुबह उठे, चाय पी और चाय के साथ विटामिन 'ए' की एक गोली निगल ली। फिर शेर बनास्र गर्म पानी से नहाये और नाश्ता लाने वाली वेट्रेस से हँस के दो बातें की। नाश्ता बहुत मुख्तसर होता है। यही, दो अंडे फ्राई, आध पाव मक्खन फ्रांसीसी शहद, अंगूर की जेली, चिकिन रोस्ट या टर्की रोस्ट, ख़स्ता फ्रांसीसी ब्रेड और शराब की एक बोतल और इसके बाद विटामिन बी, सी, डी की एक जामिआ गोली।

नाश्ते क बाद कपडे पहने और छडी हाथमे लेकर बुलवर्ड शेरा शारा के दरख़्तों के तले चहलक़दमी करने चले गये, या डा० मसियो ओलोर से मुलाक़ात करते और उस रोज़ के नये मर्ज़ का नाम मालूम करते हैं। थोडा सा वक्त गुजार दिया। उधर से गुजरे और अगर धूप खिलती हुई मालूम पडी तो दरियाये सीन के किनारे मछलियाँ पकडने चले गये। वहा उनकी एसे दोस्तो क साथ मुलाक़ात हो गई जिनकी सेहत उनसे पहले की ख़राब थी। दिल को एक गूना तस्कीन हुई। होटल मे वापिस आकर लच खाया। लच भी नाश्ते की तरह मुख्तसर होता है, जुमला कोर्स के बाद शराब की एक बोतल पर ख़त्म होता है। इसके बाद विटामिन ए, बी, सी, डी, ई, एफ से ज़ेड तक की एक जामिआ गोली निगल ली और बिस्तर पर कहलूला करने की नियत से लेट गये।

ढाई बजे सोये थे, जब जागे तो पाँच बज रहे थे। जल्दी-जल्दी उठकर चाय पी ली—चाय लानेवाली वेट्रैस से दो चार बातें की। फिर गर्म पानी से नहाये, फिर कपडे बदले और बाहर घूमने चले गये। घूमने मे बहुत कुछ आ जाता है। इस घूमने मे डाक्टर से ताक़त का इंजेक्शन लिया जाता है, फव्वारो वाले बाग की सैर होती है, जहाँ मदाम दिबरां या मदमोज़ेल रोवो-दोवा, जिनकी सेहत भी उनकी तरह ख़राब होती है, उनकी इन्तज़ार मे होती हैं। एक दूसरे के मर्ज़ का हाल पूछने के बाद कमर मे हाथ डाल के एक दूसरे को गोया दुनिया की मुसीबतो के ख़िलाफ सहारा देते हुये किसी जगह पर डिनर खाते हैं और फिर नगी औरतो का डान्स देखते हैं या किसी नाइट क्लब मे रात के चार बजे तक नाचते रहते हैं क्योंकि सेहत ख़राब है।

बीच मे कभी-कभी चन्द सालो के बाद मेरे दोस्त को वतन के प्रेम का दौरा पडता है और वह हिन्दुस्तान वापिस आने की सोचता है। वह इसी मजमून के दो चार ख़त मुझे लिखता है। जिससे मालूम होता है कि अब वह ख़राबिये सेहत से इस क़द्र उकता चुका है कि हिन्दुस्तान आकर अपने वतन मे मरना चाहता है। मगर मै हमेशा उसे इस ख़्याले ख़ाम से बाज रखता हूँ। इसमे उसका ही भला है और पेरिस का भी। बाक़ी अपनी कहिये, किसी न किसी तरह दिन काट लेंगे। ख़ुदा ने हमे बुरी सेहत नही दी, वरना हम भी पेरिस न जाते तो टिम्बकटू तो ज़रूर जाते।

मै अगर यह कहूँ कि ख़राब सेहत रखने वाले आम तौर पर हट्टे-कट्टे होते है, तो यह एक मुबालिगा आमेज हक़ीक़त होगी। मैंने ऐसे लोग भी देखे है जो बाग की तरह लम्बे और पतले होते है और साप की तरह खाते है। ऐसे लोग भी, जो चूहे की तरह छोटे और नहीफ होते है, लेकिन दस्तरख़्वान पर शेरो की तरह गुर्राते है और मामले को इतनी जल्दी साफ कर देते हैं कि आप हैरत से सोचते रह जाते हैं कि इस नहीफ बदन के अन्दर वह कौन सी ख़ुफ़िया कमानी या कल लगी हुई है जो दस आदमियो के खाने को इतने पतले से एक जिस्म मे ठूँस देती हैं, बल्कि गायब कर देती है, कि दस्तरख़्वान पर सिवाय ख़ाली हाथों के और कुछ बाक़ी नहीं रहता। इसके बाद मेरे दोस्त हाथ खींच के बडी हसरत से कहते हैं, सेहत ख़राब है, वरना ... ...

वरना क्या हमें भी खा लेते ?

इनके अलावा और तरह-तरह के लोग हैं। क्योंकि सेहत ख़राब होती है तो तरह-तरह के रंग बदलती है। एक साहब हैं जिनकी टाँगें हमेशा दर्द करती रहती हैं, लेकिन अगर कहीं चल दिये तो दस मील तक चले जायेंगे और कभी रुकने का नाम न लेंगे। एक साहब के दाँतों में हमेशा दर्द रहता है, लेकिन वक़्त पड़ने पर बादाम क्या लोहे की कील तक चबा जाते हैं। एक साहब हैं जिनकी आँखें सदा दुखती रहती हैं लेकिन दिन में तीन बार सिनमा देखते हैं। हाँ भई, अपना अपना मर्ज़ है, अपनी अपनी सेहत है, जिस तरह से जी चाहे, ख़राब कर ले यहाँ कौन पूछने वाला है।

ख़याले ख़ाम जब ख़ाम ही नहीं रहता बल्कि पुख़्ता हो जाता है तो जुनून की सूरत अख़्तियार कर लेता है। मैं एक साहब को जानता हूँ जिन्हें यह वहम था कि वह काँच के बने हुये हैं। चुनाँचे राह चलते फिरते, उठते-बैठते हर समय अपने आप को इस तरह लिये दिये रहते थे कि कहीं किसी से टक्कर न हो जाये और उनके नाज़ुक जिस्म का आबगीना छन से टूट न जाये। मेरे यह दोस्त आज कल आगरे के पागलख़ाने में हैं। एक और दोस्त हैं जो इस ख़याले ख़ाम में मुब्तला हैं कि उनके सिर पर मुर्ग़ का सिर लगा हुआ है। आप अक्सर महफ़िल में उठकर बाग दिया करते थे। यह भी आजकल वहीं हैं। असल में इन तरह के ख़याले ख़ाम का तअल्लुक़ जिस्म की बनिस्बत दिमाग से होता है। और जब दिमाग ही बिगड़ जाता है तो उसका इलाज बड़ा मुश्किल हो जाता है। फिर यह बात भी याद रखने की है कि सेहत सिर्फ़ आदमी की ही ख़राब नहीं होती बल्कि समाज की सेहत भी ख़राब होती है। यह अमल दोतरफ़ा होता है। यानी बहुत से ख़राब सेहत रखने वाले लोग समाज की सेहत को ख़राब कर देते हैं और ख़राब सेहत रखने वाला समाज अच्छे भले आदमियों की सेहत को ख़राब करता रहता है। इस बात को ज़्यादा लम्बा न करके यहां सिर्फ़ इतना कहना काफ़ी है कि जब समाज की सेहत ख़राब होती है तो इतना कहना काफ़ी नहीं है कि सेहत ख़राब है। इसके साथ यह भी कहना पड़ता है कि सेहत के साथ नियत भी ख़राब है।

—बम्बई से प्रसारित

गुरु गोरखनाथ का शिष्य को उपदेश

बड़ी आयु की स्त्री तुम्हारी माँ के समान है, छोटी को बेटी, और समान आयु की स्त्री को बहिन समझना। किसी एक स्थान पर टिक नहीं रहना। नज़र नीची रखना। धार्मिक भजन गाकर प्रचार करना। मांग कर खा लेना, जहाँ से जो खाने को मिले, ले लेना। कपड़े जोगिया जैसे पहनना, गर्मी सर्दी सहन करना। कोई मित्र नहीं बनाना, आत्मा की आवाज़ को सुनना और आत्मा की खोज और पहिचान में लगे रहना। करामात नहीं दिखानी। किसी देवी-देवता को नहीं मानना पूजना। केवल एक भगवान् के प्रेम में मस्त रहना और उसे सब रूपों में परिपूर्ण समझना।

—मोहनसिंह (जालन्धर)

अहं से मेरे बड़ी हो तुम

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

अह से मेरे बडी हो तुम ।
क्योंकि मेरी शक्तियों की
हर पराजय जीत की
अन्तिम कडी हो तुम ।
जहाँ रुक कर
फिर नई मैं टेर गढता हूँ,
भूमि पैरों के तले मेरे न हो फिर भी
हर नए संघर्ष के विष शृंग चढता हूँ
क्योंकि, अन्तर मे
अतल गहरे
आस्था के टूटते असहाय रथ के चक्र थामे
नित खडी हो तुम ।
अह से मेरे बडी हो तुम ।
प्रिय इसी से तुम्हारे सम्मुख
मौलश्री की डाल मैंने झुका दी है,
और बौने प्यार के कर मे
अहं की जयमाल ला दी है,
क्योंकि मैं,
उखड कर जिस जगह से गिर पडा
वहीं पर दृढ हो गडी हो तुम ।
अह से मेरे बडी हो तुम ।
एक पत्थर की घडी हो तुम,
कि जिस पर छाँह चलती है
जडे मेरे अह की
बाँधने को विकल
एक टूटा घूमता असहाय हाथ,
काल की बेलौस छाती पर
प्यार का असफल प्रयास,
किन्तु इस पर भी
अह मेरे हर विकल विद्रोह के सर पर
मौन कलँगी सी जड़ी हो तुम ।
अहं से मेरे बड़ी हो तुम ।

—इलाहाबाद से प्रसारित

दो चीनी यात्री

मन्मथनाथ गुप्त

चीन हमारा पड़ोसी देश है। चीन ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया, तब स्वाभाविक रूप से वहाँ के धार्मिक नेता बौद्ध पुस्तकों की खोज में भारत आये, और उन्होंने लौट कर जो कुछ लिखा, वह भारतीय इतिहास के लिए बड़े महत्त्व की वस्तु है। भारतीयों में इतिहास लिखने की परिपाटी कम थी, इस कारण इन वर्णनों से उस समय कैसी राज्यपद्धति थी, लोगों के विचार तथा रहन-सहन कैसा था, इसे जानने में बड़ी सहायता मिली है। दो सबसे प्रसिद्ध चीनी यात्री हो गये हैं—फ़ाहियान और ह्वेनसांग। फ़ाहियान चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में, और ह्वेनसांग हर्षवर्धन के समय में भारत आये थे।

फ़ाहियान

फ़ाहियान अपने घर चांगआन से, जिसे आजकल सियानफ़ू कहते हैं, भारत के लिये रवाना हुये। यह ३९९ ई० यानी आज से साढ़े पन्द्रह सौ वर्ष पहले की बात है। आज जो कोई चीन से आता है, उसके लिये तो रास्ता साफ़ है। वह चीन के किसी बन्दरगाह से जहाज़ द्वारा सिंगापुर होता हुआ किसी भी भारतीय बन्दरगाह में आ सकता है। इसके अतिरिक्त हवाई जहाज में बैठकर थोड़े समय में हांगकांग, सिंगापुर, रंगून होता हुआ कलकत्ता पहुँच सकता है।

फ़ाहियान ने सारे मध्य एशिया की पैदल यात्रा की, और वे छः साल में भारत पहुँचे। उनके साथ उनके पाँच और मित्र थे। इनमें से दो रास्ते में मर गये और दो रास्ते की कठिनाइयों से घबड़ाकर वापस चले गये। इस प्रकार दो ही मित्र यानी फ़ाहियान और उनके एक मित्र ही भारत पहुंचे। इन दो में से एक तो भारत में ही बस गया और अपने देश को वापस नहीं लौटा। फ़ाहियान ही ऐसे निकले जिन्होंने अपनी यात्रा के सारे उद्देश्यों को छः साल में पूरा करके घर का रास्ता लिया।

फाहियान ने भारत में रह कर संस्कृत सीखी। उन्होंने बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। जब वे देश लौटे तो चीनी भाषा में जो पुस्तक उन्होंने लिखी, उसी से हम फाहियान तथा उस समय के भारत के विषय में बहुत कुछ जान पाते हैं। सबसे मजे की बात यह है कि फाहियान ने अपनी यात्रा का जो वर्णन लिखा, उसमें यहां के राजा चन्द्रगुप्त या अन्य किसी भी जीवित राजा का उल्लेख नहीं किया। इसकी उन्होंने ज़रूरत ही नहीं समझी। वे तो यहां की संस्कृति और साहित्य के विषय में जानने के लिये आये थे। यहां कैसी सरकार थी तथा यहां के लोग कैसे थे—इस सम्बन्ध में उन्होंने बहुत कुछ लिखा है।

उन्होंने लिखा है कि यहां के लोग ख़ुशहाल और सुखी थे। उन्हें इस बात पर बहुत आश्चर्य हुआ कि उनके देश में आम लोगों पर जिस तरह के बन्धन थे, यहाँ भारत में उनका पूर्णरूप से अभाव था। उन्होंने यह भी लिखा कि यहां टैक्स कम थे। जो लोग राजा की ज़मीन जोतते थे, उन्हें अपनी आय में से एक अंश देना पड़ता था। किसान आनन्द में थे। लोगों के साथ न्याय किया जाता था। दोनों पक्षों को सुनने का तरीक़ा था। बहुत कम मामलों में शारीरिक

सज़ा दी जाती थी। अपराधों के अनुसार लोगों पर जुर्माने किये जाते थे। यदि कोई व्यक्ति राजद्रोह भी करता तो उसे मामूली सज़ा दी जाती थी। पर यदि कोई बार-बार राजद्रोह करता था तो उसका दाहिना हाथ काट लिया जाता था।

यदि फाहियान की बात मानी जाये तो उस समय भारत में कोई मांसाहारी नहीं था। यहा तक कि लोग प्याज़, लहसुन भी नहीं खाते थे और न कोई शराब पीता था।

बौद्ध धर्म का बडा ज़ोर था। सर्वत्र बौद्ध मठ बने हुये थे, जहा हजारों की सख्या मे भिक्षु रहते थे। बौद्धो और ब्राह्मणों मे कोई झगडा नही था, और दोनों एक दूसरे के उत्सवो में शरीक होते थे। विदेशी होने के कारण किसी ने फाहियान के साथ किसी प्रकार का बुरा सलूक नही किया, बल्कि वे जहा भी गये, उनका स्वागत हुआ।

फाहियान ने मगध के निवासियों को बहुत दान देते हुये पाया। उन्होंने वहाँ सर्वत्र मुफ्त इलाज करने के लिये अस्पताल देखे। यहाँ पर यह बात बता दी जाय कि यूरोप में भी पहला निःशुल्क अस्पताल इसके पाच सौ वर्ष बाद स्थापित हुआ। जानवरों के लिये भी अस्पताल थे। राहगीरों के लिये सरायें बनी हुई थीं। जब वे पाटलिपुत्र पहुँचे, तो उस समय तक अशोक महान् का राजमहल ज्यों का त्यों मौजूद था। इस राजमहल को देख कर उन्हे आश्चर्य हुआ, क्योंकि वह बडे-बडे पत्थरों से बना हुआ था, तथा उसमे तरह-तरह के काम थे। फाहियान इस महल को देखकर इतने आश्चर्य में पड गये कि उन्होंने लिखा है कि यह महल मनुष्यों द्वारा नहीं बनाया हुआ हो सकता। उन्हें यह देखकर दुख हुआ कि भगवान् बुद्ध का जन्म-स्थान कपिलवस्तु जगल बन चुका है और गया जहा पर बोधि वृक्ष है वीरान-सा था।

पाटलिपुत्र में फ़ाहियान को जो धर्म-ग्रन्थ चाहिये थे, वे मिले। इस प्रकार वे छ साल तक भ्रमण करने के बाद बगाल के ताम्रलिप्ति नामक बन्दरगाह से सिहल (लका) पहुँचे। वहाँ दो साल रहने के बाद वे समुद्र की गडबडियो के कारण बहुत दिनों तक भटकते-भटकाते ४१४ ई० में चीन पहुँच गये।

ह्यूनसांग

फ़ाहियान के सवा दो सौ साल बाद ह्यूनसाग या यू आन-चाग भारत में बौद्ध धर्म का अध्ययन करने आये। वे ६२९ ई० मे चीन से चले। उस समय उनकी उम्र २६ साल की थी, और वे उसी उम्र में एक विद्वान् के रूप मे ख्याति प्राप्त कर चुके थे। वे भी घूम कर मध्य एशिया के रास्ते से भारत में आये। जब वे कश्मीर पहुँचे, और कश्मीर के राजा

को उनके आने का पता चला तो सड़कों पर फूलों और सुगन्ध का छिड़काव किया गया। यहीं पर ह्यूनसांग ने संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया और साथ ही साथ शास्त्रों का भी अध्ययन किया। जब कश्मीर के राजा को यह ज्ञात हुआ कि वे यहाँ के संस्कृत ग्रंथों की नक़ल साथ ले जाना चाहते हैं, तो उन्होंने ह्यूनसांग को बीस पंडित दिये, और कहा कि इनसे आप नक़ल कराने का काम लीजिये।

कश्मीर में अपना काम समाप्त करने के बाद वे भारत में पूर्व की ओर बढ़े। नालन्दा विश्वविद्यालय में उनका स्वागत हुआ और वे पाँच साल तक नालन्दा में रहे। राजा हर्ष ने उन्हें बार बार बुलाकर उनके मुख से धर्म की बात सुननी चाहीं, पर वे उस समय गंभीर अध्ययन में लगे हुये थे, इसलिये उन्होंने नम्रता के साथ इस निमंत्रण को अस्वीकार किया। कामरूप के राजा कुमार की तरफ से भी इसी प्रकार का एक निमंत्रण आया, पर उन्होंने उसे भी अस्वीकार किया। जब तीसरी बार निमंत्रण आया तो उसके साथ धमकी भी थी कि यदि वे नहीं गये तो उन्हें राजा कुमार अपनी फौज भेज कर पकड़वा ले जायेंगे। इस पर नालन्दा विश्व विद्यालय के शीलभद्र ने उन्हें सलाह दी कि वे कामरूप जायें।

जब हर्ष को पता लगा कि उनके अधीन कुमार ने इस प्रकार उन्हें ज़बर्दस्ती बुलवाया है, तब उन्होंने हुक्म दिया कि फौरन चीनी यात्री को मेरे पास भेज दे। इस पर कुमार ने कहा कि वह अपना सिर दे सकता है पर अपने अतिथि को नहीं भेज सकता। तब सम्राट् हर्ष की ओर से आज्ञा हुई कि सिर ही भेज दो। तब कुमार को अक्ल आई और उसने ह्यूनसांग का जाना स्वीकार कर लिया, हाथी फौज आदि लेकर उनके पीछे पीछे चला। ह्यूनसांग को इतना सम्मान दिया गया कि उनके सभापतित्व में धर्म विचार सभा हुई।

ह्यूनसांग सब भारत में घूमे, और जहाँ भी गये वहाँ के लोगों से बहुत खुश रहे। उन्होंने यहाँ लोगों को खुशहाल और सुखी पाया। पर उनके सम्बन्ध में जो विचार मिलते हैं, उनसे ऐसा मालूम होता है कि उन दिनों भारत में धार्मिक झगड़े बहुत बढ़ रहे थे। बौद्ध धर्म की दो मुख्य शाखाएं हीनयान और महायान आपस में बहुत लड़ रही थीं। बाद को इन्हीं झगड़ों के कारण देश कमज़ोर हो गया और परतन्त्र हो गया।

ह्यूनसांग ६४५ ई० में वापस लौटे। हर्ष ने बहुत चेष्टा की कि उन्हें रोकें, पर वे जिस काम के लिये आये थे उसे पूरा करके भारत से विदा हुये। वे अपने साथ ६५७ संस्कृत पुस्तकें ले गये। बार बार हर्ष और कुमार ने उनसे विदाई मांगी, और घोड़े दौड़ा दौड़ा कर पीछे से उनसे जाकर मिले। एक विद्वान् के लिये यह कुछ उचित ही थी।

—दिल्ली से प्रसारित

आज का बर्मा

ब्रजनन्दन आज़ाद

वर्तमान बर्मा की प्रगति की रेखाएं इतनी सीधी नहीं हैं कि उनकी चर्चा थोड़े समय में हो सके। बर्मा कभी भारत के साथ था, आज वह स्वतन्त्र देश है। बर्मा भौगोलिक बनावट के कारण हमसे कुछ पृथक् हो जाता है, क्योंकि वहाँ तक पहुचने के लिये सड़कें नहीं हैं। बीच में पर्वत व्यवधान के रूप में उपस्थित होता है। जलमार्ग से जाना सुगम होते हुए भी स्थलमार्ग की अपेक्षा असुविधाजनक हो जाता है। वायु मार्ग भी आसान है, परन्तु उसके जरिये सीमित सम्पर्क ही स्थापित हो सकता है।

बर्मा निवासी भारतीयों से कुछ भिन्न हैं। बर्मा मे बौद्ध धर्म ही एकमात्र धर्म है। बौद्ध भिक्षुओं की सख्या बहुत है। वे केवल सन्यासी नहीं होते, अर्थात् ससार त्याग कर जगलों में नहीं रहते। सामाजिक जीवन में उनका बहुत स्थान है, और जिन दिनो सरकार की ओर से केवल अग्रेजी मे शिक्षा दी जाती थी उन दिनो वे ही देशी शिक्षा प्रणाली के आधार थे। वर्तमान सरकार ने अपनी शिक्षा योजना मे उन्हें स्थान दिया है और उनकी पाठशालाओं को प्रोत्साहन देकर आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य बनाने का निश्चय किया है।

जाति का अर्थ हम भारतवासी समझते हैं। जातिभेद के कारण किसी देश में जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं, उनसे बर्मा-वासी अनभिज्ञ हैं। जाति विहीन समाजो मे भी किसी न किसी प्रकार के विभेद की प्रणाली स्थापित हो जाती है, परन्तु बर्मा मे अभी वह अवसर बडे पैमाने पर उपस्थित नहीं हुआ है। उद्योग के युग मे यह विभेद तभी उपस्थित होता है जब एक ओर बड़े बडे उद्योगपति हो और दूसरी ओर दरिद्र मजदूर। बर्मा मे अभी धनिकों की सख्या अधिक नहीं है, क्योंकि आज़ादी के बाद से ही कुछ अश मे उद्योग तथा

व्यापार बर्मा-वासियों के हाथ में आने लगे हैं। पोशाक की समानता की वजह से भी भेदभाव स्थापित करना कुछ कठिन होता है। वर्तमान बर्मा की राष्ट्रीय पोशाक लुंगी, पूरी बाँह का कमर से थोड़ा नीचे तक कुर्ता और हल्की सी पगड़ी है। सार्वजनिक कार्यकर्ताओं, नेताओं तथा सर्वसाधारण में ऐसे कम लोग हैं जो कोट पट पहनते हैं। आफिसों में काम करने वाले भी उसी पोशाक में बैठे रहते हैं। सेना और पुलिस आदि की यूनीफार्म पश्चिमी ढंग की है, जैसे हमारे देश में है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि चपरासी और उसके अफसर एक ही पोशाक में रहते हैं। यह पहनावा ऐसा है कि गरीब अमीर सब पहन सकते हैं। अधिक पैसा ख़र्च करने की गुंजाइश नहीं है। वैसे तो अच्छी अच्छी लुंगियां २०-६० रुपये जोड़े तक मिलती हैं और रेशमी जैकेट बनवाने में भी काफी दाम लग सकता है। बर्मा लुंगी के लिये मशहूर भी है, परन्तु बर्मा निवासी ठाठ-बाट में लिपटना नहीं जानते। मानव समाज में वेश भूषा का स्थान महत्व का होता है। जिस देश में सबके लिये समान पोशाक हो उस देश से भेद-भाव का एक बहुत बड़ा कारण लुप्त हो जाता है। यूरोप में भी यही बात है, परन्तु वहाँ पर उद्योगों में उन्नति होने के कारण कपड़ों के प्रकार में कुछ भेद हो जाता है।

बर्मा में आजकल जो सरकार है, उसका राजनीतिक दृष्टिकोण समाजवादी है, परन्तु जो नये क़ानून लागू किये जा रहे हैं या जो कार्य प्रणाली स्वीकार की गई है, उससे पता चलता है कि प्रधान मन्त्री थाकिन नू कोरे आदर्शवादी नहीं हैं। शासनसंचालन में वे व्यावहारिकता से काम लेते हैं और उनके दल के नेताओं में इस विषय पर कोई ऐसा मतभेद नहीं जिसका बुरा प्रभाव आर्थिक व्यवस्थाओं पर पड़े। शायद इस समान दृष्टिकोण का प्रधान कारण यह है कि आन्तरिक उपद्रव के कारण शासक दल के नेताओं को सैद्धान्तिक विवाद का समय नहीं मिलता। उस देश में थोड़े दिन बिताने वाले किसी विदेशी को इस बात का आश्चर्य हो सकता है कि बर्मा की वर्तमान सरकार उपद्रवकारियों से लड़ते रहते हुए भी अपनी आर्थिक योजनाएं कार्यान्वित कर रही है। उन्हें नये सिरे से सब कुछ करना है। कोई बड़ा उद्योग या व्यापार बर्मा वासियों के हाथ में नहीं था। अंग्रेजों और भारतीयों ने ही विदेश निवासी वहां वास्तविक प्रभुत्व स्थापित किये हुए थे। बर्मा सरकार अपने देश को समुन्नत करने के लिये दृढ़-संकल्प है। परन्तु यह बात स्वीकार कर ली गई है कि यह कार्य किसी की सम्पत्ति छीन कर के पूरा नहीं किया जायगा। ऐसे कानून बन गये या रहे हैं जिनके फलस्वरूप विदेशियों के लिये नया उद्योग स्थापित करना या बड़ी बड़ी जमींदारियां हासिल करना असम्भव होगा। जमीन के बँटवारे की योजनाएं लागू की जा रही हैं परन्तु इस क्रिया में वह उतावलापन या कटुता नहीं है जो सामाजिक क्रान्ति का लक्ष्य प्राप्त करने वाले देशों में होता है। अभी तक सरकारी केन्द्रीय बैंक के अतिरिक्त सब प्रभावशाली बैंक विदेशी हैं, कुछ भारतीय हैं कुछ ब्रिटिश, और इनका काम सुचारु रूप से चलता है। भारत और बर्मा के बीच व्यापार सम्बन्ध हैं परन्तु सामान तथा मुद्रा का आयात निर्यात प्रतिबन्धों से मुक्त नहीं। संसार का आज यही नियम है कि व्यापार-सम्बन्ध अनियमित नहीं रहना चाहिए। विदेशी पूंजी की लागत की मनाही नहीं है, परन्तु सरकारी नीति और योजनाओं के अन्तर्गत ही यह कार्य हो सकता है। अनुन्नत देशों को इन सिद्धान्तों का अनुसरण करना ही पड़ता है। परन्तु इस नयी नीति के पालन में कटुता को स्थान नहीं दिया जाता, कारण बर्मा वासी बड़े मीठे स्वभाव के होते हैं। बहुत से लोगों का यह भी कहना है कि देहात के रहने वालों में मानवी गुण विकसित नहीं होते, और उन पर भरोसा नहीं किया जा सकता। यह भी कहा जाता है कि वे विदेशियों का रहना पसन्द नहीं करते। परन्तु शासन के संचालकों और राजनीतिक

नेताओं तथा विदेशियों के बीच जो वर्तमान सम्बन्ध है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि बर्मा में जितनी सद्भावना है उतनी कई देशों में नहीं है। पहले की अपेक्षा आन्तरिक उपद्रव भी कम हो गया है। यातायात की स्थिति अब अच्छी है। मुख्य स्थानों के बीच रेलगाड़ियाँ चलती हैं, और यदि लाइन तोड़ दी जाती है तो मरम्मत में बहुत समय नहीं लगता। मुख्य नगरों के बीच व्यापार-सम्बन्ध में जो बाधा उपस्थित हुई थी, वह बहुत अंश में विमान-मार्ग द्वारा दूर की जा रही है। आंतरिक अव्यवस्था के कारण कई वस्तुओं का उत्पादन कम हो रहा है। फिर भी बर्मा इस स्थिति में है कि चावल का निर्यात कर सके। भारत ने वहाँ से चावल खरीदने के लिये कई बार बातचीत की है। बर्मा से चावल का निर्यात सरकार के हाथ में है, स्वतन्त्र व्यापारियों का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। बाहर से सामान मँगाने का काम व्यापारी करते हैं, परन्तु प्राय सब आवश्यक वस्तुओं के आयात के लिये सरकारी अनुमति आवश्यक होती है। शौक की चीज़ें अनियमित परिमाण में नहीं आ सकतीं, क्योंकि देश की क्रय-शक्ति कम होने के कारण विनिमय योग्य मुद्रा संचित करके रखनी पड़ती है। लकड़ी का कारबार पहले से कुछ कम हो गया है। मशहूर बर्मा टीक देश के उत्तरी भाग से आता है जहाँ आजकल अशांति है। औद्योगिक क्षेत्रों का बचाव तो सेना करती है, परन्तु देश के कोने-कोने के लिए सेना का आयोजन सम्भव नहीं, न उसकी नितान्त आवश्यकता ही प्रतीत होती है। बर्मा को सबसे बड़ी सुविधा यह है कि उसकी राजधानी समुद्र के किनारे है, जिसके कारण विदेशी व्यापार अव्यवस्था के दिनों में भी चलता रहता है। रंगून के आस-पास अब पूर्ण शान्ति है।

१६५२ में ४ अगस्त से १७ अगस्त तक रंगून में वेलफेयर स्टेट कान्फ्रेंस हुई थी जिसे वहाँ 'पियादा सम्मेलन' कहते हैं। निर्माण की प्रमुख योजनाएं विचार-विनिमय के बाद वहां स्वीकृत हुईं और आर्थिक जीवन का ऐसा कोई पहलू न बचा जिसके सम्बन्ध में योजना न बनी हो। उस सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए प्रधान मन्त्री श्री थाकिन नू ने जो भाषण दिया, उसमें उन्होंने निर्माण योजनाओं का सैद्धान्तिक आधार निरूपित किया। उन्होंने कहा—"प्रत्येक कार्य आरम्भ करने से पहले हमें सोचना चाहिए कि क्या यह काम उचित है, क्या इससे बर्मा को लाभ पहुँचेगा और इससे अन्य राष्ट्रों को कोई क्षति तो नहीं पहुँचेगी? ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जो नैतिकता की दृष्टि से उचित और राष्ट्र के लिए हितकर होते हुए भी अन्य राष्ट्रों के लिए अनिष्टकर हो या जो अपने राष्ट्र तथा विदेशियों के लिए लाभदायक होते हुए भी अनीतिमूलक हो।"

बर्मा में विद्यादान नि शुल्क होता है और छात्र-वृत्तियों द्वारा विद्यार्थियों को प्रोत्साहन दिया जाता है। यान्त्रिक शिक्षा पाये हुए व्यक्तियों का अभाव है, जिसके कारण अनेक योजनाओं के कार्यान्वित करने में विलम्ब होता है। बर्मा में राष्ट्रीय भाषा के विकास पर बहुत ज़ोर दिया जाता है। हाईकोर्ट तक में जज तथा वकील अपनी भाषा में बातचीत करते हैं। हाईकोर्ट के प्राय सभी जज बर्मावासी हैं, और वकील बैरिस्टरों में भी विदेशी बहुत कम हैं।

स्त्रियों का पुरुषों के साथ बराबरी का अधिकार है और उनका बहुत आदर होता है। उनकी पोशाक में सादगी होती है, शरीर को जकड़ कर रखने की प्रथा नहीं है। नगरों और गाँवों में घर के बाहर काम करने वाली महिलाओं की संख्या काफी है। वे बहुत परिश्रमी होती हैं। यह भी एक कारण है जिससे पुरुषों को राष्ट्रनिर्माण की योजनाओं में शक्ति लगाने का अवसर मिलता है।

—पटना से प्रसारित

पंचवर्षीय योजना और नारी

नीलिमा मुकर्जी

पंचवर्षीय योजना के दो मुख्य उद्देश्य हैं
(अ) लोगों के लिये उच्च जीवन स्तर और
(ब) सामाजिक न्याय

इस योजना द्वारा पाँच साल में राष्ट्रीय आय में ११ प्रतिशत वृद्धि होगी। एक पीढ़ी में प्रति व्यक्ति आय दुगुनी हो जायगी। इस योजना से भारत की सर्वांगीण आर्थिक उन्नति की आशा की जाती है। योजना तो बन गई, पर (अ) देश के लोगों के पूर्ण हार्दिक सहयोग के बिना कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती, और (ब) बहुसंख्या के हित के लिये किसी सीमा तक व्यक्ति की स्वाधीनता की बलि देनी होगी।

इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए देश के प्रत्येक नर नारी को आगे बढ़ना है। नारी भी नागरिकता का अधिकार रखती है, इसलिये कोई भी क्षेत्र उसके लिये अप्रवेश्य नहीं है। यद्यपि नारी प्रकृति से ही विशेष प्रकार के धंधों के लिये उपयुक्त है जैसे कि सेवा और शिक्षा, फिर भी उसको पुरुषों के साथ शिक्षा प्राप्त करने में बराबरी का अधिकार होना चाहिये। उसको उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्राइवेट परीक्षा देने की सुविधाएँ होनी चाहिए। ५ साल में ६-११ साल के ६० प्रतिशत बालकों और इसी उम्र की ४० प्रतिशत बालिकाओं को शिक्षा प्राप्त होगी। स्त्री शिक्षा को कुटीर-उद्योगों के साथ जोड़ने का सुझाव योजना में है। कुटीर-उद्योगों में नाम का साबुन बनाना, तेल बनाना, कम्बल बनाना, हाथ से कागज बनाना आदि है।

योजना में परिवार नियंत्रण – फैमिली प्लानिंग-पर काफी जोर दिया गया है। विवाहित नारी और पुरुषों की इस विषय की शिक्षा के लिये दवाखाने और शिक्षा-केन्द्र खोले जायँगे। परिवार को सीमित रखना देश के लिये हितकर है।

पिछले कई वर्षों से हमारी पूंजी का अधिकांश और स्टर्लिंग बैलेंस का आधे से अधिक भाग विदेशी खाद्यान्न मँगाने में खर्च हो रहा है। इसी धन से हम विदेशों से मशीनें आदि मँगा सकते थे। अन्न की अभियाचना कम करने में नारी जरूर हाथ बटा सकती है।

इस योजना पर २०६९ करोड़ रुपया खर्च होगा। विदेशी ऋण न मिलने पर कर, घाटे के बजट और ऋणपत्रों की बिक्री से यह खर्च निकालना पड़ेगा। हमारी नारियां राष्ट्रीय बचत-सप्ताह मनायें और नेशनल सेविंग सर्टिफिकेट बेचें। इस अल्प बचत से हम न केवल राष्ट्र की मदद करते हैं बल्कि साथ ही हम अपनी और परिवार की मदद भी करते हैं।

किसी भी योजना के लिये यह आवश्यक है कि उसका प्रचार हो और लोग उसे समझें। इस कार्य में नारियां समुचित योग दे सकती हैं।

—नागपुर से प्रसारित

भारतीय नास्तिकवाद

रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री

नास्तिक शब्द का अर्थ पाणिनीय व्याकरण के अनुसार है जो परलोक को न माने अथवा जिसे ईश्वर की सत्ता में विश्वास न हो। मनु आदि आर्य आचार शास्त्रियों ने नास्तिक शब्द की व्यापकता को और आगे बढ़ा कर यहाँ तक व्यवस्था दी है कि —

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विज।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

अर्थात् जो द्विज होकर तर्कों का सहारा लेकर आर्य धर्म के मूलस्वरूप वेदों अथवा श्रुतियों का अमान्य करते हैं झूठा बतलाते हैं वे सभी वेदनिन्दक नास्तिक हैं। ऐसे लोगों के साथ आर्यों को कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये, अर्थात् आर्यों को सब प्रकार से उनका सामाजिक बहिष्कार करना चाहिए।

यह तो हुआ प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण।

किन्तु आज साधारणतया समूचे संसार में ईश्वर पर विश्वास करने वालों को आस्तिक और अविश्वास करने वालों को नास्तिक कह दिया जाता है।

भारतीय नास्तिक विचारधारा परम प्राचीन है। कदाचित् वेदों एवं उपनिषदों के काल में भी इस प्रकार की शंका वर्तमान थी कि क्या सचमुच इस संसार का कोई बनानेवाला है, अथवा इस शरीर के छूट जाने पर जीवात्मा का कुछ होता है और इस लोक के अनन्तर क्या दूसरा भी कोई लोक है?

उपनिषदों अथवा वेदों की परम्परा में बँधे हुए अथवा आस्तिक दर्शनों की आधारभूमि में आत्मा परमात्मा परलोक तथा अभौतिक तत्त्वों पर विचार किया गया है। यद्यपि उनमें परस्पर कुछ न कुछ मतभेद पाया जाता है, किन्तु मूलतः इन वस्तुओं से इन्कार करके कोई आस्तिक दर्शन नहीं चला है। फलतः नास्तिक

दर्शन इन चारों वस्तुओं में से किसी न किसी से इन्कार करके ही चलता है। यदि कोई आत्मा एवं भौतिक पदार्थों की सत्ता दोनों से इन्कार करता है तो कोई भौतिक पदार्थों को ही सब कुछ मान कर आत्मा नाम की वस्तु की सत्ता से इन्कार करता है। नास्तिक दर्शन छह प्रकार के हैं—चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार सौत्रांतिक, वैभाषिक और दिगम्बर।

चार्वाक नास्तिकों का अग्रणी है। वह आत्मा को नहीं मानता, फलतः परमात्मा और परलोक की भी आवश्यकता उसे नहीं पड़ती। वह पूर्णतः भौतिकवादी अर्थात् जड़वादी है। उसका संक्षिप्त मत इस प्रकार है—ईश्वर नहीं है आत्मा नहीं है, पुनर्जन्म और परलोक कुछ भी नहीं हैं। यह हमारी स्थूल देह ही आत्मा है। इस देहनाश के बाद आत्मा का भी नाश हो जाता है। जीवन के सभी सुख और आनन्द भोगने के लिये हैं, त्यागने के लिये नहीं। अनुभव और बुद्धि को सत्य की खोज में लगा कर देखा जाय तो यही सिद्धान्त स्थिर होते हैं, आदि आदि।

जीव और चेतना को चार्वाक भौतिक मानता है। पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि ये चार भूत हैं, इन्हीं के संयोग से चेतना अथवा जीवन उत्पन्न हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उपयोगी सामग्रियों के संयोग से शराब की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। सृष्टि का यह विशाल रूप इसी प्रकार समुद्भूत हुआ है, इसके लिये किसी निर्माता अथवा विधाता की आवश्यकता नहीं। अग्नि की उष्णता, जल का ठंडापन, वायु की शीतलता—ये सब किसी की कृपा के फल नहीं हैं, प्रत्युत स्वभावसिद्ध हैं। समूचे विश्व की यह सृष्टि स्वभाव से ही इसी प्रकार होती आ रही है। न स्वर्ग है, न अपवर्ग, न परलोक और न परलोक में जाने वाला आत्मा। वर्ण और आश्रम आदि सभी ढकोसले हैं। अग्निहोत्र और वेदादि सब उन लोगों ने बना रखे हैं, जिनमें पौरुष नहीं है और जो इन्हीं के भरोसे अपनी जीविका चलाना चाहते हैं। यदि यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग चला जाता है तो फिर यजमान अपने पिता को मार कर स्वर्ग क्यों नहीं भेजता? श्राद्ध यदि मरे हुए प्राणियों को तृप्ति पहुंचाता है तो लम्बी-लम्बी यात्राएं करने वाले लोग व्यर्थ ही रास्ते का खर्च अथवा पाथेय ढोने का कष्ट उठाते हैं? यदि यह जीव शरीर से निकल कर परलोक जाता है तो फिर आत्मीय जनों के वियोग से व्याकुल होकर वापस क्यों नहीं लौट आता? मृतकों के श्राद्धादि ब्राह्मणों की जीविका के आधार हैं, इनसे वस्तुतः कुछ भी होता-जाता नहीं। संसार के जितने सुख हैं, उनको भोगना चाहिए, ऋण लेकर भी घी खाना चाहिये, शरीर जब भस्म हो जायेगा तो फिर ये सुख कहाँ मिलेंगे? विषयों के संसर्ग से होने वाला सुख इसलिए नहीं उठाना चाहिए कि उसमें दुःख मिला रहता है—यह विचार मूर्खों का है। भला ऐसा कौन सा बुद्धिमान् होगा जो बढ़िया चावल वाले धान को भूसी के कारण फेंकेगा?

चार्वाक के इन सिद्धान्तों में से किसी न किसी की छाया समस्त भारतीय नास्तिक दर्शनों में है। किन्तु दूसरे नास्तिक दर्शनों में भौतिकवाद सम्बन्धी चार्वाक की मान्यताओं को प्रश्रय नहीं दिया गया। बुद्धमत आत्मवाद का उसी प्रकार विरोधी है जिस प्रकार चार्वाक, किन्तु वह भौतिकवाद का भी विरोधी है। बुद्ध समझते थे कि भौतिकवाद उनके ब्रह्मचर्य और समाधि का भी विरोधी होगा। बुद्ध दर्शन घोर क्षणिकतावादी है, किसी वस्तु को वह एक क्षण से अधिक ठहरने वाला नहीं मानता। संसार के पदार्थ तीन श्रेणियों में आते हैं—स्कन्ध, आयतन और धातु। स्कन्ध पाँच हैं, आयतन बारह हैं और धातु अठारह हैं। विश्व की सारी वस्तुएँ

स्कन्ध, आयतन और धातु इन तीनों में से किसी न किसी प्रक्रिया से बाँटी जा सकती है। ये सभी अनित्य और क्षणिक हैं। बौद्ध दर्शन एक वस्तु के विनाश के बाद दूसरी की उत्पत्ति मानता है। आत्मा का अस्तित्व भी बुद्धमत स्वीकार नहीं करता। वह कहता है, 'यह जो विश्वास है कि आत्मा अनुभवकर्ता है, अनुभव का विषय है, और यत्र-तत्र भले बुरे कर्मों के विपयों को अनुभव करता है, नित्य है, ध्रुव है, अपरिवर्तनशील है-वह मूर्खों का धर्म अथवा विश्वास है। रूप अनात्मा है, वेदना अनात्मा है संज्ञा, संस्कार, विज्ञान सब के सब अनात्मा है।'

अनीश्वरवादिता भी बुद्धमत की नास्तिकता का प्रमुख लक्षण है, यद्यपि चार्वाक की तरह स्पष्टरूप से उसका प्रतिपादन नहीं किया गया। बुद्ध के व्याख्यानों में ईश्वर, विधाता अथवा ब्रह्मा के सम्बन्ध में जो परिहासपूर्ण टिप्पणियाँ दी गई है, उनसे स्पष्ट होता है कि ईश्वर अथवा ब्रह्मा जैसे पदार्थ की सत्ता में वैदिकों की भाँति बुद्ध की आस्था नही थी। बुद्धमत में दस बातें अकथनीय बताई गई हैं। वे ऐसी बातें हैं, जिनके सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट न होने से बहुत से लोगों को भ्रम भी हो जाता है। संसार सृष्ट है या अनादि, ईश्वर है या नहीं, पुनर्जन्म होता है या नहीं—इन बातों के सम्बन्ध में कई बार अपने शिष्यों की उठती जिज्ञासा को तथागत ने यह कह कर शान्त किया है कि 'इनके सम्बन्ध में कुछ कहना सार्थक नहीं है, भिक्षुचर्या एवं ब्रह्मचर्यादि के लिए भी उपयोगी नहीं है, और न वैराग्य, शान्ति, परम ज्ञान और निर्वाण के लिये ही इनका जानना आवश्यक है। इन सब के जानने में अज्ञों को डर लगेगा। बौद्ध मत में प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणों के सिवा तीसरे प्रमाण की मान्यता नहीं है। विचार स्वातन्त्र्य बुद्धमत की ऐसी विशेषता थी कि तथागत के निर्वाण के अनन्तर जितनी अधिक स्वच्छन्दता उनके अनुयायियों ने अपनायी उतनी अन्य धर्मप्रवर्त्तकों के अनुयायियों ने नहीं अपनायी। निर्वाण बुद्धमत का परम लक्ष्य है। निर्वाण का अर्थ है, बुझना, दीपक या आग का जलते-जलते बुझ जाना। जीवन प्रवाह का अत्यन्त विच्छेद ही निर्वाण है।

माध्यमिक और योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक, ये चारों नास्तिक मत बौद्धमत के ही अन्तर्गत आ जाते हैं, साधारणत जिन्हें नास्तिक कहा जाता है। माध्यमिकों को शून्यवादी भी कहा जाता है। योगाचार का दूसरा नाम है विज्ञानवाद। माध्यमिक और योगाचार दोनों बुद्धमत की एक शाखा, महायान से सम्बन्ध रखने वाले हैं, जबकि सौत्रान्तिक और सर्वास्तिवाद बुद्धमत की दूसरी शाखा हीनयान से सम्बन्ध रखते हैं।

इनके अतिरिक्त भारतीय नास्तिकवाद की श्रेणी में सबसे अन्त में जैन धर्म को लिया जा सकता है। सबसे अन्त में इसलिये कि उसे नास्तिकों की श्रेणी में रखना बहुत उचित नहीं है। जैन धर्म भी इस संसार के बनानेवाले ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। जैन धर्म के अनुसार ईश्वर उस आत्मा अथवा रूह का नाम है जो वीतराग, निर्मल, सर्वज्ञ और केवलज्ञान प्राप्त है। इसी को ईश्वर, महादेव और अरहन्त देव भी कहते हैं। ऐसे देव संसार के बनाने वाले नहीं हो सकते, क्योंकि इतने बड़े संसार की रचना करने के लिये इच्छा का होना अनिवार्य है, जबकि वीतराग ईश्वर में किसी राग द्वेष का होना असम्भव है। ईश्वर का यह पद हम मनुष्य भी अपनी साधना द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। जब उच्च साधना द्वारा किसी मनुष्य के समस्त दोषों का क्षय हो जायगा, तब वह ईश्वरपद की प्राप्ति कर लेगा। वही केवलज्ञान प्राप्त होने पर लोगों को धर्मोपदेश करने का अधिकारी है। वह इस संसार से शरीर को छोड़ कर सिद्ध बन शिव

लोक को जायेगा। ऐसे ही सिद्ध पुरुष जैनों के तीर्थंकर हैं। इनका इस संसार में अवतार नहीं होता, हाँ वे दूसरे तीर्थंकर भले हो सकते हैं।

किन्तु जहाँ ईश्वर और संसार की रचना के सम्बन्ध में जैन धर्म का यह विश्वास है, वहीं उसके कठोर संयम और साधना का पथ अत्यन्त दुर्गम है। उसका भक्ति-मार्ग आस्तिक कहे जाने वालों की स्पर्धा की वस्तु है। जहाँ आस्तिक भक्ति का आधार कुछ न कुछ इच्छा या वासना को स्वीकार करना पड़ेगा, वहाँ जैनी भक्ति नितान्त निरीह एवं वासनाविहीन है। जैनी जिन-देव से कुछ भी नहीं चाहता, क्योंकि जिन देव तो मुक्त हैं, सब प्रकार के कर्मों एवं अकर्मों से मुक्त हैं। संसार के कार्य-जंजालों से उनका कोई सरोकार नहीं है। पूजा के समय जल, गन्ध, चावल, धूप, फल, फूल आदि वस्तुओं को जैनी इस भाव से चढ़ाता है कि हे 'भगवन्! हम इन वस्तुओं को आप को अर्पण करते हैं, जिससे हम भी इनमें उसी प्रकार आसक्ति छोड़ देने के योग्य हो जायँ, जैसे कि आपने इन्हें त्याग दिया है।'

इस प्रकार यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को स्वीकार न करने पर भी जैनधर्म को नास्तिकवाद की संज्ञा देना समीचीन नहीं है, क्योंकि इस बात को छोड़कर आस्तिक मतवाद अथवा आर्य धर्म की अन्यान्य मुख्य बातें इसमें मिलती जुलती हैं। जैनों की अहिंसा कट्टर आस्तिक वैष्णवों की अहिंसा से ऊँची है और उनकी साधना की समानता करने की क्षमता कम ईश्वरवादियों की साधना में है। आज के विज्ञान-युग में जैन मुनियों की कठोर जीवनयापन की चर्चा भले मनोरंजन की सामग्री बने, किन्तु यह जैनधर्म की उदाराशयता का ज्वलन्त उदाहरण है। यही कारण है कि जैनियों का आज के प्रबुद्ध हिन्दुओं से उतना दूर का नाता नहीं रह गया है, जितना पहले था। पहले जहाँ यह घोषणा हमें सुनाई पड़ती थी कि—

हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्

अर्थात्, पागल हाथी भी यदि पीछे से खदेड़ रहा हो तो समीपस्थ जैन मन्दिर में मत जाओ, हाथी के विकराल मुँह में भले ही जाओ—वहाँ आज हिन्दुओं और जैनों का पारिवारिक सम्बन्ध धड़ल्ले से होता है। आस्तिकों और नास्तिकों की भावधारा के बीच दोनों मतों की समान प्रवृत्तियों ने सेतु बाँध ही दिया है।

—इलाहाबाद से प्रसारित

देलवाड़ा

जैनेन्द्रकुमार

देलवाड़ा देवल से बना है। देवल का अर्थ है मन्दिर। संस्कृत में उसका उल्लेख देवकुलपाटक के रूप में है; पाटक, अर्थात् पाड़ा या वाड़ा। देलवाड़ा उसी का देशज रूप है।

ये मन्दिर आबू पहाड़ की चोटी पर बने हुए हैं, जो दिल्ली और बम्बई के रास्ते पर ठीक बीच में है—३२५ मील दूर बम्बई से और ३२४ मील दूर दिल्ली से। आसपास चारों ओर, उसकी जितनी ऊँचा कोई पहाड़ी भी नहीं है। आबू पर पहुँच कर नीचे फैली वनश्री का अद्भुत अनुभव होता है मानो सब शोभा और श्री आपके चरणों में हो और आप स्वयं लोकोत्तर अलिप्त वीतरागता के चरणों में। असल में भारत देश की यह विशेषता है। उसकी अपनी निजता ही यह है। उसके पास जो महिमामय है, जो ऐश्वर्ययुक्त है, जो कुछ भी उत्कृष्ट एवं सारवान् है, मानो वह समर्पित है। धर्म के उपलक्ष्य से ही वह है। मानव का गर्विष्ठ भाव नहीं, उसका प्रणतभाव वहाँ प्रतिष्ठित हुआ है। यहाँ प्रासाद इतने ऊँचे नहीं हैं, न दुर्ग, मूर्धन्य स्थान यहां सदा मन्दिरों को मिला है। गिरिमालाओं के ऊँचे-ऊँचे शीर्षों पर जहाँ भारत का पुरुष पहुँचा है वहाँ उसने अपना विजयध्वज गाड़ने में कृतार्थता नहीं मानी, बल्कि परम आह्लादभाव में महामहिम के समक्ष उसने अपना मस्तक टेका है।

आबू के मन्दिरों का वैभव, उसका शिला-सौन्दर्य, उसके स्थापत्य की विशिष्टता, कला का औदार्य, और कारीगरी की बारीकी कहीं किसी से पीछे नहीं है। जगत् में उन्हें बेजोड़ कहा जा सकता है। लेकिन यह समूचा सौन्दर्य वहाँ दर्प में उद्धत नहीं है, वरन् अर्चना में विनत है। ऐसे वह द्विगुणित सौम्य हो उठा है। ताजमहल को भी कोई कम सुन्दर नहीं माना जाता। पर एक ओर यदि भक्ति की शुद्धता है तो दूसरी ओर कदाचित् विलास की कमनीयता।

आबू सभी के लिये यात्रा का धाम है। यहाँ छोटे-बड़े अठतीस तीर्थस्थल हैं, जिनमें जैन, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सभी उपासनाओं का समावेश है। पर आबू पर्वत मशहूर है जैन मन्दिरों के लिये, जिनमें दो विशेष प्रधान हैं—एक विमलवसही, दूसरा लुणवसही।

पहले मन्दिर का निर्माण विमल मन्त्री ने कराया। वे प्रथम भीमदेव के सेनापति और मन्त्री रहे थे। विमलवसही का निर्माण विक्रमी ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। बात यों हुई कि विमल मन्त्री के कोई उत्तराधिकारी पुत्र नहीं था। एक रोज़ जब वे कुछ उन्मने से बैठे थे तो उनकी पत्नी ने उनसे पूछा —

"आप चिन्तित दीखते हैं, क्या बात है?"

विमल ने कहा—"चिन्तित तुम्हारे ही लिये हूँ। तुम्हारी गोद में पुत्र नहीं है न।"

श्रीमती जी ने कहा, "इसमें खेद की क्या बात है? पुत्र सदा सुपुत्र नहीं होते। कुपुत्र से तो पुत्र न होना ही भला है। और मेरे मन में तो पुत्र से भी अधिक एक दूसरी इच्छा है।"

विमल ने पूछा, "वह क्या इच्छा है?"

श्रीमती जी ने कहा—"यह पहाड़ देखते हो कितना ऊँचा है। इसके शिखर पर मन्दिर बनवाया जाय तो धर्म की कितनी सेवा हो। युग-युग तक यह कायम रहे, दूर दूर से लोग आयें, दर्शन करें और शान्ति पायें। मेरे लिये यही

पवित्र सुख होगा। पुत्र का सुख उसके आगे भला क्या है ?''

विमल पत्नी की बात सुन कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"प्रिये ऐसा ही होगा।" बस, विमल मन्त्री पूरे योग और निष्ठा से मन्दिर के निर्माण में लग गये। दूर-दूर से कलाकारों को बुलाया और देख-भाल कर पर्वत पर जगह निश्चित की।

जगह देख भाल कर निश्चित कर तो ली गई, पर उस पर स्वामित्व कुछ ब्राह्मणों का था। मन्दिर के लिये उसे छोड़ने को वे तैयार न थे। विमल चाहते तो सत्ता के ज़ोर से जमीन ले सकते थे। लेकिन लोगों को त्राम देकर उस पर की गई रचना तो पवित्र नहीं हो सकती थी। इससे उन्होंने तय किया कि ज़मीन के मालिकों को पूरी तरह सन्तुष्ट किया जायगा। ब्राह्मणों ने कहा पहले स्वर्ण-मुद्रायें सारी ज़मीन पर बिछाओ, तब उस रक़म में ज़मीन ले सकते हो।

विमल ने वैसा ही किया। उल्लेख मिलता है कि धरती कहीं पर खाली-खुली न रहे, इस लिये विमल ने स्वर्ण-मुद्रायें चौकोर बनवाईं। उनको सटा-सटा कर धरती को पूर दिया गया। उस पर जो मन्दिर बना उसमें कुल अठारह करोड़ तिरेपन लाख रुपया लगा। स० १०८८ में मन्दिर पूरा हुआ और उसमें जैनों के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई।

मन्दिर में गर्भगृह, गूढ़ मण्डप, नव चौकिया, रंग मण्डप, बावन जिनालय और एक सौ इक्कीस स्तम्भ हैं। हर जगह अनुपम कारीगरी का काम और गुम्बदों तथा दीवारों पर ऋषभ देव तथा दूसरे तीर्थंकरों के जीवन से सम्बन्धित चित्र संगमरमर पर हैं। चित्रों को पूरे सहस्र वर्ष हो गये पर आज भी बोलते से मालूम होते हैं।

स० १३६८ में अलाउद्दीन खिलजी ने जालोर पर चढ़ाई की। वहां से लौटते हुए रास्ते में इस मन्दिर को खण्डित किया। उसके बाद स० १३७८ में मण्डोर के लाखनसिंह आदि भाइयों ने दूसरा पुनरुद्धार किया।

दूसरा मन्दिर लुणवसही वस्तुपाल-तेजपाल ने बनवाया। ये दोनों सगे भाई थे और आसराज के पुत्र थे। यह तेजपाल के पुत्र लावण्यसिंह अथवा लुणसिंह की स्मृति में बनवाया गया, इससे इसका नाम लुणवसही पड़ा। वस्तुपाल और तेजपाल दोनों ही बड़े योग्य, बुद्धिमान् और विद्वान् थे। उनके रचे हुए और उनके अपने हाथ के लिखे हुए ग्रन्थ आज भी जैन भण्डारों में उपलब्ध हैं। दोनों भाई धीरधवल के मन्त्री थे। उस समय भीमदेव द्वितीय गुजरात के अधिपति थे और धीरधवल युवराज। इस मन्दिर पर बारह करोड़ त्रेपन लाख रुपया खर्च हुआ।

ये भाई श्रद्धा से स्वयं जैन होते हुये भी सर्वधर्म-समभावी थे। उन्होंने उसी चाव से मानेश्वर मन्दिर, ब्रह्मशाला, वापी, तालाब, दानशाला, धर्मशाला, मन्दिर, मस्जिद आदि भी बनवाये। इस प्रकार सब निर्माण में उन्होंने तीन अरब चौरासी लाख अठारह हजार रुपये खर्च किये।

आबू का मन्दिर स० १२८७ में तैयार हुआ और तभी प्रतिष्ठा हुई। पीछे आस-पास जिनालयों की जैसे-जैसे रचना हुई उनकी प्रतिष्ठा होती गई। इस प्रकार १२८७ से १२९७ तक दस वर्ष के काल में सर्वांग मन्दिर प्रतिष्ठित हो सका। अनुमान है कि यह मन्दिर कुल मिलाकर बीस वर्ष में सम्पूर्ण हुआ।

मन्दिरों की दीवारों पर, गुम्बदों और गवाक्षों में सब जगह भावचित्र उत्कीर्ण हैं। पहले मन्दिर में अधिकांश ऋषभदेव, चक्रवर्ती भरत और बाहुबलि के जीवन सम्बन्धी भावचित्र हैं।

इसी भाँति दूसरे मन्दिर में भी चारों ओर तरह-तरह के आख्यान पत्थर की सफेदी में खुदे हुए हैं। यहाँ की कारीगरी अपेक्षाकृत अधिक मनोरम और सुगम है।

वस्तुपाल-तेजपाल ने मन्दिर तो बनवाया ही, उसकी व्यवस्था का भी पूरा ध्यान रखा।

उन्होंने उसके लिए एक ट्रस्ट बोर्ड की व्यवस्था की और एक अच्छी स्थायी धनराशि नियत की।

अलाउद्दीन खिलजी ने पहले मन्दिर के साथ इसको भी खण्डित कर दिया था और पीछे विमलवसही के साथ ही इसका भी उद्धार किया गया।

यों यह मन्दिर विमलवसही के अनुकरण पर बना है, फिर भी दोनों में बहुत अन्तर है। वस्तुपाल-तेजपाल के मन्दिर में शिल्प-सौन्दर्य की बारीकी कही जा सकती है, लेकिन विमल-वसही में उकेरे गये कथाचित्र अत्यन्त जीवन्त प्रतीत होते हैं। ये दोनों मन्दिर मिलकर भारतीय कला का उत्कृष्ट नमूना उपस्थित करते हैं। जैन परम्परा को तो उन्होंने महिमान्वित किया ही है, भारतीय कला को भी संसार में बहुत ऊँचा मान दिलाया है। जिन शिल्पियों ने मानव-जीवन की बहुविध लीला और कला को पत्थर में उतार कर संसार में अमर बनाया है, उन सब के नाम यद्यपि ज्ञात नहीं हैं, पर वे निश्चय ही भारत के प्रेम और सम्मान के पात्र हैं।

किन्तु ये मन्दिरों के महान् निर्माता अपने गर्व में फूले हुए न थे, न अपनी धर्म-श्रद्धा में एक दम बेमान थे। उनका और कारीगरों व मज़दूरों का सम्बन्ध केवल मालिक-नौकर का न था, बल्कि आत्मीयता का था। और इस परम-तीर्थ के अनुपम मन्दिरों के मूल में बेगार का श्रम नहीं बल्कि सहृदयता का प्रेमपूर्ण सहयोग था। तभी उनकी भव्यता इतनी सौम्य और मनोहारी है।

मुख्य दो मन्दिरों के पूरे हो जाने पर श्रमिक सहयोगियों ने कहा—आपका मन्दिर तो हो गया, अब हमारा भी एक मन्दिर होगा, उसमें हम अपने श्रम का मूल्य नहीं लेंगे। पत्थर आप के पास है ही, शिल्प और श्रम अपनी ओर से देकर हम मन्दिर को खड़ा करेंगे। इस प्रकार तीसरे मन्दिर का निर्माण हुआ जो कड़ियानु मन्दिर कहलाया।

कौन है जो विदेशों से भारत आता है और इन मन्दिरों के दर्शन कर चमत्कृत नहीं हो जाता? पहला उल्लेख इस सम्बन्ध में कर्नल टॉड का मिलता है। यहाँ आकर और मन्दिर के शिखर को देखकर उसने अपनी पुस्तक में लिखा है:—"शीतला माता के घाट से चला तब दोपहर हो गया था। उसी समय आबू की चोटी दृश्यमान हुई और मेरा हृदय आनन्द से भर गया और पुराण के उस ऋषि की तरह मैं अनायास कह उठा "मैं पा गया, मैं पा गया!"

—दिल्ली से प्रसारित

भारत की पुरानी राजनीति

कैलाशचन्द्र देव 'बृहस्पति'

संस्कृत साहित्य एवं भारत के प्राचीन इतिहास से अपरिचित व्यक्ति ही नहीं, अनेक सुशिक्षित व्यक्तियों की भी यह धारणा देखी जाती है कि संस्कृत वाङ्मय में प्रधानतया पाप पुण्य, स्वर्ग-नरक इत्यादि से सम्बद्ध विचार हैं, क्योंकि प्राचीन भारतीय मुख्यतया आध्यात्मिक विचारों में निमग्न रहते थे, सांसारिक विषयों में न उनकी रुचि थी और न वे जीवन के लौकिक पक्ष को महत्वपूर्ण समझते थे। परन्तु यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है।

राजनीति को ही लीजिए, इस अर्थ में भारतीय पण्डित 'दण्डनीति' शब्द का प्रयोग करते थे। आचार्य शुक्र का तो मत है कि दण्डनीति ही एकमात्र विद्या है, क्योंकि यही अन्य सभी विद्याओं के आरम्भ और स्थिति का कारण है। अन्य नीतिकारों ने भी कहा है कि शस्त्रों द्वारा रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र चिन्तन की ओर प्रवृत्ति होती है।

आचार्य बृहस्पति 'वार्ता' अर्थात् कृषि, व्यापार आदि विषयों तथा दण्डनीति को विद्या मानते हैं। 'त्रयी' अर्थात् पारमार्थिक विषय तथा वैदिक ज्ञान तो इनके मत में नास्तिकता से बचने का साधन मात्र है। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि दण्डनीति ही अन्य तीनों विद्याओं का मूल है और दण्डनीति का शास्त्रज्ञानपूर्वक प्रयोग ही समस्त जीवों के योग और क्षेम का हेतु है।

आज से कुछ शताब्दियों पूर्व पाश्चात्य राजनीतिज्ञों ने शासन संस्था के विकास से सम्बद्ध जिन अनुमानों की स्थापना की है, प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में वे अनुमान निश्चित विचारों के रूप में प्राप्य है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् लॉक ने कहा है कि प्रारम्भिक अवस्था में मानव समाज स्वतन्त्रता-पूर्ण एवं समतामय जीवन बिताता था और समाज का परिचालन प्राकृतिक नियमों के अनुसार होता था। रूसो के विचार में भी प्रारम्भिक मानव समाज सत्ययुग में था और किसी भी प्रकार के उत्पीडन से मुक्त था। महाभारतकार एवं कौटिल्य का भी यही कहना है कि प्रारम्भिक काल में न राज्य था न राजा, न दंड था, न दंडधर। उस युग में केवल कर्त्तव्यबुद्धि से प्रेरित होकर ही प्रजाजन परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते थे।

बाद में यह स्थिति न रही। धीरे धीरे लोग मार्गभ्रष्ट हुए, सबल निर्बलों को सताने लगे। महाभारत का कथन है कि 'मात्स्य न्याय' से पीड़ित होकर प्रजा ने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया और उसे अपनी उपज का छठा एवं अन्य आय का दसवाँ भाग देना निश्चित किया। कौटिल्य ने भी शासन की उत्पत्ति का यही कारण माना है। मनु का कथन है कि अराजकता के कारण लोक के भयत्रस्त हो जाने पर प्रभु ने मानव समाज की रक्षा के लिये राजा की सृष्टि की। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार देवासुर-संग्राम में हारे हुए देवताओं ने अपनी पराजय का कारण अपनी राजहीनता को मान कर अपने लिये राजा चुनने का विचार किया। मात्स्य न्याय के कारण प्रजाजनों के द्वारा राजा का निर्वाचन पाश्चात्य विचारक हॉब्स भी मानता है।

समाज की प्रारम्भिक अवस्था में राजहीन

होना तथा परिवार की अध्यक्षता का विकसित होकर राजसत्ता में परिवर्तित हो जाना अथर्व वेद से सिद्ध है। राजा, सभा, समिति, तथा राजा के निर्वाचन आदि का वर्णन वेदों में अनेक स्थानों पर है। आनुवंशिक शासन की प्रथा का उद्भव चिरकाल के पश्चात् हुआ।

वैदिक वाङ्मय के अनुसार उस युग में प्रजा के द्वारा अपने प्रतिनिधियों की समिति के निर्वाचन का अस्तित्व सिद्ध है। वह कुछ-कुछ आजकल की विधान परिषद् जैसी होती थी। वैदिक काल में 'सभा' नामक एक संस्था का भी अस्तित्व था। कुछ इतिहास विशारदों के अनुसार यह सभा' ही उस युग का 'मन्त्रिमण्डल' थी।

ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में 'सभा' और 'समिति' को प्रजापति की पुत्रियाँ बताया गया है। मतभेद हीनता और विचारों की समानता इन दोनों संस्थाओं में अनिवार्य समझी जाती थी। सदस्यगण के द्वारा राजा का निर्वाचन पदच्युति, पुनर्निर्वाचन इत्यादि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में वर्णित है। सभा' और 'समिति' की इच्छा के समक्ष राजा भी नतमस्तक होने के लिए विवश था।

यद्यपि आनुवंशिक राजपद का वर्णन ऋग्वेद में भी मिलता है, परन्तु राजा का उत्तराधिकारी विनय, नियमबद्धता, इन्द्रियदमन, वृद्धोपसेवा, विद्याप्राप्ति, सुसंगति, सत्यवादिता, धर्मप्रियता इत्यादि गुणों से विभूषित होने पर ही राजा बन सकता था और किसी के राजपद पर अभिषिक्त होने के लिये वैदिक काल में 'सभा' तथा 'समिति' की और रामायणकाल तथा महाभारतकाल में 'पौरजानपद' संस्थाओं की स्वीकृति अनिवार्य होती थी। मनु, व्यास, शुक्र, बृहस्पति तथा कौटिल्य आदि नीतिकार राजा के लिए इन्द्रियदमन आवश्यक गुण मानते हैं तथा मदिरापान, विलासिता एवं द्यूत का कठोर शब्दों में निषेध करते हैं। इस समस्त गुणसमुदाय के अतिरिक्त राजा के लिए यह आदेश था कि वह अपने समीपवर्ती व्यक्तियों को प्रत्येक दृष्टि से उत्तम बनाए।

श्रीमद्भागवत, महाभारत, मनुस्मृति तथा रघुवंश में प्रजारञ्जन के कारण ही राजा को 'राजा' कहा गया है। महाभारत के अनुसार राजा में कर्त्तव्यबुद्धि के विराजित होने के कारण उसे राजा बताया गया है। यदि राजा प्रमादवश अन्याय करे तो उसे भी दण्डित करने का विधान कौटिल्य ने बताया है। कौटिल्य के अनुसार राजा भी अन्य कर्मचारियों की तरह वेतनभोगी है। बृहस्पति का मत है कि राजा लोकमत के विरुद्ध धर्माचरण भी न करे।

ऐतरेय ब्राह्मण में आठ प्रकार के शासन विधानों का उल्लेख है और उन प्रदेशों का निर्देश है जो इन शासन विधानों द्वारा शासित होते थे। इन विधानों के नाम क्रमशः साम्राज्य, भोज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य, माहाराज्य तथा आधिपत्य हैं। शुक्रनीति में सामन्त, माण्डलिक, राजा, महाराज, स्वराज्य, सम्राट्, विराज और सार्वभौमिक इन आठ प्रकार के शासन विधानों का वर्णन है।

महाभारत के अनुसार शासक का कर्त्तव्य है, कि वह चार विद्वान् ब्राह्मणों, इक्कीस धनी वैश्यों, तीन विनयी एवं आचारवान् शूद्रों, आठ क्षत्रिय वीरों तथा पुराणों के पण्डित एक सूत को अपना मन्त्री बनाये। इस मन्त्रिमण्डल में किसी भी मन्त्री की आयु पचास वर्ष से कम न होनी चाहिए। समस्त मन्त्रिमण्डल का निर्भय, समदर्शी, विनयी, लोकहित, व्यसनहीन तथा परनिन्दा से दूर रहने वाला होना आवश्यक है। इस मन्त्रिमण्डल में से चुने हुए आठ मन्त्रियों से मन्त्रणा करने का विधान महाभारत कार करता है।

मन्त्रियों में पुरोहित का स्थान महत्त्वपूर्ण था और उसके लिये सर्वविद्या पारंगत, कुलीन, दण्डनीति में निपुण तथा दैवी एवं मानुषी विपत्तियों के प्रतीकार में निष्णात होना अनिवार्य था। उस समय राजपुरोहित केवल पूजा पाठ कराने वाला व्यक्ति नहीं होता था।

कौटिल्य कहता है कि राजा उसी प्रकार पुरोहित का अनुगामी बना रहे, जिस प्रकार शिष्य, पुत्र और भृत्य क्रमशः गुरु, पिता और स्वामी के अनुगामी रहते हैं। परन्तु कौटिल्य का यह भी स्पष्ट कथन है कि राजा गुप्तचरों द्वारा पुरोहित की गतिविधि पर भी दृष्टि रखे और यदि आप पाए तो पुरोहित को पदच्युत कर दे।

कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' संस्कृत के उपलब्ध ग्रन्थों में राजनीति का अनुपम एवं अमर ग्रन्थ है। कौटिल्य अथवा चाणक्य कोरा आचार्य ही नहीं, एक महान् साम्राज्य का प्रतिष्ठापक भी था, अतएव उसका मत सिद्धान्तमात्र ही नहीं, व्यवहृत सत्य है।

कौटिल्य के इस महान् ग्रन्थ में राज्य, शासन-पद्धति, राज्य के कार्य, अंग, राजा, मन्त्री, मन्त्रि परिषद्, उच्चाधिकारी, पौरजानपद, स्थानीयशासन न्याय, दण्ड, कर्मचारियों की योग्यता, सेना, युद्ध, विदेशनीति, राजकीय आय एवं व्यय इत्यादि पर प्रौढ़, गम्भीर एवं विस्तृत विचार प्रकट किये गये हैं।

नैतिक दृष्टि से कुछ लोग कौटिल्य की कूट नीति पर आक्षेप करते हैं, परन्तु कौटिल्य की स्पष्ट घोषणा है कि सज्जनों के विरुद्ध इस नीति का प्रयोग वर्जित है।

कुछ लोग कहते हैं कि राजनीतिक विषयों को धर्म का अंग मानकर ही भारत में उन पर थोड़ा बहुत विचार किया गया है परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाश्चात्य देशों में धर्म का जो संकीर्ण अर्थ माना गया है वह धर्म के उस अर्थ से सर्वथा भिन्न है, जो भारतीय विचारकों ने माना है। भारतीय दृष्टि-कोण के अनुसार धर्म का अर्थ मत, सम्प्रदाय अथवा परम्पराप्राप्त विचारमात्र न होकर समाज के विभिन्न अंगों के कर्त्तव्य तथा समाज को धारण करने वाले नियम हैं। स्पष्ट है कि भारतीय की दृष्टि में धर्म का अर्थ इतना व्यापक रहा है कि जीवन का कोई भी अंग उससे बाहर नहीं जा सकता।

हे ग्राम देवता !

राम राम
हे ग्राम देवता, यथा नाम !
विजया, महुआ, ताड़ी गाँजा पी सुबह शाम।
तुम समाधिस्थ नित रहो, तुम्हें जग से न काम।
पंडित, पंडे ओझा मुखिया औ साधु संत
दिखलाते रहते तुम्हें स्वर्ग अपवर्ग पंथ
जो था जो है जो होगा सब लिख गए ग्रंथ
विज्ञान ज्ञान से बड़े तुम्हारे मंत्र तंत्र।

—पंत (इलाहाबाद)

☆

हिन्दी में व्यंग्य

नलिनविलोचन शर्मा

नहिं पराग नहिं मधुर मधु
नहिं विकास एहि काल।
अली कली ही सौ बँध्यो
आगे कौन हवाल ॥

बिहारी की इन पंक्तियों में छिपे व्यंग्य ने कर्त्तव्य विमुख राजा को बिना आघात पहुँचाए झकझोर कर जगा दिया था। व्यंग्य उस चाबुक की तरह है जो अगर चोट पहुँचाता है तो इसीलिए कि वह हमें सचेत करना चाहता है। व्यंग्य सचेत न करे, जगाए नहीं, सिर्फ चोट ही पहुँचाए, आघात ही करे तो वह व्यंग्य नहीं है, व्यंग्य सी लगने वाली वह चीज़ गाली है।

व्यंग्यात्मक रचनाओं की यह मुख्य विशेषता है कि उनमें मनुष्य के स्वभाव की दुर्बलताओं की कटु आलोचना निहित रहती है। उनका प्रधान उद्देश्य रहता है नैतिक दृष्टि से गलत को सही, बुरे को अच्छा और दुष्ट को साधु बनाना।

व्यंग्य लेखक औचक में धावा बोलने की फिक्र में तो लगा रहता है, लेकिन वह आत्म रक्षा की चिंता से कभी व्याकुल नहीं होता। वह जब मनुष्य की किसी स्वभावगत दुर्बलता पर चोट करता है तो उसे विजय इसलिए मिलती है कि वह आलोच्य व्यक्ति की तुलना दूसरे व्यक्ति के साथ करता है और व्यंग्य का शिकार बनने वाले व्यक्ति की हीनता स्वयं उसकी आँखों में खटकने लग जाती है।

व्यंग्य लेखन पद्य, गल्प और नाटक के माध्यम से होता रहा है, किन्तु आधुनिक काल में, अधिकांशत, व्यंग्यात्मक पद्य का स्थान ले लिया है पत्रकारिता ने और व्यंग्यात्मक चित्र का रूप हो गया है व्यंग्य चित्र या कार्टून।

प्राचीन हिन्दी साहित्य में मानव स्वभाव की दुर्बलताओं पर मुक्तक रूप में, भिन्न भिन्न कवियों के असंख्य छन्द मिलते हैं। यहाँ हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

गर्व मानव स्वभाव की ऐसी छिपी हुई दुर्बलता है जो अधिकार प्राप्ति के साथ उत्कट हो जाती है। कहते हैं कि अकबर ने जब भक्त कवि कुम्भनदास को पहली बार अपने यहाँ बुलवाया तो वे खुशी के साथ चले गए, पर जब दूसरी बार फिर बुलाहट आई तो खुद जाने के बदले ये पंक्तियाँ भिजवा दीं.

संतन को सीकरी सो का काम।
आवत जात पनहिया टूटी, बिसरि गयो हरिनाम।
जिनके मुख देखत दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम ॥

कृपणता एक ऐसी दुर्बलता है जो धनी-मानी व्यक्तियों में भी पाई जाती है। किसी कवि ने औरंगज़ेब की कृपणता पर कैसा व्यंग्य किया है यह

तिमिरलंग लई मोल, चली बाबर के हलके,
रही हुमायूं संग फेरि अकबर के दल के,
जहाँगीर जस लियो, पीठि को भार हटायो,
शाहजहाँ करि न्याय ताहि को माँड पिलायो।
बलरहित भई, पौरुष थक्यो, भगी फिरत बन स्यार डर,
औरंगजेब करिनी सोई लै दीन्ही कविराज कर।

औरंगज़ेब ने कवि जी को हथिनी तो दी पर मरियल और बूढ़ी। इस अपमान का प्रतिशोध लिया कवि जी ने उन पंक्तियों को लिख कर

जिन्हें आपने अभी सुना।

किसी अन्य कृपण राजा ने किसी कवि को एक मरियल टट्टू देने की हिमाक़त की तो कवि ने भरे दरबार में यह छन्द पढ़ सुनाया :

घोड़ दियो घर बाहर ही,
महाराज कछू उदबादन पाऊँ।
ऐसो करौ विध पैडोई मोंक,
चलै पग एक न कैसे चलाऊँ ?
होय कहारन की जु पै आयसु,
डोली चढ़ाय यहाँ तक लाऊँ।
जीन धरौ कि धरौं तुलसी,
मुख देऊँ लगाम कि राम कहाऊँ॥

कवि बेनी बन्दीजन को जब किसी कृपण धनी ने छोटे आम उपहार के रूप में भिजवाए तो उन्होंने अप्रसन्न होकर, व्यंग्य के साथ, उन आमों के बारे में कह डाला :

ऐसे आम दीन्हे दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेरु सी लगति है।

कवयित्री प्रवीण राय ने, यह तो सुप्रसिद्ध किंवदन्ती है, इस एक ही व्यंग्य से अकबर के उचित-अनुचित के विवेक को जाग्रत कर दिया था :

विनती राय प्रवीन की, सुनिए साह सुजान,
जूठी पातर भखत हैं, बारी, बायस, स्वान।

इस दृष्टान्त में, आप ने ध्यान दिया होगा, किस प्रकार आलोच्य की तुलना दूसरी वस्तुओं से की गई है और इस तरह उसकी हीनता उसके सम्मुख स्पष्ट प्रकट हो गई है।

कभी-कभी अपमान का अनुभव करने पर भी मनुष्य व्यंग्य करता है, किन्तु वहाँ भी उद्देश्य यही रहता है कि अपमान करने वाला सचेत हो जाए :

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के,
दान युद्ध जुरिवे में नेकु जो न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
हिये के विशुद्ध हैं सनेही साँचे उर के।
शत्रु दलन हार सैनी देवचन्द के
कासिम हमाद औ अदालिया ससुर के।
चोजन के चोजी महामौजिन के महाराज,
हम कविराज हैं पै चाकर चतुर के॥

पूरे पैसे लेकर कमजोर चीज ग्राहक को देना, यह कोई नई बात नहीं है। आज हमें जब ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ता है तो हम दैनिक पत्र के सम्पादक के नाम चिट्ठी रवाना कर तसल्ली पा लेते हैं, किन्तु पुरानी और न गलने वाली दाल बेचने वाले बनिये पर कुपित कवि ने यह छन्द ही रच डाला

खाय दिया सुनार दरबार को
दाल दधीचि की हाड़ भई है।

हम आजकल अक्सर ही चिकित्सकों और चिकित्सालयों की अयोग्यता और अव्यवस्था के संवाद पढ़ते सुनते हैं। अयोग्य चिकित्सक दुर्भाग्य से हर देश और हर समय में लोगों की विवशता का लाभ उठाते ही हैं। संस्कृत में तो कहावत ही है 'शतमारी भवेद् वैद्य'। प्रधान नामक हिन्दी के इधर के एक कवि ने एक अयोग्य और लोभी वैद्य के बारे में व्यंग्य करते हुए एक सार्वकालिक और सार्वदेशिक वास्तविकता पर ही व्यंग्य किया है

बीस रुपैया धरै कर फीस
न देत जवाब न त्यागत द्वारहिं।
ताते प्रधान य वैद्य कसाई हैं
दैव न मारै तो आपुहि मारहिं॥

इनके अतिरिक्त ऐसी व्यापक दुर्बलताओं पर लक्ष्य करके भी व्यंग्य लिखे गए हैं जिनका सीधा सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से नहीं है। उदाहरण के लिए, मनुष्य बड़े प्रयत्न से गृहस्थी और सुख के साधन जुटाते हैं, किन्तु वे ही उसकी चिन्ता के कारण बन जाते हैं। इस पर व्यंग्य करने के लिये 'बैत' कवि ने भगवान् शिव को व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है :

आपु को वाहन बैल बली
वनिताई को वाहन सिंहहि पति के।

मूसे के वाहन है सुत एक, सु दूजो
मयूर के पच्छ विसेखि के।
भूषण है कवि 'चंत' फनिन्द के,
वैर परे सबते सब लेखि के।
तीनिहूँ लोक के ईस गिरीस सु
योगी भये घर की गति देखि के॥

प्राचीन हिन्दी साहित्य में व्यंग्य का सामान्यत जो रूप था, उसकी एक झलक आप को मिली। आप ने देखा कि उसकी मुख्य प्रेरणा थी व्यक्तिगत क्षोभ और प्रधान उद्देश्य था कवियों के द्वारा अपने अस्त्र के सहारे अपमान का निराकरण।

आधुनिक काल में उनका व्यंग्य व्यक्तिगत न रहकर सामाजिक रूप पा जाता है और किसी एक मनुष्य की नहीं। बल्कि समूचे समाज या वर्ग की दुर्बलताओं पर आघात किया जाता है, अवश्य सुधार की कामना से प्रेरित होकर ही। इस प्रकार के व्यंग्य के आरम्भ का श्रेय भारतेन्दु को है।

सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवत केवल।
पशु समान सब अन्न खात पीवत गगाजल॥
धन बिदेस चलि जात तऊ जिय होत न चचल।
जड समान ह्वै रहत अकल हत रचित सकत बल।
जीवत विदेश की वस्तु लै ता बिनु कछु नहि करि सकत।
जागो जागो अब साँवरे सब कोउ रुख तुमको तकत।

भारतेन्दु ने ही नहीं, उनके युग के और उनसे प्रभावित अन्य साहित्यिकों ने भी सामाजिक बुराइयों पर मार्मिक व्यंग्य किए हैं। बदरीनारायण चौधरी ने पाश्चात्य वेश भूषा की नक़ल करने वालों पर, सुनिये, कैसी चोट की है :

सोहैं न तो के पतलून साँवर गोरवा।
कोट बूट जाकेट कमीच क्यों पहिनि बनें बैबून,
साँवर गोरवा।
काली सूरति पर काला कपडा देत किए रग दून,
साँ० गो०।
चलत चाल विगरैल छोड सम बोलत जैसे मजनून,
साँ० गो०।
चन्दन तजि मुँह ऊपर साबुन काहे मलइ दुम्रौ जून,
साँ० गो०।
चूसइ चुरुट लाख, पर लागत पान बिना मुँह सून,
साँ० गो०।
अच्छर चारि पढह अंगरेजी बनि गए अफलातून,
साँ० गो०।

इस तरह के सामाजिक सुधार की दृष्टि से लिखे गए व्यंग्य की परिपाटी द्विवेदीयुगीन कवियों के द्वारा अपनाई गई। नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने तो इसके लिए विशेष प्रसिद्धि पाई है। कृष्ण के बहाने वे भी पाश्चात्य वेश-भूषा के अनुकरण पर व्यंग्य करते हैं :

पटकि पादुका पहिनो प्यारे,
बूट इटाली का लुफ़दार।
डालो डबल वाच पाकिट में,
चमके चेन कचनी चार॥
रख दो गाँठ गठीली लकुटी,
छाता बेंत बगल में मार।
मुरली तोरि मरोरि, बजाम्रो
बाँकी बिगुल सुने ससार॥

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी कुछ व्यंग्यात्मक पद्य लिखे हैं; किन्तु वे अधिकतर व्यंग्य के लिये गद्य का ही प्रयोग करते थे। इस दृष्टि से *सरस्वती* के सम्पादकीय लेख तो अपना सानी रखते ही नहीं और उनकी चोट की तुलना चाबुक की मार से ठीक ही की गई है। पद्य में उनके व्यंग्य की तीव्रता मन्द सी पड़ जाती है। गाँव छोड कर शहर में आए हुए एक युवक के मुँह से कराए गए इस व्यंग्य को सुनिये :

सरगौ नरक ठिकाना नाहिं,
साफ कहित है हम ऐसेन का,
सरगौ नरक ठिकाना नाहिं।
बूडि मरी जा हम गगा माँ,
तौ हत्या लागै हम काहि।
हे भगवान उबारौ हम का,
दीनदयाल धरम के नाय।

तुम्हरे पायन मा हम आपन,
पटकत हैं यह फुटहा माथ।

छायावाद युग के आलोचकों ने छायावादी कवियों पर कठोर व्यंग्य किए थे। इनमें आचार्य शुक्ल, पद्मसिंह शर्मा आदि प्रमुख थे। किन्तु कम से कम एक प्रमुख छायावादी कवि में व्यंग्य का उत्तर व्यंग्य से देने की असाधारण क्षमता थी। वे हैं निराला जी, जिन्होंने दूसरे विषयों पर भी गद्य पद्य से बड़े पैने व्यंग्य किये हैं। यहाँ हम एक छोटा सा उदाहरण उपस्थित करते हैं

फिर लगा सोचने यथासूत्र [illegible] होता—
यदि राजपुत्र में [illegible] सदा [illegible] होता
न होते—[illegible] विचार—मेरे [illegible]
मेरे प्रश्न के लिए [illegible] उद्यत [illegible]
में [illegible] कुछ [illegible] अधिक [illegible] [illegible] पैदल
[illegible] कंठ से गाते मेरा [illegible]
जीवन चरित्र [illegible] अथवा [illegible]
[illegible] चित्र।
—[illegible] प्रसारिन

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते

मनुस्मृति में लिखा है

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रिया॥

अर्थात् जहा स्त्रियों की पूजा होती है वहा देवता रमते अर्थात् वास करते हैं और जहा स्त्रियों का अनादर होता है, वहा सब क्रियाएँ निष्फल होती हैं। यही नहीं

शोचन्ति योषितो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥

जिस कुल अथवा परिवार में नारियां कष्ट पाती हैं वह शीघ्र ही नाश हो जाता है और जहा उन्हें सुख मिलता है वह कुल सदैव फलता फूलता है।

योषितो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिता।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्तत॥

आवश्यक सुख मान न पाकर जहा स्त्रिया शाप देती है वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है क्योंकि वह निर्बल होता है।

और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्य कल्याण तत्र वै ध्रुवम्॥

जिस परिवार में पति पत्नी प्रसन्न रहते है वहा कलह न होने से सुख रहता है।

स्त्री की प्रसन्नता का अत्यधिक महत्व है क्योंकि यदि वह प्रसन्न रहेगी तो सन्तान भी प्रसन्न, स्वस्थ एव अच्छी होगी।

(कंचनलता सब्बरवाल लखनऊ)

बदरीनाथ

विष्णु प्रभाकर

भारत की सांस्कृतिक और भौतिक एकता की कल्पना नई नहीं है। वेदों से लेकर काव्य ग्रन्थों तक म मन्त्र द्रष्टाओं और कवियों ने उस एकता का चित्र खींचा है। हिंदू समूचे देश में बहने वाली सात नदियों से जब आशीर्वाद माँगते हैं,

यमुना गोदावरी नर्मदा सरस्वती कावेरी गंग।
सिन्धु साथ ले मेरे जल में सातों छोड़ें प्रीति तरंग॥

तब वे अनजाने ही इस देश की भौतिक और आत्मिक एकता का जय घोष करते हैं।

इसी एकता को स्थायित्व प्रदान करने के लिए मानो आज से लगभग १२०० वर्ष पूर्व आचार्य शंकर ने भारत में चारों दिशाओं में अपने चार मठ स्थापित किये थे। सुदूर दक्षिण केरल प्रदेश में शृंगेरी मठ, उत्तर में हिमालय के शिखर पर ज्योतिर्मठ, पूर्व में समुद्रवर्त्ती उत्कल प्रदेश में गोवर्धन मठ तथा पश्चिम में गुजरात प्रदेश में अरब सागर के एक द्वीप में शारदा मठ की स्थापना कर उन्होंने इस देश की सर्वांगीण एकता का प्रतिपादन किया। ऐसा करते समय वे तीर्थयात्रा की भावना को न भूले थे। उनके ये चारों मठ चार प्रसिद्ध तीर्थों से सम्बद्ध हैं—शृंगेरी रामेश्वर से, गोवर्द्धन जगन्नाथ से, शारदा द्वारका से और ज्योतिर्मठ बदरीनाथ से।

ज्योतिर्मठ का यह तीर्थस्थान, बदरीनाथ, हरिद्वार से १८४ मील दूर, हिमालय की बाहरी शृंखलाओं में, समुद्र-तट से १४८८० फुट की ऊँचाई पर, गंगा की प्रमुख धारा अलकनन्दा के दक्षिण-तट पर स्थित है। अब यह मोटर की सड़क से लगभग ४० मील दूर रह गया है। यह तीर्थ हरिद्वार से लेकर कैलास, मानसरोवर तक के सभी तीर्थों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

पुराणों में कथा आती है कि धर्मराज और श्रीमूर्ति के पुत्र नर-नारायण ने यहाँ घोर तप किया था। अलकनन्दा के बाँये और दाहिने तट के दो शिखर क्रमश नर और नारायण के नाम से आज भी प्रसिद्ध हैं। बदरीनाथ का मन्दिर इसी नारायण पर्वत की छाया में बना हुआ है। यही नर-नारायण ऋषि, जो वास्तव में भगवान् के अवतार थे, द्वापर में अर्जुन और कृष्ण के रूप में अवतरित हुए और वे फिर यहाँ नहीं लौटे। कलियुग के आने पर बदरीनाथ भी उस प्रदेश को छोड़कर चले गये और जाते समय अपनी मूर्त्ति स्थापित करने को कह गये। तब ब्रह्मादि देवताओं ने शालग्राम शिला में बनी ध्यानमग्न चतुर्भुज-मूर्त्ति को विश्वकर्मा द्वारा निर्मित मन्दिर में स्थापित किया। इस कथा में कितना सत्य है, इतिहास कुछ नहीं बतलाता। प्रारम्भ में

इस तीर्थ की स्थापना किसने और कैसे की, कोई नहीं जानता। आचार्य शंकर के जीवन वृत्त से इतना पता लगता है कि बौद्ध-काल तक यहाँ ब्रह्मा द्वारा स्थापित प्रतिमा की आराधना होती थी। न जाने कितनी बार हिम के भयंकर तूफ़ानों ने इस मन्दिर को नष्ट किया होगा और फिर संघर्षशील मानव ने श्रद्धा के बल पर पत्थरों की ये बोलती दीवारें चुनी होंगी। आज भी वर्ष में पाँच महीने यहाँ सब कुछ बर्फ़ से ढँका रहता है।

यद्यपि वर्तमान मन्दिर तीर्थ की प्रसिद्धि के अनुरूप नहीं है और न भारत के अन्य मन्दिरों की भाँति *इसमें भारतीय स्थापत्य और मूर्तिकला* का वास्तविक रूप प्रकट हुआ है, तो भी इसका प्रवेश-द्वार बहुत भव्य है।

इस मन्दिर का शिखर उत्तर भारत के शिखरमन्दिरों की नागशैली का है, जिसे शुकनासा शिखर भी कहते हैं। इसके ऊपरी छोर पर एक आमलक सरीखा कलश है। अलकनन्दा की घाटी में इसी प्रकार के मन्दिर हैं और उनका सम्बन्ध विष्णु की आराधना से है। परन्तु पास ही की मन्दाकिनी घाटी में शिव-मन्दिरों का साम्राज्य है। उन पर स्पष्ट रूप से दक्षिण की स्थापत्य कला का प्रभाव है, यद्यपि स्वयं केदारनाथ का मन्दिर यूनानी शैली की याद दिलाता है, विशेषकर उसके अग्रभाग में बने हुए छप्पर का त्रिकोण। इसी तरह श्रीनगर में कमलेश्वर के प्रसिद्ध मन्दिर में वृषधारिणी सूर्यमूर्ति है। उत्तराखण्ड के इस दुर्गम हिमप्रदेश में एक साथ उत्तर, दक्षिण और विदेशी शैलियों का प्रभाव यात्री के मन में कौतूहल तो पैदा करता ही है, यहाँ पर होने वाले संघर्षों और समन्वयता की याद भी दिलाता है।

बदरीनाथ के निर्माण के पीछे न मालदार पूँजी थी और न ललितकला। उसके पीछे तो केवल सरल भक्ति थी, जो कलाकार में पूजा और शृंगार न आडम्बर उसी से दब तो गई परन्तु प्रकृति के वैभव के कारण मन्द नहीं हुई।

बदरीनाथ का महत्त्व मानव निर्मित ललित कला के कारण उतना नहीं है जितना प्रकृति के वैभव के कारण। कवि कालिदास ने हिमालय को नगाधिराज व्यर्थ ही नहीं कहा। सदा बर्फ़ से ढँका रहने वाला यह पर्वत संसार का सबसे ऊँचा पर्वत ही नहीं है, प्रकृति के सर्वोत्तम सौन्दर्य का स्वामी भी है। हिम जल से पूरित, निरन्तर अलख जगाती हुई, उन्मादिनी, सदा-नीरा गंगा यहीं बहती है। ऐसे प्रदेश में पहुँच कर अकवि भी कवि और अदार्शनिक भी दार्शनिक बन जाता है। युग-युगान्त से यक्ष, किन्नर, किरात, खश आदि न जाने कितनी जातियाँ यहाँ पनपीं और मिट गईं। विष्णु, शिव, इन्द्र और कुबेरादि न जाने कितने देवताओं के साम्राज्य यहाँ उठे और गिर गये। और न जाने कैसे सृजन और प्रलय के इस खेल के बीच आर्य देव विष्णु, अनार्य देव शिव, और यक्षों के देव कुबेर, ये सब एक संस्कृति के अंग बन गये।

—दिल्ली से प्रसारित

हमारी सैनिक परम्परा

आर० पी० नाइक

जिस समाज में अराजकता हो, वह नष्ट हो जाता है। राजा के दण्ड के भय से प्रजा में शान्ति रहती है। साथ ही दूसरे राष्ट्र भी उस पर आक्रमण करने का साहस नहीं करते। राज्य की रक्षा में सेना ही राजा की सहायक होती है। शुक्रनीति कहती है

सैन्याद्विना नैव राज्यं न धनं न पराक्रमः।
बलिनो वशगाः सर्वे दुर्बलस्य च शत्रवः॥
भवन्त्यल्पजनस्यापि नृपस्य तु न किं पुनः॥

वैदिक काल में आर्य लोग कबीलों में रहते थे और राजा उनका नेता हुआ करता था। युद्ध काल में राजा तथा उसके निकट सम्बन्धी रथों पर चढ़ कर लड़ाई लड़ते थे और जनसाधारण पैदल।

वैदिक काल के बाद के समय में भी रथ और पदाति सेना के विशेष अंग बने रहे, किन्तु धीरे धीरे रथों का महत्त्व घटता गया, जब कि पैदल सेना आज की सेना का भी एक विशेष अंग मानी जाती है। महाभारत काल में हाथी भी सेना का अंग बन चुका था और घोड़े का भी उपयोग युद्ध में होने लगा था। इन चार अंगों को मिला कर ही पूरी सेना बनती थी और यही कारण है कि उसे चतुरंगिणी सेना कहा जाता था, अर्थात् जिसके चार अंग हों—रथ, घोड़े, हाथी और पैदल। इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि पोरस के समय में भी सेना के यही अंग थे और आगे चल कर हर्ष के समय में जब ह्वेनत्सांग चीन से

भारत में आया था तब उसने भी सेना के यही मुख्य अंग देखे। शुक्रनीति कहती है कि रथ और हाथी का उपयोग आवश्यकता से अधिक न करना ही श्रेयस्कर है।

वैदिक काल में समाज के प्रायः सभी सशक्त मनुष्य सेना में रहते थे, परन्तु उनका नेतृत्व क्षत्रिय ही किया करते थे। महाभारत काल तक इतना परिवर्तन हो गया था कि युद्ध में अधिकतर केवल क्षत्रिय ही लड़ा करते थे। हाँ, उनकी थोड़ी बहुत सहायता अन्य वर्ग भी करते थे। सैनिक शिक्षा देने का कार्य ब्राह्मणों के हाथ में था। कौटिल्य के समय तक तो राज्य इतना विस्तृत और समाज का संगठन इतना जटिल हो चुका था कि रक्षा के कार्य के लिये एक ऐसी स्थायी शक्ति का निर्माण करना आवश्यक हो गया, जो सदैव राष्ट्र की रक्षा के लिये तत्पर रहे और ऐसा न हो कि जब देश पर आक्रमण हो तब लोगों को इकट्ठा करके उन्हें सैनिक शिक्षा देनी पड़े और तब कहीं राष्ट्र मोर्चा ले सके। अब मैं सेना के संगठन के विषय में कुछ कहूँगा।

कौटिल्य के अनुसार १० सैनिकों के ऊपर एक पदिक होता था, १० पदिकों के ऊपर एक सेनापति और १० सेनापतियों के ऊपर एक नायक। विडम्बना देखिये कि आज भी यही पदिक भारतीय सेना का छोटा सा अधिकारी होता है।

यह नहीं समझना चाहिये कि उस समय सब उच्च पद केवल क्षत्रियों को ही दिये जाते थे। हम महाभारत में देखते हैं कि एक दिन द्रोणाचार्य को सेनापति बनाया गया था जो कि ब्राह्मण थे, और एक दिन कर्ण को जो कि केवल सूत-पुत्र के नाम से जाने जाते थे। इसी बात को लक्ष्य कर कर्ण ने कहा था —

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्॥

इन चार अंगों के अतिरिक्त प्राचीन भारत की सेना के संगठन में सहायक अंग भी रहा करते थे जैसे यातायात, भण्डार तथा चिकित्सक दल आदि। भंडार विभाग का कार्य यह था कि सेना के लिये जो वस्त्र अथवा अस्त्र-शस्त्र आवश्यक हों, उन्हें सेना के साथ साथ लेकर चले। यातायात विभाग का कार्य भंडार विभाग के कार्य से सम्बन्धित था क्योंकि वाहनों के बिना भंडार सेना के साथ ले जाया नहीं जा सकता था। चिकित्सक दल के विषय में कौटिल्य लिखते हैं—चिकित्सकगण शस्त्र, यन्त्र, मरहम तथा पट्टी के साथ सेना के पृष्ठ भाग में रहे और साथ ही स्त्रियाँ भी हों जो कि भोजन तथा शक्तिवर्द्धक पेय तैयार रखें। वे स्त्रियाँ सैनिकों से उत्साहवर्द्धक शब्दों में बात चीत करें।

स्पष्ट है कि भारतवर्ष में बहुत पुराने समय से नर्सिंग (परिचर्या) का चलन था। इस तरह हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में सेना में कार्यक्षमता उच्च श्रेणी की थी, और उस समय के संगठन और आज के संगठन में पर्याप्त समानता है।

सैनिक वृत्ति का पालन करनेवाले सिपाहियों को राज्य की ओर से वेतन दिया जाता था। वेतन के कई प्रकार थे, जैसे सिक्के, सामान, जीता हुआ धन, भूमि आदि। वीरता का काम करने वाले सैनिकों को विशेष पारितोषिक भी दिया जाता था।

किसी सेना में कितने ही शूरवीर सिपाही क्यों न हों वह तब तक अच्छी सेना नहीं कही जा सकती जब तक कि उसके सैनिकों को अच्छा सैनिक प्रशिक्षण नहीं मिलता। शुक्र नीति में अशिक्षित सेना की तुलना कपास की गांठों के साथ की गयी है।

राजा से यह अपेक्षित था कि वह समय समय पर सेना का निरीक्षण करे और उसकी कार्यक्षमता बढ़ाने के लिये जो आयोजन आवश्यक हो उन्हें भी करे। कौटिल्य कहते हैं कि उसे सैनिक वस्त्र धारण कर हाथी, रथ अथवा घोड़े

पर अश्व प्रकट हो कर खड़ी हुई सेना का निरीक्षण करना चाहिये।

यह तो हुआ चल सेना का सगठन। उसके प्रशासन तथा सचालन के लिये यह आवश्यक था कि केन्द्र में भी एक ऐसा विभाग हो जिस का काम केवल सेना की देख रेख हो। अधिकतर सेनानायक और सेना-सचिव के पद पर एक ही अधिकारी हुआ करता था। मौर्यों के काल में देश की सैन्य शक्ति के नियन्त्रण एव निर्देशन के लिए केन्द्र में एक बड़ा ही सगठित सेना विभाग था जिसके ६ अग थे और प्रत्येक अग में ५ सभासद थे। मैगेस्थनीज़ के कथनानुसार ये ६ विभाग थे नौ विभाग, यातायात, रसद, पदाति, अश्वारोही तथा हाथी। आगे चलकर शुक्रनीति के समय में भी केन्द्र में ऐसा ही एक सगठित सचिवालय था।

अब मैं वाहनो एव शस्त्रों के विषय में कुछ कहूंगा। सेना के चार अग उनकी भिन्न भिन्न उपयोगिताओं के कारण बने थे। जो काम एक कर सकता था वह दूसरा नहीं। पैदल सेना ऊंचे-नीचे हर प्रकार के मैदान में लड़ सकती थी, रथ नहीं। रथ तेजी से शत्रु पर आक्रमण कर सकते थे और हाथी एक अभेद्य दीवार खड़ी कर देते थे।

भारतवर्ष के सब से पुराने अस्त्र धनुष और बाण हैं जिनका उपयोग वैदिक काल में भी हुआ करता था। वज्र, परशु, चक्र, असि अथवा तलवार तथा गदा आदि अस्त्र भी थे, इनके प्रयोग में कई योद्धा बड़ी ही निपुणता प्राप्त कर चुके थे। बचाव के अस्त्रों में कवच और ढाल मुख्य थे। प्रत्येक सेना तथा उसकी टुकड़ी के अलग अलग ध्वज हुआ करते थे जिन से वह दूर से ही पहचानी जा सकती थी। सैनिकों का उत्साह बढ़ाने के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्र भी सेना के साथ चलते थे, जैसे तुरही, भेरी और ढोल। महाभारत काल में शख का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। यहाँ तक कि प्रत्येक योद्धा के शख का नाम हुआ करता था जैसे कृष्ण का शख पाञ्चजन्य था, अर्जुन का देवदत्त भीम का पौण्ड्र और युधिष्ठिर का अनन्त विजय। इसमें सन्देह है कि प्राचीन भारत में बारूद का उपयोग किया जाता था, किन्तु कौटिल्य के ग्रन्थ में विशेष प्रकार के यन्त्र का वर्णन अवश्य मिलता है जिसका नाम है शतघ्नी अर्थात् १०० मनुष्यों को एक साथ मारने वाला यन्त्र।

नगरों की रक्षा के लिए उसके चारो ओर दीवारें भी बनाई जाती थीं। दुर्गों का निर्माण भी काफी उन्नति कर चुका था और कई दुर्ग तो अभेद्य माने जाते थे। दुर्ग के चारो ओर खाइयाँ भी खोदी जाती थीं। और इस तरह नगरों में रहने वाली प्रजा की शत्रु के आक्रमणों से रक्षा के लिये पर्याप्त प्रबन्ध किया जाता था।

अब हम देखेंगे कि प्राचीन भारत में सेना किस प्रकार प्रयाण करती थी और फिर युद्ध किस प्रकार हुआ करते थे। वैदिक काल में आर्यों का अनार्यों से सघर्ष चलता ही रहता था। वे अधिकतर तम्बुओं में रहते थे और जैसे-जैसे एक जगह से दूसरी जगह जाते थे, रास्ते में युद्ध करते हुए निकल जाते थे। आगे चलकर वे नगरों में रहने लगे और महाभारत के समय तक उन्होंने बड़े-बड़े नगर, पुर एव दुर्ग बना लिये। पहले वे अनार्यों के पुरों तथा दुर्गों का नाश करने के कारण अपने प्रिय देवता इन्द्र को पुरन्दर, पुरों का नाश करने वाला, कहते थे, परन्तु अब वे स्वय पुरों में रहने लगे थे। अब सेना के यान का भी ढग बदल गया था और अधिकतर शहर में रहने वाले सैनिकगण कुछ काल के लिये युद्ध के मैदान में जाकर तम्बुओं में रहते थे और यदि दूर जाना होता था तो बीच में कई पड़ाव भी किये जाते थे। विजय-यात्रा का सबसे उपयुक्त काल मार्गशीर्ष

का महीना माना जाता था।

प्राचीन भारत के राजनीतिज्ञों को ज्ञात था कि कोई भी सेना कितनी भी शक्तिशाली क्यों न हो, तब तक विजयिनी नहीं हो सकती जब तक कि उसके नेता युद्धनीति में पूर्णतया निपुण न हों। वैदिक काल में किसी युद्धनीति (स्ट्रेटेजी) का पालन न किया जाता था। ऋग्वेद की एक ऋचा से ज्ञात होता है कि पैदल सैनिक रथ में बैठे हुए सैनिकों के साथ-साथ इकट्ठे मिलकर आगे बढ़ते थे।

जब शत्रु पत्थर के बने हुए किले में घुस जाता था तब उस पर घेरा डाल दिया जाता था और कभी-कभी उसमें आग भी लगा दी जाती थी। महाभारत के काल तक युद्धनीति एक विज्ञान बन चुका था और अनेक प्रकार के व्यूह बनाने में निपुण सेनानी को ही अच्छा सेनापति माना जाता था। व्यूह अनेक प्रकार क होते थे जैसे मण्डल, सूची, वज्र और मकर इत्यादि। इन सब में दुर्गम और कठिन व्यूह होता था चक्रव्यूह। आपको ज्ञात होगा कि द्रोणाचार्य के बनाए चक्र व्यूह में अभिमन्यु घुस तो गया, पर उसमें से बाहर निकलने का ढंग न जानने के कारण मारा गया।

मौर्यों के काल तक यह विज्ञान और भी उच्च और जटिल हो चुका था। वे केन्द्र, कक्ष तथा पक्ष इन सबका अर्थ अच्छी तरह जानते थे और सेना को आगे बढ़ाने तथा पीछे हटाने अथवा दाएँ या बाएँ आक्रमण करने की बारीकियों को अच्छी तरह समझते थे। भिन्न भिन्न योद्धाओं या उनके वाहनों में कितना अन्तर होना चाहिये यह भी कौटिल्य ने लिखा है।

युद्ध के तीन प्रकार माने जाते थे—प्रकाश, कूट, एवं तूष्णी। इन सबमें प्रकाश युद्ध उत्तम प्रकार का था जिसमें किसी प्रकार के छल छिद्र के लिये स्थान न था। कूट युद्ध आजकल की मिलिटरी स्ट्रेटेजी से मिलता जुलता है, और कौटिल्य के ग्रन्थ के इस हिस्से को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है मानो हम मैकियावेली नामक इटेलियन राजनीतिज्ञ के ग्रन्थ को पढ़ रहे हैं। इस सिद्धान्त में दया, धर्म और उदारता आदि गुणों के लिये कोई स्थान नहीं है। युद्ध एवं प्रेम में सब ठीक है, यही सिद्धान्त यहाँ सर्वोपरि माना गया है। शत्रुओं के सैनिकों में चुपचाप उनके स्वामी के प्रति विश्वासघात की भावना उत्पन्न करना ही तूष्णी युद्ध था। इनमें से बहुत सी बातें तो केवल बौद्धिक उड़ान हैं। कार्यक्षेत्र में भारतीय लोग बड़े ही धार्मिक योद्धा होते थे।

भारतवर्ष में धर्म युद्ध को सदा ही उच्च स्थान दिया गया है। गीता में श्रीकृष्ण ने यही कहा है कि धर्म युद्ध से बढ़कर कोई युद्ध नहीं। धर्म युद्ध वह है जिसका ध्येय किसी सत्य अधिकार की रक्षा हो और साथ ही यह भी आवश्यक है कि उस ध्येय या उद्देश्य तक पहुँचने के लिये ऐसे साधनों का ही उपयोग किया जाय जो धर्मसंगत हों। विष में बुझे हुए तीरों का उपयोग हमेशा ही निषिद्ध रहा है। योद्धा से यही अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने बराबर के योद्धा से लड़े। साथ ही गौतम, आपस्तम्ब आदि के धर्मसूत्रों के अनुसार सच्चा योद्धा वही है जो किसी ऐसे सैनिक को नहीं मारता जो कि अपने घोड़े या रथ से गिर चुका हो, या क्षमा माँग रहा हो, या जो भाग रहा हो।

पुरातन समय में युद्धबन्दियों के साथ भी बहुत अच्छा व्यवहार किया जाता था। सबसे बड़ी बात यह है कि जब किसी प्रदेश में युद्ध होता था तब भी वहाँ किसान बिना किसी रोक-टोक के अपने कृषि-कार्य में सलग्न रहते थे। इस बात की पुष्टि मैगेस्थनीज ने भी की है। जीते हुए राष्ट्र के राजा के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार किया जाता था। स्मृतिकारों का आदेश था कि जब कोई राजा किसी देश को जीत ले तब उसका कर्त्तव्य

है कि उस देश के राजवंश को नष्ट न करे, बल्कि उस वश के ही किसी पुरुष को वहाँ का राज्य दे दे। रघु तथा समुद्रगुप्त ने अपनी विजययात्रा में ऐसा ही किया था। वहाँ के देवताओं तथा रीतियों का आदर करना भी उसके लिये आवश्यक था। मनु कहते हैं —

जित्वा संपूजयेद्देवान्
ब्राह्मणाश्चैव धार्मिकान्।

आज के विजयी राष्ट्र इससे बहुत कुछ सीख सकते हैं। अब तक इतिहास लेखकों ने छोटे-छोटे युद्धों को भी बड़ा महत्त्व दिया है और विदेशियों की प्रशंसा करने का भरसक प्रयत्न किया है। यही कारण है कि सिकन्दर ने भारतवर्ष के एक कोने में जो छापा मारा था उसको भारत के ऊपर एक बड़ी भारी चढ़ाई का रूप दे दिया गया है। श्री जवाहरलाल नेहरू कहते हैं— "सैनिक दृष्टिकोण से सिकन्दर का भारत पर आक्रमण एक छोटा सा आक्रमण था और फिर वह बहुत सफल भी नहीं हुआ। पर इतना मानना ही होगा कि हमारी सैन्य शक्ति जितनी प्रभावशाली हो सकती थी, उतनी नहीं हुई। उसके कारण हैं—हमारे देश का विस्तार, यातायात के साधनों का अभाव, आर्यों की कर्मठता के स्थान पर धीरे धीरे विलासप्रियता का आविर्भाव, समय के साथ साथ अपने वाहनों और साधनों का न बदलना, तथा शत्रु के प्रति असीम उदारता। हमारे इतिहास में इन सब के अगणित उदाहरण हैं।"

भारतीय सैनिक की वीरता में भला किसी को क्या सन्देह हो सकता है। भीष्म, अर्जुन, कर्ण, अशोक, समुद्रगुप्त, पृथ्वीराज और प्रताप ऐसे नाम हैं जिन्हें सुन कर मुर्दे भी जी उठें। इस देश में स्त्रियाँ भी इस दिशा में कभी पुरुषों से पीछे नहीं रहीं। महाभारत में विदुला ने अपने पुत्र को युद्ध से विमुख देख उसकी कैसी भर्त्सना की थी यह सर्वविदित है। वह कहती है —

क्षणस्य ज्वलित श्रेयो न च धूमायित चिरम्।

भारतीय सदा से आक्रमणात्मक युद्ध के विरुद्ध रहे हैं। विजय के उपरान्त युद्ध से खिन्न और विरक्त होने का उदाहरण अशोक के सिवा ससार में और कौन सा है? यह नहीं था कि भारत की सैनिक शक्ति कभी कम रही हो, किन्तु इतना होते हुए भी विदेशों में उसकी सब विजयें सास्कृतिक विजयें हो रही हैं, जैसा कि लका, बर्मा, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा आदि में भारतीय संस्कृति के विस्तार से स्पष्ट है। साथ ही हम ने कभी भी सेना का बल इतना नहीं बढ़ने दिया कि वह रक्षक के स्थान पर भक्षक बन बैठे। सदा ही सेना पर राजा का कड़ा नियन्त्रण रहा है और सेना का कार्य देश की रक्षा ही माना गया है। आज भी यदि हमारे देश में एक सुसज्जित एवं बलशाली सेना है तो इसलिये नहीं कि हम किसी पर आक्रमण करना चाहते हैं। वह तो आततायियों से हमारी उस कमाई हुई स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये है जो हमारे सत राजनीतिज्ञ ने एक अनोखे ढग से जीती है—लोहे की शक्ति से नहीं बल्कि मन की शक्ति से जो फौलाद से भी अधिक दृढ़ होता है। केवल सेना के बल पर उभरने वाले राष्ट्रों की क्या गति होती है यह जर्मनी और जापान का इतिहास हमें बताता है। राष्ट्र की सच्ची सुरक्षा उसके सैन्य-बल में नहीं किन्तु उसके सत्य पथ पर आरूढ़ रहने में और उसकी प्रजा के आत्मिक बल में है।

ससार से यूनान तथा रोम जैसे सैनिक देश मिट गये किन्तु भारत आज भी जीवित है। कवि के शब्दों में

कुछ बात है हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमां हमारा।

—नागपुर से प्रसारित

रामवृक्ष बेनीपुरी

बुद्धि वह, चातुरी वह, प्रतिभा वह, जो ऐन मौक़े पर राह बताये, पंथ सुझाये, काम चलाये। यों तो बुद्धि उस ख़ास जानवर में भी होती है, जो पीठ पर भारी बोझ लिये, आँखें झुकाये, कान लटकाये, लकीर पकड़े, धोबी घाट तक जैसे-तैसे पहुँच ही जाता है।

मैं मानता हूँ, वैसी बुद्धि, वैसी चातुरी, वैसी प्रतिभा सब को नहीं मिलती। यह भी मानता हूँ, एक लम्बी साधना के बाद ही बुद्धि में वैसा चमत्कार, चातुरी में वैसा पैनापन, और प्रतिभा में वैसे पंख लग पाते हैं जब आदमी एक उड़ान में पहाड़ को पार कर लेता है, एक छलाँग में समुद्र लाँघ लेता है, एक सरपट में मरुभूमि को पीछे छोड़ देता है, जब कि दूसरे लोग साँस रोक कर यह देखने को उत्सुक होते हैं कि अब वह मरा-गड़ा या जला-डूबा।

एक ताज़ा उदाहरण लीजिये। पिछली लड़ाई शुरू हुई। हिटलर ने यूरोप में कुहराम मचा दिया। वह देश पर देश विजय करता गया, ऐसा लगा, सारा संसार तानाशाही के क्रूर पंजे में आकर रहेगा। भारत में अजीब हालत थी, नाज़ीवाद के सभी दुश्मन थे, किन्तु उसके ख़िलाफ़ अंग्रेज़ों को मदद भी किस तरह दी जा सकती थी, जो हमें गुलाम बनाकर रखे हुए थे। हमारे नेताओं की दिमागी परेशानी देखने लायक़ थी, ख़ासकर उन नेताओं की जिनका दिमाग ज्ञान विज्ञान से खचाखच भरा हुआ था। उन्हें एक तरफ खाई दीखती थी, दूसरी तरफ अग्निकुंड धधकता नज़र आता था। किसी को कुछ नहीं सूझता था, किन्तु सेनापति तो वह, जो अन्धकार में भी प्रकाश ढूंढ निकाले। ऐन मौक़े पर उसके मुंह से निसृत हुआ—'भारत छोड़ो'। और, यह क्या सच नहीं कि यदि उसके मुंह से यह वाणी न निकली, तो हम आज भी गुलाम होते?

इतिहास की वह अमर घटना किसे याद नहीं है? नेपोलियन की सेना विजयाभियान को निकली है, सामने आल्प्स खड़ा है। सेना का, सेनानायकों की बुद्धि चक्कर में है, अब क्या हो? "बढ़ो, आल्प्स पार करो।" "यह तो असम्भव है।" 'असम्भव शब्द बुज़दिलों के कोष में होता है।" और, वह देखिये, वह छोटा सा घुड़सवार अपने घोड़े को आगे फँदाता है और लीजिये, आल्प्स पार।

हमें यह घटना तो याद रहती है, किन्तु हम भूल जाते हैं कि सब की ज़िन्दगी में आल्प्स आता है। हम उस आल्प्स को देखते हैं, सहमते हैं, डरते हैं, हिम्मत हार कर बैठ जाते हैं या उसके पार करने की विस्तृत योजनाओं में लग जाते हैं। प्रायः होता है, योजनाएँ बनती ही रह जाती हैं, आल्प्स मुस्कराता ही रह जाता है।

वह मस्तिष्क भी धन्य है जो लम्बी-लम्बी योजनायें बना सकता है। वह पुरुष पुंगव धन्य है, जो योजनायें बनाता है, उन पर चलता है, लोगों को चलाता है। किन्तु ऐसी योजनाओं में भी ऐसी समस्यायें आती हैं, जिनका हल यदि ऐन मौक़े पर नहीं निकाला जा सके, तो योजनायें ही नहीं ख़त्म होतीं, उनके बनाने वाले को भी ले डूबती हैं।

लोग प्रायः कहा करते हैं, अरे, अब ग्यारहवें घंटे में क्या होगा? अजी, मौत के वक्त क्या कुम्हड़ा रोप रहे हो? ऐसे लोगों से मुझे चिढ़ है। वे बेचारे नहीं जानते, यह ग्यारहवाँ घंटा सब से महत्त्वपूर्ण घंटा होता है। यदि ग्यारहवें

घटे में काम करने वाली आपकी बुद्धि नहीं है, तो दस घटों का सारा किया-कराया आप का वर्बाद जायगा। दस घटे तो सब के घटे हैं, प्रतिभाशालियों का घटा तो यही ग्यारहवाँ घटा है। गधे और घोड़े में फर्क बतानेवाला यही घटा होता है, 'मिडिओकर' और 'जीनियस' मे भेद करने वाला यही घटा होता है। 'भोज के वक़्त क्या कुम्हड़ा रोप रहे हो ? जैसे दुनिया में कुम्हड़े रोपे ही नहीं गये—आख़िर दूसरे लोगों ने दस घटों मे क्या किया है ? अक्ल है, तो वे कुम्हड़े हमारे भोज में ही परोसे जायेंगे।

आदमी की पहचान ऐन मौक़े पर ही होती है—यों तो सब धान बाईस पँसेरी वाली कहावत चरितार्थ होती ही है। यदि आपकी बुद्धि में, प्रतिभा में, जीवन है, प्रवाह है, तो ग्यारहवें घटे के सँकड़े रास्ते पर आकर वह और भी तीव्र हो जायगी, अदम्य और अलभ्य हो जायगी। हिमालय की सँकड़ी गली से पतली धारा में निकलने वाली गगा को ऐरावत भी न रोक सका, और यही जब फैल गई, लम्बी चौड़ी हुई, तो उसे एक ऋषि ने चुल्लू में उठा कर पी लिया। किन्तु गगा में कुछ प्रवाह था कि वह अपना रग और स्वाद बचा सकी, नहीं तो, शात विस्तृत समुद्र को तो पी ही नहीं लिया गया, उसे खारा तक हो जाना पड़ा।

मैं मानता हूँ, यह युग 'मिडिओकर' लोगों का है—उनका है, जो पिटे पिटाये रास्ते पर बड़ी सावधानी से, दामन बचाते हुए चलते हैं और धीरे धीरे ऊँची से ऊँची जगह पर पहुँच कर उन पर हँसते हैं जो 'जीनियस' हैं, किन्तु मौक़े के अभाव में जो जहाँ के तहाँ खड़े रह गये या किसी दुर्घटना का शिकार बनकर घायल हो गये या मर-खप भी गये। पर इतिहास बताता है, दुनिया की तरक्क़ी के हर मोड़ पर उन्हीं की सूझ-बूझ ने आगे का रास्ता दिखलाया, वे मर खप भी गये तो क्या हुआ, उन्हीं की हड्डियों को मशाल बनाकर पीछे आने वाली सतानों ने अपने गतव्य पथ का पता लगाया।

मैं मानता हूँ, ऐन मौक़े की तलाश में आदमी को बैठा नहीं रहना चाहिये, ऐसे मौक़े सूचना देकर आते भी नहीं। काम का एक सिलसिला होता है, जिसकी किसी कड़ी के साथ यह मौक़ा भी बँधा होता है। जहाँ सिलसिला नहीं, वहाँ मौक़ा भी नहीं। किन्तु यह भी सच है कि यदि काम का सारा सिलसिला रखा जाय, लेकिन ऐन मौके की कड़ी उससे निकाल दी जाय, तो सारा शीराज़ा बिखर जायगा।

ज़रा एक उदाहरण को लेकर देखें। फुटबाल के मैदान में हम चलें। एक तरफ से गेंद चली, खिलाड़ियों का वह सम्मिलित और सिलसिलेवार प्रयत्न है, जो उसे विपक्षी के गोल के निकट तक पहुँचाता है। किन्तु ऐन मौक़े पर कोई अच्छी 'किक' देने वाला नहीं रहा, तो सारी मेहनत अकारथ जाती है। इस ऐन मौक़े पर 'किक' देने वाले पर ही 'टीम' का सारा भविष्य निर्भर करता है। हर टीम मे बस एक दो आदमी ही ऐसे होते हैं, किन्तु जहाँ ऐसे आदमियों का अभाव है, वह टीम सदा हारने वाली टीम होगी, भले ही उसके आठ नौ खिलाड़ी अपनी जगह पर बिल्कुल फिट हों, पूरे तगड़े हों।

जो बात खेल के मैदान की है, वही जीवन के हर क्षेत्र की है। खिलाड़ी सब होते हैं, 'स्कोरर' कम। किन्तु ऐसे लोग भी हैं जो कहते हैं, अरे, 'स्कोर' करना तो एक 'चास' है। मेहनत किसी ने की, आपने एक हल्की 'किक' लगाकर वाहवाही लूट ली। हल्दी लगी न फिटकिरी, रग चोखा रहा आपका।

वैसे लोग नहीं जानते, इस 'किक' में क्या क्या होता है ? आँखों की नसें और अँगूठे की नसें एक हो रही हैं, मस्तिष्क के सकोचन और हृदय की धड़कन मे एक तार बँध गया है, सारी कर्मेन्द्रियाँ चौकस हैं, सजग हैं। आँखों ने ज़रा धोखा दिया, अँगूठे ने किक देते समय ज़रा भी लापरवाही की, दिमाग ने सारी परिस्थिति को तुरत ही भाँप नहीं लिया और हृदय

की धड़कन ने यदि पैरों में थोड़ी भी हिलडुल डाल दी, तो सारा किया-कराया बर्बाद! यह एक क्षण कई सहस्र 'क्षणों' का सार होता है। जिसे आप 'चांस' कहते हैं, वह एक बड़ी साधना का आकस्मिक फलमात्र है। किन्तु, आकस्मिक आप के लिए, स्कोरर के लिए तो वह तपस्या का समुचित वरदान है।

ग्यारहवें घंटे में काम करना, किसी ऐसे-वैसे बूते की बात नहीं है। ग्यारहवें घंटे की तैयारी एक घंटे में कर लेना, समय का वह सकोच है जो साधारण लोगों का दम घोंट देता है। ऐन मौक़े पर काम कर ले जाने के लिए शेर का दिल चाहिए, इस्पात की नसें चाहियें। ज़रा भी घबराहट हुई, हाथ ज़रा काँपे, पैर ज़रा पिछड़े, कि सारा गुड़ गोबर। यह साधना का पथ है—"तलवार की धार पै धावनो है।"

किन्तु, जो इस गुर को जान गये हैं, जिन्होंने इसका रस ले लिया है, उन्हें इसमें मज़ा भी कम नहीं मालूम होता। देखनेवालों के मुँह पर हवाइयाँ उड़ रही हैं—अरे, अब क्या होगा, अरे, यह कैसे होगा, यह आदमी अब इस आख़िरी वक्त में क्या कर सकेगा, यह गया, वह गया। किन्तु इन सारी हाय-तोबाओं से उदासीन वह आदमी सारी शक्ति को एक जगह केन्द्रित कर चुपचाप काम किये जा रहा है, क्योंकि खोने के लिए उसके पास घंटे कहाँ, क्षण भी कहाँ। उसकी चेतना सजग है, आँखें सजग हैं, हाथ सजग हैं, सभी इन्द्रियाँ सजग सैनिक की तरह अपने अपने क्षेत्रों में डटी हैं, और लीजिये, ऐन मौक़े पर कमाल होकर ही रहा। आदमी के कर्तृत्व की, नेतृत्व की, मैं कहूँ, कवित्व की, असली जाँच, असली पहचान, ऐन मौक़े पर ही होती है।

अभी इस पिछले युद्ध की बात है। अलेग्ज़ेण्डर की सेना मिस्र में युद्ध कर रही थी। नाज़ी-वाहिनी उसका पीछा कर रही थी। एक दिन ऐसा आया कि गोले-बारूद तक नहीं रह गये। अब क्या हो? आत्मसमर्पण? एक सैनिक के लिए आत्मसमर्पण क्या चीज़ है, कौन नहीं जानता? तो भी आत्मसमर्पण भी तो होते ही रहते हैं। किन्तु ऐसे मौक़े पर ही तो आदमी की पहचान होती है, उसके असली धात की पहचान। अलेग्ज़ेण्डर के दिमाग़ में ऐन मौक़े पर आत्मसमर्पण के बदले एक नई सूझ सूझी। उसने कहा—तोपों में बारूद की जगह बालू भरकर चलाते जाओ। तोपें बालू उगल रही हैं—धड़ाम धड़ाम, धूल ही धूल। और उसी की ओट में उसकी सेना पीछे इस तरह हट गई कि जब नाज़ीवाहिनी वहाँ पहुँची तो सिवा कुछ ख़ाली तोपों के उसके हाथ कुछ नहीं लगा।

राजनीति में, साहित्य में, कला में, हर क्षेत्र में ऐसे उदाहरण हैं। ऐन मौक़े की सूझबूझ ने ही उनमें रस दिया है, सौंदर्य दिया है, सफलता दी है। आप कोई उपन्यास लिख रहे हों, कोई नाटक रच रहे हों, कोई कविता बना रहे हों कोई तस्वीर गढ़ रहे हों—देखियेगा, उसके बनाने के सिलसिले में कोई ऐसा भी मौक़ा अवश्य आया होगा जब स्वयं उलझन का अनुभव किया होगा—अब कहानी को कौन-सा मोड़ दें, नाटक में कौन-सी नई अवतारणा लावें, कविता की आगे की कड़ी क्या हो और तस्वीर के अमुक भाग में रंगों का मेल कैसा दें? यदि उस ऐन मौक़े पर बुद्धि ने आपका साथ न दिया होता, तो फिर आप कहाँ रहते, आपकी कृति का क्या हश्र होता? कल्पना कीजिये।

इसीलिए मैं अपनी बात को फिर दुहराता हूँ—बुद्धि वह, चातुरी वह, प्रतिभा वह जो ऐन मौक़े पर राह बताये, पथ सुझाये, काम चलाये। मैं मानता हूँ, ऐसी बुद्धि, ऐसी चातुरी, ऐसी प्रतिभा एक लम्बी साधना के बाद आती है। तो साधना की धूनी भी रमती रहे, किन्तु हम उसकी परिणति को न भूलें, यही मेरा अंतिम निवेदन है।

—पटना से प्रसारित
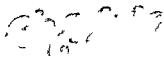
मौलाना नियाज़ फ़तेहपुरी

दुनिया में कोई ज़बान ऐसी नहीं जिसमें मसलें या कहावतें न पाई जाती हों और अहले ज़बान उनका इस्तेमाल न करते हों। औरतों की कहावतें, बच्चों की मसलें, पेशावरों के ज़रबुल अमसाल, इसी तरह अमीर व फ़क़ीर, जाहिल व आलिम शाह व गदा, दाना व बेवक़ूफ़ सभी तबक़ों की कहावतें हमको अदब में मिलती हैं और हैरत होती है कि "इतना बड़ा ज़ख़ीरा क्यों कर फ़राहम हो गया और हम उसे अदब के किस सिन्फ़ में जगह दें।

कहावतें, बोली ठोली, ज़िला जुगुत, फब्ती, मुहावरे सब एक ही क़बीले की चीज़ें हैं जिनका तअल्लुक़ तारीख़ या इल्म व हिकमत से यक़ीनन ही नहीं है। लेकिन अगर हम ज़बान व मुहावरात, अदबे लतीफ़ या सनाए बदाए के ज़ैल में उनका ज़िक्र करें तो गालबन बेजा न होगा।

मुहावरे शेर तो क़तन नहीं, लेकिन शेर का सा लुत्फ़ व ईजाज जरूर उनमें पाया जाता है। यों तो अदब और अदब की हर सिन्फ़ ज़िन्दगी से तअल्लुक़ रखती है, लेकिन कहावतों में जिन्दगी को समझने के लिये जो बलीग इशारे पाये जाते हैं उनमें एक ऐसी अदब आमेज़ कैफ़ियत भी मिलती है जो उसे तनक़ीदी लिटरेचर की तरफ़ ले जाती है। अदब की तरक़्क़ी ज्यादातर ज़िन्दगी के तजुर्बात पर मुनहसिर है।

कहावतों की बहुत सी क़िस्में हैं। उनमें से बाज़ तो वह हैं जो किसी ख़ास वक़्त या वाक़ेआ की पैदावार हैं, लेकिन अब उनकी यह तारीख़ ख़त्म होकर सिर्फ़ नसीहत आमेज़ मक़ूला होकर रह गई है। जैसे "जान है तो जहान है" 'आप से गया जग से गया" "आत्मा में पड़े तो परमात्मा की सूझे' वग़ैरा।

इसी क़िस्म के नसीहत आमेज़ मक़ूले इख़लाक़ी या मज़हबी लिटरेचर में शामिल किये जा सकते हैं, और हो सकता है कि यह दरअस्ल इख़लाक़ी या मज़हबी लिटरेचर से ही लिये गये हों—मसलन्, गुरु नानक का यह क़ौल जिसमें सवाल करने की मज़म्मत की गई है बहुत मशहूर है कि 'आपसे मिले सो दूध बराबर, मांगे मिले सो पानी', या वक़्त पर काम न करना और उसके बाद अफ़सोस करना इस हिमाक़त को कबीर ने इस तरह जाहिर किया है 'आगे के दिन पीछे गये कियो न हरि से हेतु, अब पछताये होत कहा जब चिड़िया चुग गई खेत।'

ईसप की कहानियों की तरह हमारे यहाँ भी लोक कहानियों का बड़ा ज़ख़ीरा मौजूद है और उनसे बहुत सी कहावतें बन गई हैं, मसलन् 'आँख की सुइयाँ निकालना रह गई,' 'पच कहें तो बिल्ली ही सही' 'दाल में काला है' 'थाली का बैंगन', 'करघा छोड़ तमाशा जाये', 'बन्दर क्या जाने अदरक का सवाद'। यह सब निहायत दिलचस्प लोक कहानियों से तअल्लुक़ रखती हैं, जिनकी तफ़सील का यहाँ मौक़ा नहीं।

दूसरी क़िस्म कहावतों की वह है जिनका तअल्लुक़ ज्यादातर मुहावरात से है या तजुर्बात से, और बाद को जिन्होंने इस्तेआरा की शक्ल अख़्तियार कर ली है, जैसे—'पुरानी लकीर का फ़क़ीर'—'पत्थर को जोंक नहीं लगती'—'फूल वही जो महेसर चढ़े'—'अकेली तो लकड़ी भी नहीं जलती'—'अपना पेट तो कुत्ता भी पाल लेता

है'—'चील के घोसले में माँस कहाँ'—'ख़रबूज़े को देखकर ख़रबूज़ा रंग बदलता है।'

इसी क़िस्म की बाज कहावतें वह हैं जो ज़्यादातर औरतों और औरतों की दुनिया से तअल्लुक़ रखती हैं और रस्मो रिवाज की अच्छाई या बुराई करने के लिए वजा की गई हैं, मसलन् 'आँसू एक नहीं, कलेजा टूक टूक'—'आँख फूटी पीर गई'—'आँख न नाक बन्नो चाँद सी'—'आओ पड़ोसिन लड़ें'—'अपनी पीर पराई बातें (यानी अपनी मुसीबत तो मुसीबत है और दूसरों की मुसीबत बातें ही बातें हैं)। जब कोई नई दुलहिन सुसराल आती है और फ़ौरन घर के इन्तज़ाम में लग जाती है तो उसे रस्म व रिवाज के लिहाज़ से बेशर्म समझा जाता है और तंज़ के तौर पर कहा जाता है 'उठाओ मेरा मक्ना मैं घर संभालूँ।'

तीसरी क़िस्म कहावतों की यह है जिनके लिहाज़ से यह तो पता चलता है कि उनकी पुश्त पर कोई न कोई वाक़ेआ जरूर है, लेकिन उसका इल्म हमको नहीं। ममलन्, एक मसल है, "नाच न जाने आँगन टेढ़ा"—यक़ीनन किसी बुरा नाचने वाले पर नुक्ताचीनी की गई होगी और उसने अपना ऐब छिपाने के लिये यह जवाब दिया होगा कि "मैं क्या करूँ तुम्हारा आंगन ही टेढ़ा है।" एक मसल इसी क़िस्म की और है—"अन्धा गाए बहरा बजाए।" ज़ाहिर है कि दोनों अपनी अपनी अलहदा हाँक रहे होंगे।

आपने एक मसल "टेढ़ी खीर" की भी सुनी होगी। किसी अन्धे से पूछा गया 'खीर खाओगे?' उसने कहा, "खीर कैसी होती है?" जवाब दिया गया, "बगला जैसी सफ़ेद।" उसने फिर पूछा "बगला कैसा होता है?" जवाब देने वाले ने हाथ टेढ़ा करके सामने कर दिया। अन्धे ने उसे टटोला तो बोला, "यह तो बड़ी टेढ़ी खीर है।" इसी तरह की बहुत सी और कहावतें हैं जिनकी बुनियाद या तो लोक-कहानियों पर क़ायम है या किसी न किसी ख़ास वाक़ए पर, जिसका इल्म हमको हासिल नहीं। उनमें चन्द ये हैं: 'चार दाँ दाढ़ी में तिनका'—'देखो ऊँट किस करवट बैठता है'—'तबेले की बला बन्दर के सर'—'हम भी हैं पाँचों सवारों में'—'मुर्ग़ की टाँग'—'कुछ बसन्त की भी ख़बर है'—'यह मुँह और मसूर की दाल' इस मसल के मुतअल्लिक़ मौलाना अशरफ़अली थानवी मरहूम ने एक जगह लिखा है कि यह *मसल* दरअसल यों है— यह मुँह और मसूर की दार।

कहावतों की एक क़िस्म और है जिन्हें तलमीही कहते हैं, याने उनका तअल्लुक़ किसी न किसी तारीख़ी रिवायत से है। मसलन् "घर का भेदी लंका ढाये।" इसमें इशारा है उस रिवायत की तरफ़ कि जब रामचन्द्र जी ने रावण पर चढ़ाई की तो रावण के भाई ने घाट राज की बातें रामचन्द्र जी को बता दीं और वह इस वजह से जल्द कामयाब हो गये। एक और मसल है 'सूत की अटी देकर यूसुफ़ की ख़रीदारी'। इसमें उस बुढ़िया की तरफ़ इशारा है जो मिस्र के बाज़ार में सूत की एक अटी देकर यूसुफ़ को ख़रीदना चाहती थी। एक मसल मशहूर है—'कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगुवा तेली।' इस कहावत में इशारा है उस रिवायत की तरफ़ कि मालवा व गुजरात के राजा भोज ने अपनी लड़की गंगुवा तेली के लड़के से बियाह दी थी, सिर्फ़ इसलिये कि उसने एक बार दीपक राग गाकर महल के चिराग़ रोशन कर दिये थे। एक बहुत मशहूर कहावत है—'अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा'। उसके मुतअल्लिक़ जो रिवायत बयान की जाती है वह ग़ालबन लोक-कहानी है और कोई तारीख़ी हैसियत नहीं रखती।

इसी सिलसिले में 'दिल्ली दूर' वाली कहावत ख़ुसूसियत के साथ क़ाबिले ज़िक्र है। बयान किया जाता है कि एक बार जहाँगीर ने लाहौर से अपनी महबूब बेगम नूरजहाँ के पास एक क़ासिद रवाना किया जिसने दावा किया

था कि वह एक दिन मे दिल्ली पहुँच जायेगा। शाम के वक़्त वह बिलकुल नीम जाँ हालत में दिल्ली के करीब पहुँचा तो उसने किसी बुढ़िया से पूछा कि क्या 'दिल्ली दूर' है। उसने कहा, 'नौज दिल्ली दूर हो'—उसने नौज को 'हिनौज़' समझा और मायूस होकर वहीं दम तोड़ दिया। जहाँगीर को ख़बर हुई तो उसने अफसोस किया और उसकी क़ब्र पर एक इमारत बनवा दी जिसे पैक का मक़बरा कहते हैं और देहली से पाँच कोस के फासले पर अब भी मौजूद है। उसका सन् तामीर ११३२ हि० है जो जहाँगीर का ज़माना था।

पहले कहावतों का इस्तेमाल बहुत आम था और शुअरा भी अपने कलाम मे ज़ोर पैदा करने के लिये उनका इस्तेमाल करते थे। अब हम यहाँ चन्द अशआर नक़्ल करते हैं जिनसे कहावतों की अहमियत व मक़बूलियत का अन्दाज़ा अच्छी तरह हो सकता है। दाग़ का शेर है —

पडा हूँ सग राहे दोस्त बन कर कूए दुश्मन म,
सुना है आदमी कुछ ठोकरें खा कर सँभलता है।

मीर फरमाते हैं

इस सतान से दे तू साफ जवाब,
आख फूटी बला से पीर गई।

एक और हिकायत है जिसे किसी ने यूँ नज़्म किया है

तीरे जानाँ जो लगा दिल म न करना शिकवा,
आगे आँखो के नही करते बदी पल्को की।

'दाल में काला है'—इस कहावत को जान साहब ने अपने मख़सूस रग में इस तरह इस्तेमाल किया है

बाल हैं बिखरे, बद हैं टूटे,
टेढा कान का बाला है।
ताड लिया बस हमने भी,
कुछ दाल में काला काला है।

अलगरज़ क़दीम असातज़ा का कलाम कहावतो और महावरों से भरा पडा है, लेकिन अब इस तरफ मुतलक़ तवज्जोह नहीं जाती और इसका नतीजा यह है कि अब शायरी सिर्फ़ ख़्याल की रह गई है। ज़बानदानी से उसे कोई तअल्लुक़ नहीं, यानी उसमें यू तो वज़न व सन्जीदगी, फ़लसफ़ा व सियासियात और ज़िन्दगी बराए ज़िन्दगी सब कुछ है, लेकिन जबान नहीं, और जब यह बात जदीद रग के शायरो से कही जाती है, तो कहते हैं, 'ज़बान दराज़ी करते हो'।

—लखनऊ से प्रसारित

Printed at Coronation Pr nting Works, D lhi and published by the Director, Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting Government of India, Old Secretariate, Delhi